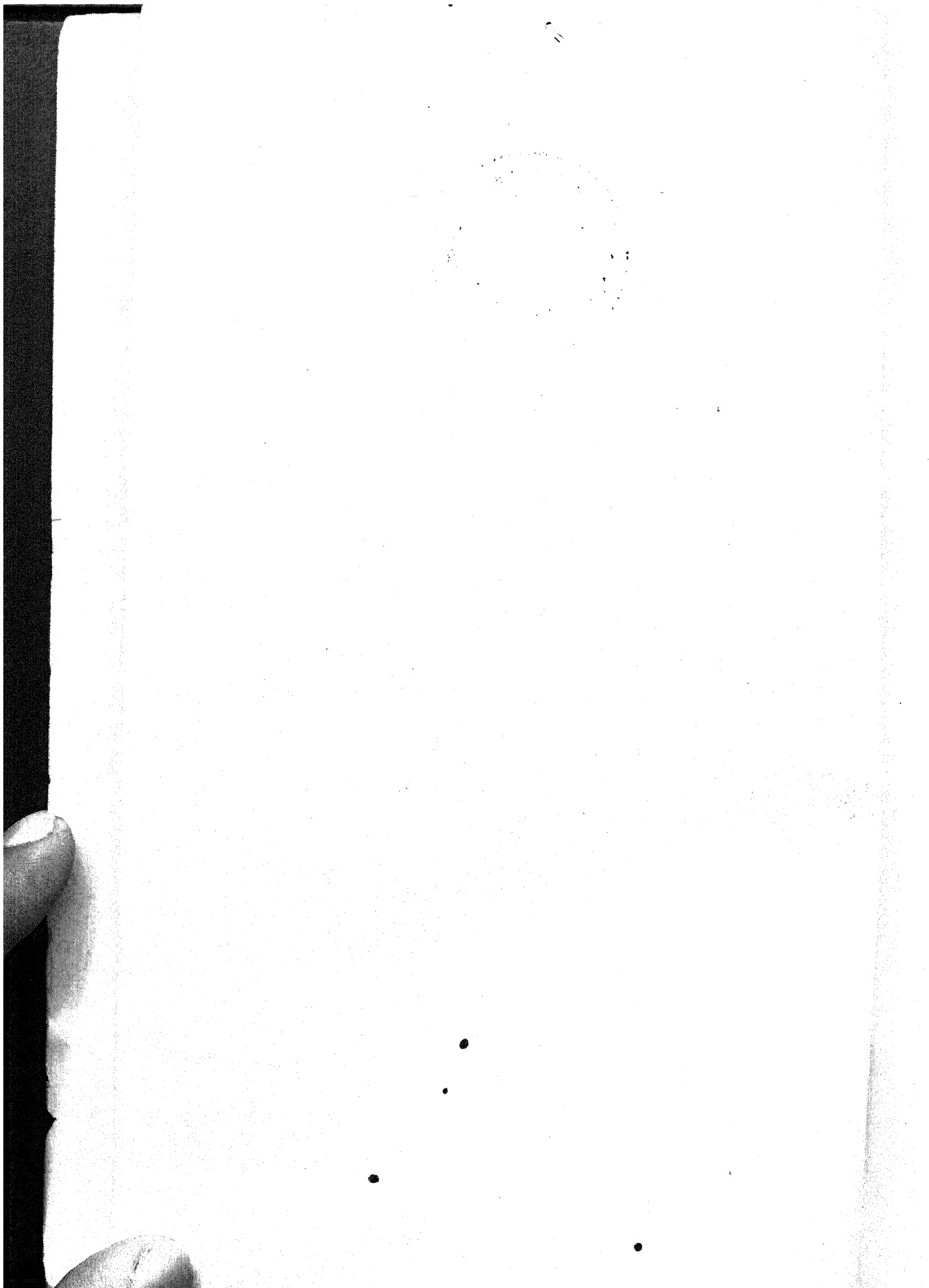
काव्यांग-विवेचन

डॉ. भगीरथ मिश्र
एवं
डॉ. बलभद्र तिवारी

काव्यांग-विवेचन



काव्यांग-विवेचन



डॉ० भगीरथ मिश्र
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
सागर विश्वविद्यालय, सागर म० प्र०

डॉ० बलभद्र तिवारी
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
सागर विश्वविद्यालय, सागर म० प्र०

स्मृति प्रकाशन
१२४ शहरारावाग, इलाहाबाद

काव्यांग-विवेचन



डॉ० भगीरथ मिश्र
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
सागर विश्वविद्यालय, सागर म० प्र०

डॉ० बलभद्र तिवारी
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
सागर विश्वविद्यालय, सागर म० प्र०

स्मृति प्रकाशन
१२४ शहरारागबाग, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण १९७६

प्रकाशक

स्मृति प्रकाशन

१२४ शहराराबाग, इलाहाबाद

मूल्य : पुस्तकालय संस्करण ११=००

विद्यार्थी संस्करण ७=००

मुद्रक

एकेडमी प्रेस

दारागंज, इलाहाबाद

भूमिका

काव्य अथवा साहित्य के समुचित अध्ययन के लिए काव्य के विभिन्न अंगों का विवेचन अपेक्षित होता है। इन अंगों के सम्यक् ज्ञान के द्वारा काव्य की सूक्ष्मताओं को समझाया जा सकता है और उसकी वास्तविक आलोचना सम्भव हो सकती है। भारतीय साहित्य की अध्ययन परम्परा में काव्यांग का विवेचन एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है। न केवल काव्य के अध्येता और विद्यार्थी वरन काव्य के सर्जक-कवियों के लिए भी काव्य के अंगों का समुचित ज्ञान आवश्यक माना गया है। इस सन्दर्भ में उक्ति है—'कुण्ठत्व मायातिगुण: कविनाम् साहित्य विद्या श्रम वर्जितेषु' अर्थात् जो साहित्य विद्या अथवा साहित्य के अंगों के ज्ञान को प्राप्त करने का परिश्रम नहीं करते उनकी कवित्व शक्ति मन्द हो जाती है। यह विचार आज के सन्दर्भ में कुछ अटपटा हो सकता है। बहुत से लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि 'काव्यांग विवेचन' अर्थात् प्राचीन काव्य सिद्धान्तों के अध्ययन और अनुशीलन से तो कवि की प्रतिभा परम्परावादी हो जाती है और नवीन सर्जनाओं और उद्-भावनाओं का उन्मेष कुण्ठित हो सकता है अत: जो नवीन रचनाओं के द्वारा अपनी मौलिकता को प्रर्दाशत करना चाहते हैं उनको काव्यशास्त्र या काव्यांग के ज्ञान से कोई लाभ नहीं होता। यह बात कुछ सीमा तक सत्यता रखती है और वह इस रूप में कि काव्यशास्त्र को आधार बनाकर जो रचना करता है उसमें एक लीक या परिपाटी की विशेषता आ जाना स्वाभाविक है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम अपनी व्यापक रूप से और अपने विषय की विशिष्ट रूप से जानकारी के बिना कविता की सर्जना करें। जिस प्रकार किसी भी जीवन के क्षेत्र में सफल व्यक्ति अपने क्षेत्र का परिज्ञान रखता है और उसकी सफलता का बहुत कुछ कारण उसका व्यापक ज्ञान होता है, उसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में कार्य करने वाला व्यक्ति चाहे वह सर्जक हो अथवा आलोचक, इस क्षेत्र का पूरा ज्ञान आवश्यक है। उसकी अधूरी या अपूर्ण जानकारी होने से वह उतनी प्रौढ़ रचना नहीं दे सकता जितनी अपेक्षित हो सकती है।

इस जानकारी का सम्पादन काव्य के विभिन्न अंगों के ज्ञान द्वारा हो सकता है। इन अंगों का अपूर्ण ज्ञान रचना की प्रौढ़ता और स्थायित्व के मार्ग में बाधक सिद्ध होता है। उत्कृष्ट और युगान्तर व्यापी काव्य रचना के प्रसंग में तो काव्यांगों

का ज्ञान अनिवार्य होता है। काव्यांग का सम्यक् ज्ञान होने पर किसी की रचना अथवा अपनी स्वयं की रचना की विशेषताओं का परीक्षण, उनका गुण-दोष-विवेचन भलीभाँति हो सकता है। इस दृष्टि से काव्य के अध्येताओं और विशेष रूप से विद्यार्थी समाज के लिए काव्य के अंगों का ज्ञान प्रारम्भिक आवश्यकता है। किसी भी रचना या कृति के ठीक ठीक समीक्षण हेतु यह आवश्यक है कि उसे विभिन्न कसौटियों पर निरखा और परखा जाये। यह कार्य जितना ही व्यवस्थित होगा उतना ही उसका अनुशीलन अधिक शास्त्रीय या वैज्ञानिक हो सकता है।

उपर्युक्त बात को ध्यान में रखते हुए काव्यांग विवेचन की परम्परा पड़ी है। इसके अन्तर्गत हम भारतीय दृष्टि से स्वीकृत काव्य के दस अंग अर्थात् अलंकार, रस, शब्दशक्ति, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, औचित्य, गुण दोष और छन्द का अनुशीलन आवश्यक मानते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में इन सभी अंगों का सांगोपांग विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य दृष्टि से भी कुछ बातों का जानना आवश्यक होता है इनमें सबसे महत्वपूर्ण हैं—विभिन्नवाद। इस ग्रन्थ में इन वादों पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। वादों के अन्तर्गत-बिम्बवाद, अभिव्यंजनावाद आदि तो काव्य के अंग रूप ही हैं। इसके साथ ही विचारों और आन्दोलनों के रूप में आये वादों यथा---छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, अस्तित्ववाद आदि को भी इसमें स्थान दिया गया है। सामान्यतया काव्य के अध्ययन की एक सम्यक् भूमिका बनाने के लिए जिन तत्वों का ज्ञान अपेक्षित होता है उन सबको इस पुस्तक में देने का प्रयत्न किया गया है।

पुस्तक विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है इसलिए विचारों और सामग्री की मोलिकता का दावा नहीं किया जा सकता! इसमें महत्वपूर्ण प्रसिद्ध ग्रन्थों से प्रामाणिक सामग्री को आधार बनाने का प्रयत्न है जिससे कि विद्यार्थी बाद विवाद के भ्रमावर्त में न पड़े और विषय का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त कर सकें। लेखक उन सभी विद्वानों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं जिनके विचारों और ग्रन्थों से हमको सहायता प्राप्त हुई हैं। यदि इस पुस्तक से विद्यार्थियों को विषय का समुचित ज्ञान हो सका तो लेखक अपना प्रयत्न सफल मानेंगे।

—भगीरथ मिश्र

का ज्ञान अनिवार्य होता है। काव्यांग का सम्यक् ज्ञान होने पर किसी की रचना अथवा अपनी स्वयं की रचना की विशेषताओं का परीक्षण, उनका गुण-दोष-विवेचन भलीभाँति हो सकता है। इस दृष्टि से काव्य के अध्येताओं और विशेष रूप से विद्यार्थी समाज के लिए काव्य के अंगों का ज्ञान प्रारम्भिक आवश्यकता है। किसी भी रचना या कृति के ठीक ठीक समीक्षण हेतु यह आवश्यक है कि उसे विभिन्न कसौटियों पर निरखा और परखा जाये। यह कार्य जितना ही व्यवस्थित होगा उतना ही उसका अनुशीलन अधिक शास्त्रीय या वैज्ञानिक हो सकता हैं।

उपर्युक्त बात को ध्यान में रखते हुए काव्यांग विवेचन की परम्परा पड़ी है। इसके अन्तर्गत हम भारतीय दृष्टि से स्वीकृत काव्य के दस अंग अर्थात् अलंकार, रस, शब्दशक्ति, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, औचित्य, गुण दोष और छन्द का अनुशीलन आवश्यक मानते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में इन सभी अंगों का सांगोपांग विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य दृष्टि से भी कुछ बातों का जानना आवश्यक होता है इनमें सबसे महत्वपूर्ण हैं—विभिन्नवाद। इस ग्रन्थ में इन वादों पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। वादों के अन्तर्गत-बिम्बवाद, अभिव्यंजनावाद आदि तो काव्य के अंग रूप ही हैं। इसके साथ ही विचारों और आन्दोलनों के रूप में आये वादों यथा—-छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, अस्तित्ववाद आदि को भी इसमें स्थान दिया गया है। सामान्यतया काव्य के अध्ययन की एक सम्यक् भूमिका बनाने के लिए जिन तत्वों का ज्ञान अपेक्षित होता है उन सबको इस पुस्तक में देने का प्रयत्न किया गया है।

पुस्तक विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है इसलिए विचारों और सामग्री की मोलिकता का दावा नहीं किया जा सकता! इसमें महत्वपूर्ण प्रसिद्ध ग्रन्थों से प्रामाणिक सामग्री को आधार बनाने का प्रयत्न है जिससे कि विद्यार्थी बाद विवाद के भ्रमावर्त में न पड़े और विषय का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त कर सकें। लेखक उन सभी विद्वानों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं जिनके विचारों और ग्रन्थों से हमको सहायता प्राप्त हुई हैं। यदि इस पुस्तक से विद्यार्थियों को विषय का समुचित ज्ञान हो सका तो लेखक अपना प्रयत्न सफल मानेंगे।

—भगीरथ मिश्र

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

काव्य का स्वरूप और परिभाषायें

आदि काल से काव्य का स्वरूप समझने और उसके अंगों पर विमर्श करने के प्रयत्न होते आ रहे हैं। कुछ लोगों ने काव्य को जीवन की व्यापकता से सम्बद्ध माना है और जीवन में उसको अनिवार्य सिद्ध किया है। अन्य विद्वानों का मत है कि असभ्यावस्था में काव्य की महत्ता अधिक थी परन्तु जैसे-जैसे सभ्यता का विकास हुआ है काव्य का ह्रास होता गया है। काव्य निस्सन्देह जीवन के समान व्यापक है और बाह्य जगत् के साथ-साथ आन्तरिक जगत् का भी चित्रण करने वाला है। यही कारण है कि काव्य हमें सदैव नयी-नयी प्रेरणायें देता रहता है। यथार्थ जीवन की भूमि पर वह हमें काल्पनिक, किन्तु सम्भव आदर्श जीवन की प्रेरणा देता है। इसी अर्थ में काव्य और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है।

काव्य के लक्षणों को लेकर विद्वानों में मतभेद रहा है। प्रत्येक विद्वान अपनी दृष्टि से काव्य के लक्षण प्रस्तुत करता है; परन्तु फिर भी कुछ शेष रह जाता है। इस प्रकार प्रत्येक विद्वान द्वारा दिये गये लक्षण काव्य के उन पक्षों को हमारे सामने लाते हैं जिनका पहले उद्घाटन नहीं हुआ था। प्राचीनकाल से ही काव्य लक्षणों पर विचार किया जाता रहा है।

संस्कृत साहित्य में काव्यशास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ नाट्यशास्त्र माना गया है। नाटक को काव्य का एक रूप मानकर भरत मुनि ने अपने ग्रन्थ में काव्य के कुछ अंगों का वर्णन किया है। ये अंग रस, गुण, अलंकार, भाव हैं। ध्यान देने की बात यह है कि ये सभी अंग नाटक के अन्तर्गत प्राप्त काव्य के हैं। काव्य की सबसे प्राचीन परिभाषा अग्नि पुराण में मिलती है। इसमें काव्य के अंगों का भी उल्लेख हो गया है :—

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोष वर्जितम्॥

अर्थात् संक्षेप में इष्ट अर्थ को प्रकट करने वाली पदावली से युक्त ऐसा वाक्य काव्य है जिसमें अलंकार प्रकट हों और जो दोष रहित और गुणयुक्त हों। कुल मिलाकर काव्य की बाह्य रूप रेखा का संकेत यहाँ मिल जाता है। अग्नि पुराणकार के उपरान्त भामह ने "शब्दार्थों सहितौ काव्यम" कह कर शब्द और अर्थ के संयोग को काव्य की संज्ञा दी। कतिपय आचार्यों ने अलंकार को काव्य में आवश्यक माना

प्रथम अध्याय

काव्य का स्वरूप और परिभाषायें

आदि काल से काव्य का स्वरूप समझने और उसके अंगों पर विमर्श करने के प्रयत्न होते आ रहे हैं। कुछ लोगों ने काव्य को जीवन की व्यापकता से सम्बद्ध माना है और जीवन में उसको अनिवार्य सिद्ध किया है। अन्य विद्वानों का मत है कि असभ्यावस्था में काव्य की महत्ता अधिक थी परन्तु जैसे-जैसे सभ्यता का विकास हुआ है काव्य का ह्रास होता गया है। काव्य निस्सन्देह जीवन के समान व्यापक है और बाह्य जगत् के साथ-साथ आन्तरिक जगत् का भी चित्रण करने वाला है। यही कारण है कि काव्य हमें सदैव नयी-नयी प्रेरणायें देता रहता है। यथार्थ जीवन की भूमि पर वह हमें काल्पनिक, किन्तु सम्भव आदर्श जीवन की प्रेरणा देता है। इसी अर्थ में काव्य और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है।

काव्य के लक्षणों को लेकर विद्वानों में मतभेद रहा है। प्रत्येक विद्वान अपनी दृष्टि से काव्य के लक्षण प्रस्तुत करता है; परन्तु फिर भी कुछ शेष रह जाता है। इस प्रकार प्रत्येक विद्वान द्वारा दिये गये लक्षण काव्य के उन पक्षों को हमारे सामने लाते हैं जिनका पहले उद्‌घाटन नहीं हुआ था। प्राचीनकाल से ही काव्य लक्षणों पर विचार किया जाता रहा है।

संस्कृत साहित्य में काव्यशास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ नाट्यशास्त्र माना गया है। नाटक को काव्य का एक रूप मानकर भरत मुनि ने अपने ग्रन्थ में काव्य के कुछ अंगों का वर्णन किया है। ये अंग रस, गुण, अलंकार, भाव हैं। ध्यान देने की बात यह है कि ये सभी अंग नाटक के अन्तर्गत प्राप्त काव्य के हैं। काव्य की सबसे प्राचीन परिभाषा अग्नि पुराण में मिलती है। इसमें काव्य के अंगों का भी उल्लेख हो गया है :—

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोष वर्जितम्॥

अर्थात् संक्षेप में इष्ट अर्थ को प्रकट करने वाली पदावली से युक्त ऐसा वाक्य काव्य है जिसमें अलंकार प्रकट हों और जो दोष रहित और गुणयुक्त हों। कुल मिलाकर काव्य की बाह्य रूप रेखा का संकेत यहाँ मिल जाता है। अग्नि पुराणकार के उपरान्त भामह ने "शब्दार्थो सहितौ काव्यम" कह कर शब्द और अर्थ के संयोग को काव्य की संज्ञा दी। कतिपय आचार्यों ने अलंकार को काव्य में आवश्यक माना

प्रथम अध्याय

काव्य का स्वरूप और परिभाषायें

आदि काल से काव्य का स्वरूप समझने और उसके अंगों पर विमर्श करने के प्रयत्न होते आ रहे हैं। कुछ लोगों ने काव्य को जीवन की व्यापकता से सम्बद्ध माना है और जीवन में उसको अनिवार्य सिद्ध किया है। अन्य विद्वानों का मत है कि असभ्यावस्था में काव्य की महत्ता अधिक थी परन्तु जैसे-जैसे सभ्यता का विकास हुआ है काव्य का ह्रास होता गया है। काव्य निस्सन्देह जीवन के समान व्यापक है और बाह्य जगत् के साथ-साथ आन्तरिक जगत् का भी चित्रण करने वाला है। यही कारण है कि काव्य हमें सदैव नयी-नयी प्रेरणायें देता रहता है। यथार्थ जीवन की भूमि पर वह हमें काल्पनिक, किन्तु सम्भव आदर्श जीवन की प्रेरणा देता है। इसी अर्थ में काव्य और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है।

काव्य के लक्षणों को लेकर विद्वानों में मतभेद रहा है। प्रत्येक विद्वान अपनी दृष्टि से काव्य के लक्षण प्रस्तुत करता है; परन्तु फिर भी कुछ शेष रह जाता है। इस प्रकार प्रत्येक विद्वान द्वारा दिये गये लक्षण काव्य के उन पक्षों को हमारे सामने लाते हैं जिनका पहले उद्घाटन नहीं हुआ था। प्राचीनकाल से ही काव्य लक्षणों पर विचार किया जाता रहा है।

संस्कृत साहित्य में काव्यशास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ नाट्यशास्त्र माना गया है। नाटक को काव्य का एक रूप मानकर भरत मुनि ने अपने ग्रन्थ में काव्य के कुछ अंगों का वर्णन किया है। ये अंग रस, गुण, अलंकार, भाव हैं। ध्यान देने की बात यह है कि ये सभी अंग नाटक के अन्तर्गत प्राप्त काव्य के हैं। काव्य की सबसे प्राचीन परिभाषा अग्नि पुराण में मिलती है। इसमें काव्य के अंगों का भी उल्लेख हो गया है :—

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोष वर्जितम्॥

अर्थात् संक्षेप में इष्ट अर्थ को प्रकट करने वाली पदावली से युक्त ऐसा वाक्य काव्य है जिसमें अलंकार प्रकट हों और जो दोष रहित और गुणयुक्त हों। कुल मिलाकर काव्य की बाह्य रूप रेखा का संकेत यहाँ मिल जाता है। अग्नि पुराणकार के उपरान्त भामह ने "शब्दार्थों सहितौ काव्यम" कह कर शब्द और अर्थ के संयोग को काव्य की संज्ञा दी। कतिपय आचार्यों ने अलंकार को काव्य में आवश्यक माना

और तदनुसार अनेक परिभाषायें प्रस्तुत कीं। दण्डी और मम्मट की परिभाषायें इसी में आती हैं। अलंकार के उपरान्त गुण को आधार बनाकर चलने वाले वामन 'रीतिरात्मा काव्यस्य' के माध्यम से रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं। रीति शैली ही है वह काव्य का बाह्य रूप है, अतः काव्य की आत्मा को खोजने के प्रयास में 'काव्यस्यात्मा-ध्वनिः' कह कर आनन्द वर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा सिद्ध किया। आनन्दवर्द्धन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ध्वन्यालोक में शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना है और इसलिए आत्मा के रूप में ध्वनि की प्रतिष्ठा की। आचार्य कुन्तक इसे स्वीकार न कर सके और उन्होंने 'वक्रोत्ति: काव्य जीवितम्' के माध्यम से काव्य की आत्मा वक्रोक्ति मानी। इसी परंपरा में विविधता और नवीनता के प्रयास हुए। क्षेमेन्द्र ने औचित्य को, महिम भट्ट ने अनुमिति को और विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के द्वारा रस को काव्य की आत्मा के रूप में प्रस्तुत किया। ये सभी आचार्य काव्य की आत्मा बता रहे थे, उसके लक्षणों का विचार नहीं कर रहे थे, पर उनके इस प्रयास में काव्य के समस्त अंगों का वर्णन अवश्य हो गया है। इन्हीं काव्यांगों के समर्थन में परवर्ती आचार्यों ने व्यापक रूप से विचार किया और नये रूप में काव्य की परिभाषा देने का कार्य किया। इस प्रक्रिया में संस्कृत के दो विद्वानों की काव्य सम्बन्धी मान्यतायें विशेष महत्व की हैं—

१. साहित्य दर्पणकार महापात्र विश्वनाथ, (२) पण्डितराज जगन्नाथ।

साहित्य दर्पणकार महापात्र विश्वनाथ ने काव्य का लक्षण देते हुए लिखा है कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्', रसयुक्त वाक्य ही काव्य हैं। इस परिभाषा के अनुसार सरस, पूर्ण और माधुर्यमय रचना ही काव्य की कोटि में आ सकती है। इसी को अधिक संवर्द्धित रूप में पण्डितराज जगन्नाथ ने अपनी काव्य सम्बन्धी परिभाषा "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" में प्रस्तुत किया है। रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य है। इस परिभाषा में 'शब्द' की व्याप्ति पर विचार करने पर ही उसके दोष से बचा जा सकता है। इसीलिए काव्य की परिभाषा में परिष्कार करना आवश्यक प्रतीत होता है। हम काव्य की परिभाषा उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर, इस प्रकार करें तो अधिक संगत होगा :—

"शब्द, अर्थ अथवा दोनों की रमणीयता से युक्त वाक्य रचना को काव्य कहते हैं।"[1]

अब काव्य के संदर्भ में अंग्रेजी काव्य-लक्षणों को देखना भी आवश्यक है। अंग्रेजी साहित्य में कवि की कला की परिभाषा कवि के माध्यम से देने का उपक्रम हुआ। **ड्राइडन** काव्य को सुस्पष्ट संगीत मानता है। निस्संदेह संगीत का काव्य में विशेष स्थान है पर वह स्वयं काव्य नहीं हो सकता है। **कॉलरिज** ने काव्य की परिभाषा देते हुए लिखा था कि काव्य में सर्वोत्तम शब्द अपने सर्वोत्तम क्रम में होते

१. डॉ० भगीरथ मिश्र—काव्यशास्त्र, पृ० ९।

हैं। यह परिभाषा भी अस्पष्ट है। वर्ड्सवर्थ ने काव्य की एक व्यवस्थित परिभाषा दी है "कविता सबल अनुभूतियों का सहज उद्रेक है, जिसका स्रोत शान्ति के समय में स्मृत मनोवेगों से फूटता है।"[१] अनेक अंग्रेजी कवियों ने अपने-अपने ढंग से काव्य की परिभाषायें प्रस्तुत की हैं परन्तु इनमें मैथ्यू आर्नाल्ड और डाक्टर जानसन की मानी जा सकती हैं। ये परिभाषायें काव्य की व्यापकता की ओर संकेत करती हैं।

मैथ्यू आर्नाल्ड ने 'कविता को अपने मूलरूप में जीवन की आलोचना' कहकर काव्यादर्श की ओर संकेत किया है। डाक्टर जानसन उसे ऐसी कला के रूप में मानते हैं जो कल्पना की सहायता से युक्ति के द्वारा सत्य को आनन्द से समन्वित करती है। यहाँ स्पष्ट है कि काव्य के कलात्मक पक्ष पर विशेष बल दिया गया है। यदि उपर्युक्त परिभाषा को सार्थक बनाना है तो कहा जा सकता है कि "काव्य, कल्पना और अनुभूति से गृहीत सत्य की रमणीय शब्दों में अभिव्यक्ति है।"[२] अभिव्यक्ति की कला काव्य है, यह कहने की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह काव्य की कला है, उसका कलात्मक पक्षमात्र है, पूरा काव्य नहीं। काव्य समग्र अभिव्यक्ति हैं।

संस्कृत और अंग्रेजी के विद्वानों की काव्य सम्बन्धी परिभाषाओं पर विचार करने के बाद हिन्दी के मूर्धन्य विद्वानों की कतिपय परिभाषाओं पर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है। यहाँ हमने कुछ प्रमुख कवि-विद्वानों को ही प्रस्तुत किया है। आचार्य कवियों में केशव का नाम काव्य के संदर्भ में इसलिये लिया जाता है क्योंकि उन्होंने लक्षण ग्रन्थों का निर्माण किया है। काव्य की शोभा अलंकार से मानकर उन्होंने काव्य के स्वरूप पर अप्रत्यक्ष रूप में विचार किया है :—

यद्यपि जाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिना न सोहई, कविता बनिता मित्त॥

अर्थात् केशवदास ने रस, छन्द और शब्द सौन्दर्य के साथ अलंकार की उपस्थिति अपरिहार्य बतायी हैं। केशव अलंकारवादी कवि थे इसलिये अलंकार के महत्व को स्थापित करने में उनकी विशेष रुचि थी। अलंकार को काव्य की आत्मा संस्कृत के अनेक विद्वानों ने नहीं माना था और इसीलिये 'रस' की विशेष चर्चा हुई। हिन्दी के श्रीपति ने अपनी काव्य सम्बन्धी परिभाषा से रस का समर्थन किया। उनकी उक्ति है :—

यदपि दोष बिनु गुन सहित, अलंकार सों लीन।
कविता बनिता छबि नहीं, रस बिन तदपि प्रवीन॥

दोनों कवियों की परिभाषाओं पर ध्यान दिया जाये तो केशव की अलंकार प्रियता का आचार्य श्रीपति ने रस पर जोर देकर विरोध प्रकट किया है।

---

१. Poetry is the Spontaneous overflow of powerful feelings, it takes its origin from emotions recollected in tranquillity—Wordsworth.

२. काव्यशास्त्र, पृ० १२।

रस को काव्य की आत्मा मानने वाले कवियों में आचार्य चिन्तामणि कुलपति-मिश्र, महाकवि देव के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। महाकवि देव की परिभाषा अनेक दृष्टियों से पूर्ण है। यथा—

सब्द जीव तिहि अरथ मन, रसमत सुजस शरीर।
चलत वहै जुग छन्द गति, अलंकार गम्भीर॥

(काव्य रसायन)

यहाँ स्पष्ट रूप में रस को शरीर माना गया है पर इससे काव्य के स्वरूप को समझने में सहायता नहीं मिलती है। रीति काल के अधिकांश कवियों ने काव्य की परिभाषा और स्वरूप समझाने के प्रयत्न किये हैं पर वे मतवाद के घेरे से परे नहीं हो सके हैं। कवि ठाकुर ने कविता की मनोरंजन करने वाली विशेषता को प्रस्तुत किया और उसे चतुरों के चित्त का हरण करने वाली बताया, परन्तु ये सब परिभाषाएँ सतही ही सिद्ध होती हैं।

आधुनिक विद्वानों ने काव्य की परिभाषा देते समय उसे सांगोपांग रूप में विचारने का कार्य किया है। इन विद्वानों ने अंग्रेजी और संस्कृत काव्यशास्त्र के बीच का मार्ग अपनाया है। द्विवेदीयुगीन समालोचना में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का विशेष नेतृत्व झलकता है। 'रसज्ञरंजन' नामक पुस्तक में द्विवेदी जी ने काव्य के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए और कविता के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला। उनके अनुसार कविता प्रभावशाली रचना है जो श्रोता के मन पर आनन्ददायी प्रभाव डालती है। "अन्तःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कविता को जीवन और जगत् की अभिव्यक्ति माना है। लोकमंगल का तत्व काव्य की अनिवार्य विशेषता सिद्ध करते हुए शुक्ल जी ने काव्य में विविधता और नवीनता के तत्व पर विशेष बल दिया है।

छायावादी कवियों में प्रसाद जी की काव्य सम्बन्धी धारणा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वे काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति मानते हैं। अपनी पुस्तक 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध में प्रसाद जी ने अपनी काव्य सम्बन्धी परिभाषा को समझाने के लिए एक दार्शनिक व्याख्या दी है। उन्होंने अन्त में स्पष्ट कहा है कि "सत्य की अपने पूर्ण सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्ति ही काव्य है।" अन्य आधुनिक विद्वानों में महाकवि निराला, सुमित्रानन्द पंत, महादेवी वर्मा, आचार्य रामदहिन मिश्र, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी आदि के नाम' भी लिए जा सकते हैं। काव्य की आधुनिकतम परिभाषाओं में वैविध्य है। ये परिभाषाएँ काव्य की आत्मा आदि पर विचार न करके काव्य के वर्ण्य पर अधिक केन्द्रित हैं इसलिए इनमें बिम्बयोजना का विशेष आग्रह है। यही कारण है कि आधुनिकतम काव्य को प्राचीन माप दण्डों के आधार पर नहीं परखा जा सकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आधुनिक काल तक काव्य की जो अनेक परिभाषायें दी गई हैं, उनसे काव्य के

स्वरूप को स्पष्ट किया जा सकता है और काव्यांगों के निर्णय में सहायता ली जा सकती है।

काव्य के लक्षणों पर ही उसके अंगों का विवेचन आधारित है। जिन लक्षणों को हमने अधिक मान्य ठहराया है वे निम्नलिखित हैं।[1]

१. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्

२. रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द: काव्यम्

३. काव्य कल्पना और अनुभूति से गृहीत सत्य की रमणीय शब्दों में अभिव्यक्ति है।

४. शब्द अर्थ अथवा दोनों की रमणीयता से युक्त वाक्य-रचना काव्य है।

इन विभिन्न परिभाषाओं में शब्द, अर्थ, सत्य, आनन्द, रमणीयता, कल्पना, अनुभूति,कला, अभिव्यक्ति कौशल, गुण, रस, अलंकार तत्वों का विवेचन है जो काव्य के भाषा पक्ष, भावपक्ष, अभिव्यक्ति कौशल और आत्मा पक्ष पर जोर देते हैं। काव्य का अस्तित्व सत्य के कारण माना जाता है इसीलिए काव्य की आत्मा सत्य है। सत्य ही अपने स्वभाव से शिव या मंगल रूप होता है अत: काव्य का सत्य जो सुन्दर है, वह शिव भी है। इसी युक्ति से काव्य "सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के रूप में कहा जाता है।"[2]

काव्य के तत्व

विंचेस्टर ने काव्य के चार तत्व माने हैं, "भावतत्व, बुद्धितत्व, कल्पना तत्व और काव्यांग (भाषा, शैली, गुण, अलंकार आदि) इन्हीं के आधार पर पं० राम दहिन मिश्र ने काव्य साहित्य को ऐसी वस्तु माना है "जिसमें मनोभावात्मक, कलात्मक, बुद्धात्मक और रचनात्मक तत्वों का समावेश हो।" इन्हीं का एकीकृत रूप यह हो सकता है कि काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष प्रधान होते हैं। इन दोनों पक्षों को उद्घाटित करने वाले शब्द, अर्थ, भाव, कल्पना और बुद्धि हैं। इन्हें संक्षेप में आगे विवेचित किया जा रहा है।

शब्द—अर्थ प्रतीति और शब्द समूह से बनी गति से प्रेरित छन्द जागृति के लिये काव्य में शब्द अनिवार्य है। विभिन्न अलंकारों, वृत्तियों, गति, प्रवाह संगीतमयता आदि के लिए शब्द उतना ही आवश्यक है जितना कि संगीत के लिए स्वर। शब्द ही छन्द को प्रत्यक्ष करके कवि के अन्त:करण को व्यक्त करता है इसलिए शब्द के भेद श्रुति, अर्थ, वर्णन, गति आदि के अनुसार किये जाते हैं। कवि शब्द के व्यक्तित्व और चरित का पारखी होने के कारण अपनी प्रतिभा से ऐसे सटीक शब्दों को छन्द में बिठाता है कि प्रयुक्त शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द नहीं रखा जा सकता। इस प्रकार शब्द तत्व की अनिवार्यता यहाँ स्पष्ट है।

---

१. काव्यशास्त्र, पृ० १७।

२. वही, पृ० १८।

अर्थ—शब्द चाहे चमत्कारपूर्ण हो अथवा उससे रहित, दोनों स्थितियों में अर्थ की अनिवार्यता प्रकट है। शब्द की तीन शक्तियाँ हैं, अभिधा, लक्षणा और व्यंजना इन्हीं से तीन प्रकार के अर्थ बनते हैं—अभिधेयार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ज्ञान व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवाक्य, व्यवहार, प्रसिद्ध पद का सान्निध्य, वाक्य शेष और विवृति आदि अनेक कारणों से होता है।[1] काव्य का पूर्ण सौन्दर्य उस समय प्रत्यक्ष होता है जब शब्द, अर्थ, बुद्धि, भाव, कल्पना आदि सभी का चमत्कार एक साथ प्रस्तुत हो।

भाव—भाव काव्य का सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व है। यह कवि की कल्पना को प्रेरित करता है, छन्द के स्वरूप का निर्माण करता है। इसीलिए भाव मनोवेगों के संस्कार रूप में प्रतिष्ठित स्मृत और पुनः अनुभूत स्वरूप हैं। भावों को संक्रामक माना गया है, उनकी अभिव्यक्ति करने से दूसरों के हृदय में भी वैसी ही अनुभूति होती है। भाव का शब्द, अर्थ और कल्पना से घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह पाठक और श्रोता का संस्कार करता है। भाव दो प्रकार के होते हैं—स्थायी और अस्थायी। स्थायी भाव ही रसावस्था तक पहुँचते हैं। अस्थायी भाव स्थायी भावों के सहकारी कारण होते हैं। ये रस के परिणत होने तक स्थिर नहीं रहते हैं परन्तु उभरते पर्यवसित होते हैं। अस्थायी भाव को अस्थिर चित्त वृत्तियाँ भी कहा जाता है। इनका क्षणिक उद्रेक मुख्य रस में सहायक होता है।

कल्पना—सौन्दर्य सृष्टि का कार्य कल्पना के द्वारा होता है। संसार में अनेक वस्तुएँ हैं परन्तु उनको हृदयंगम करना और प्रसंगानुकूल बिम्बयोजना बनाने के लिए कल्पना की अपेक्षा होती है। कल्पना के माध्यम से ही कवि या व्यक्ति किसी व्यक्ति या वस्तु की सूक्ष्म विशेषताओं और गुणों को, चेष्टा, क्रिया-कलाप और अभिव्यक्ति के प्रयोजन को तथा भाव की उलझन, तीव्रता और प्रभाव को प्रकट करने में सक्षम होता है। कवि की सामर्थ्य कल्पना की सामर्थ्य है। विभिन्न अलंकारों का रूपायन भी इसी के द्वारा होता है। यही अतीत और भविष्य को प्रत्यक्ष बनाने का कार्य करती है। इस प्रकार कल्पना काव्य की विधायिका, संस्कार कर्त्री और सौन्दर्य कर्त्री मानी जाती है।

बुद्धि—बिना बुद्धि के शब्द, अर्थ, भाव, कल्पना आदि का औचित्यपूर्ण संयोजन सम्भव नहीं है। औचित्य न होने पर प्रभावशीलता में कमी आती है। बुद्धि का स्वरूप प्रमुख रूप से कथा संगठन, चरित्र-चित्रण और भाव निरूपण के क्षेत्र में दृष्टव्य होता है। कथा के समुचित विकास के लिए चरित्र का उत्कर्ष और विभिन्न वार्तालापों में भावों की समुचित योजना आवश्यक होती है इसमें बुद्धि का योग ही अपेक्षित है। केशवदास और तुलसीदास के चित्रणों और चरित्र-चित्रांकनों में बुद्धि का विलास ही देखने को मिलता है। भावों का जैसा उचित संयोजन तुलसी में है वह केशव में

१. पं० रामदहिन मिश्र—काव्यदर्पण पृ० १८।

नहीं है। यही कारण है कि तुलसी की प्रभावशीलता सर्वत्र बनी रहती है और केशव की नहीं। इस प्रकार सभी अन्य तत्वों का औचित्यपूर्ण नियोजन बुद्धि के द्वारा ही होता है।

काव्य के भेद

काव्य के भेदोपभेदों पर विचार करते समय हमारे सामने दो महत्वपूर्ण शब्द आते हैं—वाङ्मय और साहित्य। इन दोनों शब्दों की परिभाषा विद्वानों ने अनेक प्रकार से की है परन्तु सब इस बात पर सहमत हैं कि वाङ्मय में वाणी के द्वारा प्रकाशित समस्त अनुभव और ज्ञान का समावेश होता है जबकि साहित्य में मनुष्य के अनुभव और ज्ञान का वह रूप प्रकाशित होता है जो लिपिबद्ध होता है। वाङ्मय और साहित्य इस दृष्टि से अध्ययन, मनन और समीक्षा की कसौटी पर समादृत होते हैं। वेद का प्रारम्भिक स्वरूप वाङ्मय का है। ज्ञान राशि का संचित कोश इस अर्थ में ही साहित्य होता है।

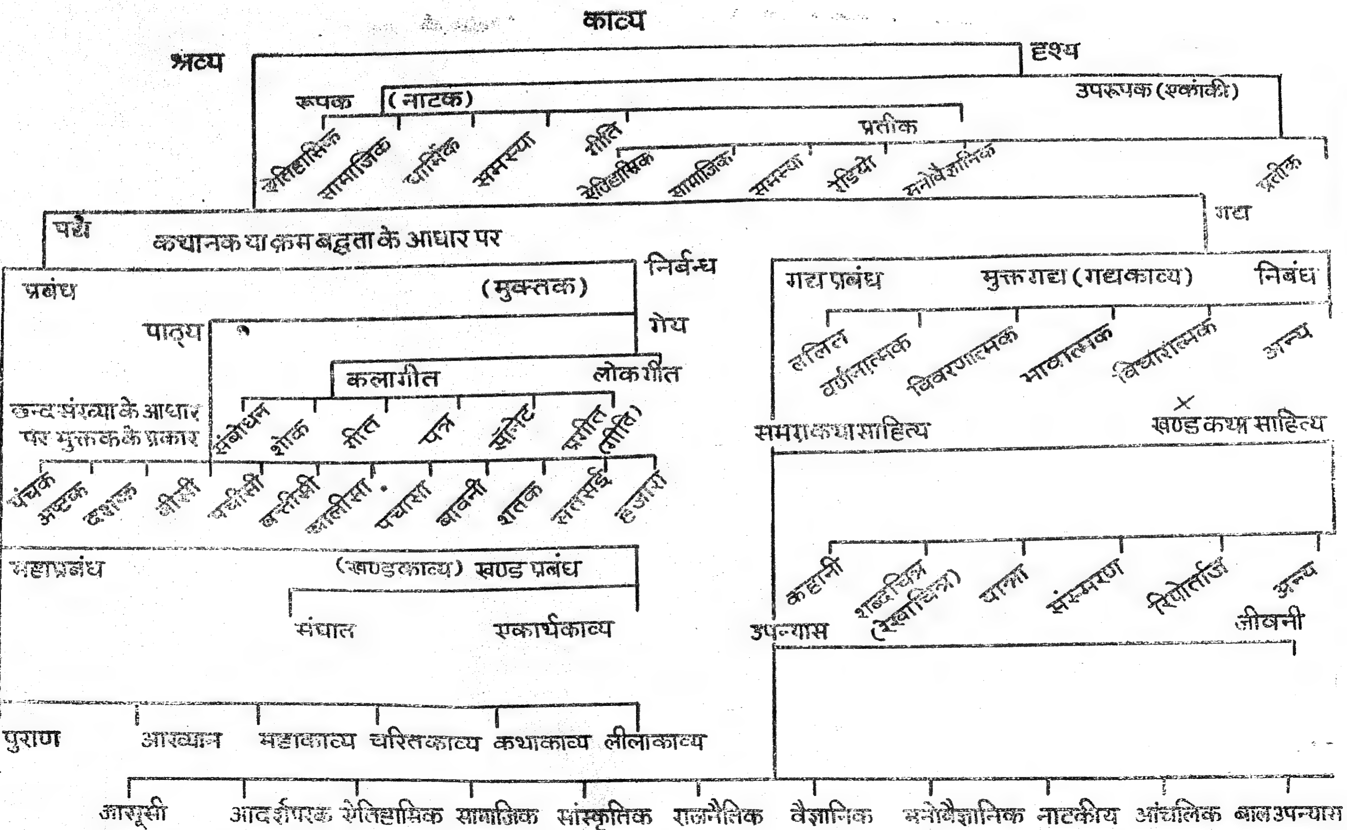
साहित्य के आचार्यों ने विज्ञान, दर्शन, शास्त्र, इतिहास और काव्य ये पाँच भेद किये हैं। काव्य में जीवन और सत्य का मनोहारी और सजीव चित्र होता है। काव्य में सृजन का तत्व विशेष होता है इसीलिए कवि सृजनात्मक प्रतिभा के माध्यम से ही परखा जाता है। काव्य प्रतिभा सम्पन्न मानव की शब्दगत सुघर सृष्टि है, इसी से यह साहित्य के समस्त रूपों की अपेक्षा अधिक रोचक है।[1]

विद्वानों ने काव्य के दो प्रधान भेद माने हैं—पद्य और गद्य। पद्य में छन्दों का नियोजन होता है और गद्य में नहीं। छन्दों की व्यवस्था के कारण पद्य को छन्दो बद्ध रचना कहा जाता है। आधुनिक युग का काव्य छन्दों के बन्धन से मुक्त है, परन्तु उसमें नियमित गति और लय दोनों होते हैं।

पद्य के पुनः दो भेद होते हैं—श्रव्य और दृश्य। दृश्य काव्य के अन्तर्गत रूपक और उपरूपक नामक भेदों में नाटक और एकांकी आज भी प्रचलित हैं, अन्य भेद संस्कृत में प्रचुरता से मिलते हैं। श्रव्य काव्य के कथानक के आधार पर दो प्रमुख भेद सामने आते हैं—महा प्रबन्ध और खण्ड प्रबन्ध। समग्र जीवन विस्तार को लेकर चलने वाले प्रबन्ध में अभिव्यक्ति शैली और विषय वस्तु की दृष्टि से छः भेद होते हैं—(१) पुराण, (२) आख्यान, (३) महाकाव्य (४) चरित काव्य, (५) कथाकाव्य, (६) लीला काव्य। ये सभी कथात्मक होते हैं। खण्ड जीवन का चित्रण करने वाले संघात और एकार्थ काव्य खण्ड काव्य के भेद माने जाते हैं। प्रबन्ध श्रव्य काव्य का एक भेद है तो दूसरा निर्बन्ध है। निर्बन्ध दो प्रकार के होते हैं—पाठ्य और गेय। पाठ्य मुक्तकों के छन्द संख्या के आधार पर अनेक भेद बने हैं। प्रमुख इस प्रकार हैं—पंचक, अष्टक, दशक, बीसी, पचीसी, बत्तीसी, चालीसा,

---

१. काव्यशास्त्र—पृ० ४१।



काव्य
श्रव्य
दृश्य
रूपक
(नाटक)
उपरूपक (एकांकी)
ऐतिहासिक
सामाजिक
धार्मिक
समस्या
गीति
प्रतीक
ऐतिहासिक
सामाजिक
समस्या
रेडियो
मनोवैज्ञानिक
प्रतीक
पद्य
कथानक या क्रम बद्धता के आधार पर
गद्य
प्रबंध
(मुक्तक)
निर्बन्ध
पाठ्य
गेय
कलागीत
लोकगीत
छन्द संख्या के आधार पर मुक्तक के प्रकार
संबोधन
शोक
गीत
पत्र
सॉनेट
प्रगीत (गीति)
पंचक
अष्टक
दशक
बीसी
पचीसी
बत्तीसी
चालीसा
पचासा
बावनी
शतक
सतसई
हजारा
महाप्रबंध
(खण्डकाव्य) खण्ड प्रबंध
संघात
एकार्थकाव्य
पुराण
आख्यान
महाकाव्य
चरितकाव्य
कथाकाव्य
लीलाकाव्य
गद्य प्रबंध
मुक्त गद्य (गद्यकाव्य)
निबंध
ललित
वर्णनात्मक
विवरणात्मक
भावात्मक
विचारात्मक
अन्य
समग्र कथा साहित्य
खण्ड कथा साहित्य
कहानी
शब्दचित्र (रेखाचित्र)
यात्रा
संस्मरण
रिपोर्ताज
अन्य
उपन्यास
जीवनी
जासूसी
आदर्शपरक
ऐतिहासिक
सामाजिक
सांस्कृतिक
राजनैतिक
वैज्ञानिक
मनोवैज्ञानिक
नाटकीय
आंचलिक
बालउपन्यास

पच्चासा, बावनी, शतक, सतसई, हजारा। गेय-निर्बन्ध भी कला गीत और लोकगीत में विभाजित होता है। कलागीत के प्रमुख भेद-गीत और प्रगीत हैं।

गद्य के तीन **प्रमुख भेद हैं—गद्य प्रबन्ध, मुक्त** (गद्य काव्य) और निबन्ध। गद्य-प्रबन्ध में (समग्र जीवन को आधार बनाने वाला) समग्र कथा साहित्य और (खण्ड जीवन को आधार बनाने वाला) खण्ड कथा साहित्य दो भेद होते हैं। समग्र कथा साहित्य में उपन्यास और जीवनी प्रमुख हैं। खण्ड कथा साहित्य में कहानी, शब्द चित्र (रेखाचित्र) रिपोर्ताज आदि आते हैं। उपन्यास आधुनिक युग में विशेष प्रसार पा रहा है। उसकी नयी-नयी अभिव्यक्ति शैलियाँ सामने आ रही हैं। उपन्यास के प्रमुख प्रकार ये हैं—नीति या आदर्श प्रधान, मनोवैज्ञानिक, आंचलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक-सांस्कृतिक, राजनैतिक, जासूसी वैज्ञानिक, बाल उपन्यास आदि। निबन्ध जिस रूप में प्रचलित है, वह आधुनिक युग का विकास है। शैलियों के आधार पर इसके वर्णनात्मक, विवरणात्मक, ललित भावात्मक और विचारात्मक रूप माने जा सकते हैं।

आधुनिक युग में दूर संचार और आवागमन की सुविधाओं के कारण एक देश दूसरे देश की संस्कृति, साहित्य, धर्म, कला, विज्ञान आदि के संपर्क में शीघ्रता से आ जाता है अतः एक देश की साहित्यिक सांस्कृतिक गतिविधियों से दूसरा देश अप्रभावित नहीं रह सकता है फलतः नयी-नयी अभिव्यक्ति की विधियाँ एक भाषा से दूसरी भाषा में, एक देश से दूसरे देश में शीघ्र ही प्रसार पा जाती हैं। यही कारण है कि रूपक और उपरूपक के अनेक भेद देखने को मिलते है। रेडियों एकांकी किसी समय अत्यधिक नवीनतम नाटक या एकांकी की विधा माना जाता था अब वह सामान्य हो गया है। प्रचलन में नुक्कड़ नाटक को प्रधानता मिल रही है। गद्य में भी अनेक नयी विधायें जन्म ले रही हैं और पद्य में भी। आगे के पृष्ठों में हम कतिपय काव्य भेदों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगे।

पद भेद (श्रव्य)

संस्कृत और हिन्दी का समस्त प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्य कथात्मक रहा है। आधुनिक युग में इसमें अन्तर आया है। श्रव्य काव्य के अन्तर्गत प्रमुख काव्य रूप महाप्रबन्ध के अन्तर्गत पुराण, आख्यान, महाकाव्य, चरितकाव्य, कथाकाव्य और लीलाकाव्य आदि आते हैं। इनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय आगे दिया रहा है।

पुराण—इसमें अनेक सर्गों और स्कन्धों में सृष्टि के आरम्भ और विकास की उन कथाओं को वर्णित किया गया है जो युग युगान्तर में व्याप्त रही हैं। इनका प्रधान विषय ईश्वर के विभिन्न अवतार, अवतारी महापुरुषों, ऋषियों महात्माओं की कथायें, ब्रह्म के स्वरूप, ऐश्वर्य का भक्ति निमज्जित प्रतिपादन, सज्जन दुर्जन विवेचन आदि हैं। पुराण में अनेक स्कन्ध होते हैं। किसी शाश्वत समस्या या प्रश्न को लेकर उसके समाधानार्थ अनेक आख्यानों का नियोजन विविध अध्यायों में किया

जाता है। अत्यन्त विशाल कलेवर वाले महापुराण की संज्ञा पाते हैं। पुराण में प्रायः सभी प्रागैतिहासिक पात्रों को ही स्थान मिला है। इनके आश्चर्यजनक एवं अलौकिक कार्यों के वर्णन के कारण कुतूहल की सर्वत्र व्याप्ति होती है।

पुराण अठारह माने गये हैं—ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, पद्मपुराण, श्रीमद्‌भागवत, नारदपुराण, मार्कण्डेय पुराण, अग्निपुराण, भविष्य पुराण, ब्रह्मवैवर्त-पुराण, लिंग पुराण, वाराह पुराण, स्कन्द पुराण, वामन पुराण, कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, गरुड़ पुराण और ब्रह्माण्ड पुराण।

आख्यान—काल्पनिक और रोचक कथानक के माध्यम से प्रेम, वीरता, नीति भक्ति, धर्म आदि के निरूपण के लिए लिखे गये विस्तृत प्रबन्ध को आख्यान कहते हैं। इसमें अनेक प्रसंगों या खण्डों का नियोजन भी होता है। आख्यान में कभी-कभी काल्पनिक पात्रों के साथ-साथ ऐतिहासिक चरित्रों और स्थानों को भी ले लिया जाता है। मुख्य रूप में आख्यान में एक प्रधान कथा तथा अनेक गौण कथायें होती हैं। आख्यान के अनेक भेद माने गये हैं परन्तु प्रमुख ये हैं—नीत्याख्यान, साहसिक-आख्यान, प्रेमाख्यान वार्ता आदि। इन्द्रावती, मृगावती, छिताईवार्ता, ढोला मारु रा दूहा इसके उत्तम उदाहरण हैं।

चरितकाव्य—इसमें चरित नायक के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक की अथवा कई जन्मों की अवान्तर कथाओं को प्रबन्धात्मक शैली में वर्णित किया जाता है। चरितकाव्य उपदेशात्मक, प्रचारात्मक या प्रशस्तिमूलक होते हैं। प्रायः सभी चरित-काव्यों में कथारम्भ के लिए वक्ता श्रोता योजना अवश्य होती है। कथानक रुढ़ियाँ इसमें भी पायी जाती हैं। चरितकाव्य का एक रूप आत्म चरितात्मक भी होता है। इस प्रकार चरितकाव्य महाकाव्यात्मक शैली को अपनाने के कारण भी गम्भीरता और काव्यगत महत् उद्देश्य शैली और प्रभावाचिति के अभाव में केवल जीवन चरित रह जाता है। इसीलिये चरित काव्य का सम्बन्ध किसी वीर या महापुरुष के जीवन से ही रहता है। हिन्दी में इस प्रकार के बहुत से काव्य-ग्रन्थ हैं, उदाहरणार्थ—वीरसिंह देव चरित, जहाँगीर जस चन्द्रिका, सुजान चरित, छत्र प्रकाश आदि। आत्मकथात्मक शैली में बनारसीदास जैन का 'अर्द्ध कथानक' विशेष महत्व का है। इस प्रकार चरित काव्य प्रबन्धात्मक होते हुए भी महाकाव्य से भिन्न होता है।

महाकाव्य—इस प्रबन्ध रूप के सम्बन्ध में प्राचीन काल से अब तक भारतीय और पाश्चात्य सभी विद्वानों ने पर्याप्त रूप में विचार किया है। महाकाव्य के पुराने और नवीन लक्षणों में भी विशेष अन्तर है। यहाँ पर हम महाकाव्य की तीन प्रमुख धारणाओं का विवेचन कर रहे हैं (१) भारतीय विद्वानों द्वारा प्राचीन लक्षण निरूपण (२) भारतीय विद्वानों द्वारा निरूपित आधुनिक महाकाव्य के लक्षण। (३) पाश्चात्य विद्वानों द्वारा मान्य महाकाव्य सम्बन्धी प्राचीन और नवीन विशेषताओं का वर्णन।

प्राचीन और नवीन लक्षण—भारतीय विद्वानों में भामह, दण्डी, अग्नि-पुराणकार, विश्वनाथ आदि ने महाकाव्य के लक्षणों की चर्चा अपने ग्रन्थों में की है। भामह इन सबमें प्राचीन हैं। भामह से साहित्य दर्पणकार तक की महाकाव्यगत विशेषताओं में परिष्कार होता गया है अतः विश्वनाथ के द्वारा प्रतिपादित लक्षणों को नीचे दिया जा रहा है :

सर्ग बन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ॥३१५
सद्वंशः क्षत्रियोवापि धीरोदात्त गुणान्वितः।
एक वंश भवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा॥
श्रृंगार वीर शांता नामेकोंऽगी रस इष्यते।
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटक संधय॥
इतिहासोद्भवं वृत्तं अन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारः तस्य वर्गास्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्॥
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तु निर्देश एव वा।
क्वचिन्निदा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्॥
एकवृत्तमयैः पद्यै रवसानेऽन्यवृत्तकैः।
नातिस्वल्पा नाति दीर्घाः सर्गा अष्टाधिकाः इह॥
नाना वृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्॥
सन्ध्या सूर्येन्दुरजनी प्रदोषध्वांतवासराः।
प्रातर्मध्याह्न मृगया शैलर्तु वन सागराः॥
सम्भोग विप्रलम्भो च मुनिः स्वर्गं पुराध्वराः।
रण प्रयाणोपयमंत्र पुत्रो दयादयः॥
वर्णनीया यथा योग्यं सांगोपांगा अमी इह।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतस्य वा॥
नामास्य सर्गोपादेय कथया सर्वनाम तु।
अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यान संज्ञकाः।
प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन सर्गा आश्वास सञ्ज्ञका।
छन्दसा स्कन्धकेनैत क्वचिद्गलितकैरपि॥
अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिन्सर्गा कुण्डवकामिधाः।
तथापभ्रंशयोग्यानिच्छदांसि विविधान्यापि॥ ३२७

उपर्युक्त पंक्तियों में महाकाव्य के सभी लक्षणों की चर्चा हो जाती है। इसके अनुसार महाकाव्य में—सर्गवद्धता, नायक का सद्वंशी होना, नायक का क्षत्रिय या देव होने के साथ-साथ धीरोदात्त होना, श्रृंगार, वीर और शान्त रसों में से एक का प्रधान रस होना, नाटक की सन्धियों का निर्वाह, इतिहास सम्मतता, चतुर्फल दायकता, मंगलाचरण, खल सज्जन वर्णन, एक वृत्त का होना, पद्य के अवसान पर अन्य वृत्त की सूचना एक-सी आकृति के सर्ग कम-से-कम आठ सर्गों का होना, भावीसर्ग की कथा

की सूचना, सर्ग के अन्त में आना, सन्ध्या; सूर्योदय प्रातः रजनी, मध्याह्न आदि का वर्णन मृगया, वन, सागर आदि प्रकृति के अंगों का चित्रण, संयोग विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन, मुनि, स्वर्ग आदि का चित्र, रण, पुत्र जन्म आदि उत्सवों का वर्णन आदि अनेक विशेषताओं को अनिवार्य माना गया है। ये समस्त विशेषतायें सात विभागों में व्यवस्थित की जा सकती हैं।

(१) कथावस्तु और उसका संगठन, (२) नायक, (३) रस, (४) छन्द, (५) (६) नाम, (७) उद्देश्य। महाकाव्य के इन प्राचीन लक्षणों में विद्वानों ने उत्तरोत्तर परिष्कार किये हैं। रुद्रट ने सातवीं शताब्दी में महाकाव्य की मान्यताओं में व्यापकता प्रस्तुत की और संस्कृत के परवर्ती महाकाव्यों को—एवं प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत के पौराणिक रोमांसिक महाकाव्यों को ध्यान में रखकर जिन लक्षणों का निर्धारण किया वे समस्त शास्त्रीय मानदण्डों पर रचित महाकाव्यों में अनुप्रयुक्त होते हैं। इन्हीं लक्षणों में किंचित् शिथिलता करके महाकाव्य की आधुनिकतम विशेषताओं को निश्चित किया गया और हिन्दी की उन सभी प्रबन्धात्मक कृतियों को महाकाव्य घोषित किया गया जो अधिकांश दशाओं को पूर्ण करती हैं।

महाकाव्य के सर्वमान्य लक्षण—

१. महदुद्देश्य, महत्प्रेरणा और महती काव्यप्रतिभा
२. गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व
३. महाकार्य और युग जीवन का समग्र चित्र
४. सुसंघटित जीवन्त कथानक
५. महत्वपूर्ण नायक तथा अन्य पात्र
६. गरिमामयी उदात्त शैली
७. तीव्र प्रतिभान्विति और गम्भीर रस व्यंजना
८. अनवरुद्ध जीवनी-शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता

इन लक्षणों में पृथ्वीराज रासो, आल्हखण्ड, रामचरित मानस, पद्मावत कामायनी, कृष्णायन आदि ही महाकाव्य की श्रेणी में आते हैं। प्रियप्रवास, साकेत, उर्वशी, कुरुक्षेत्र आदि अन्य ग्रन्थों में मान्य लक्षणों से विरुद्ध विधान है। इसलिए छन्द, सर्ग, नायक और शैली में नियमों का बन्धन ढीला किया गया और यह सुविधा दी गयी कि नायक किसी भी वंश का हो सकता है, छन्द का बन्धन छोड़ा जा सकता है, सर्ग की संख्या भी कम या अधिक हो सकती है। आधुनिक महाकाव्य में विशालता, व्यापकता, अन्तर्द्वन्द्व, मानवीय चरित्र के विविध रूपों का उद्घाटन, जीवन्तता, महत् प्रेरणा और महत् शैली पर विशेष जोर दिया जाता है।

आधुनिक काव्य पर पाश्चात्य काव्य शैलियों का भी प्रभाव पड़ा है। पाश्चात्य विद्वानों ने महाकाव्य पर भी अपने विचार दिये हैं। पश्चिम में महाकाव्य शब्द का समानार्थी शब्द 'एपिक' Epic है। एपिक सम्बन्धी मान्यताओं पर ध्यान देना आवश्यक है।

हिन्दी के महत्वपूर्ण महाकाव्य—पृथ्वीराज रासो, आल्हखण्ड, रामचरित मानस, पद्मावती, कामायनी, प्रियप्रवास, साकेत, कृष्णायन, नूरजहाँ, एकलव्य, पार्वती, कुरुक्षेत्र, उर्वशी आदि हैं। इन सबमें प्राचीन और नवीन लक्षणों का मिला-जुला रूप मिलता है।

पाश्चात्य विद्वानों की महाकाव्य सम्बन्धी धारणा—पाश्चात्य विद्वानों में अरस्तू, विडा डैनियेलो, कैसेल वात्रो, टारक्वैटो टैसो, एबरक्राम्बी, सी० एम० बावरा, वैकरनेजल, डब्ल्यू पी० कैर, वाल्टेयर तथा अन्य आधुनिक मनीषियों ने महाकाव्य के सम्बन्ध में अपने विचार दिये हैं। इन विद्वानों में से प्रमुख के विचार आगे दिये जा रहे हैं। अरस्तू के समय में यूनान में काव्य के तीन रूप प्रचलित थे—महाकाव्य, गीतिकाव्य और दुःखान्त नाट्य काव्य। अरस्तू ने महाकाव्य को ऐसा काव्य रूप माना है जिसमें कथात्मक अनुकरण होता है। यह षट्पदी छन्द में लिखा जाता है। इसका कथानक दुःखान्त नाटक के समय अन्विति युक्त और किसी सम्पूर्ण आद्यन्त घटना का वर्णन करने वाला होता है। कथानक के आदि, मध्य और अन्त का सप्राण विकास होने के कारण वह सजीव प्राणी के समान समग्र इकाई के रूप में प्रतीति कराता है। अरस्तू ने महाकाव्य की सामग्री का चयन इतिहास से माना है। कवि पूर्वकाल की अथवा समकालीन घटनाओं का वर्णन अवान्तर कथाओं के रूप में कर सकता है। समग्र विवरण से स्पष्ट है कि अरस्तू ने अपनी महाकाव्य सम्बन्धी परिभाषा को गाथा चक्रों से विकसित विकसनशील महाकाव्यों पर बनाया है। महाकाव्य सम्बन्धी दूसरी महत्वपूर्ण परिभाषा डब्ल्यू पी० कैर की है। उनके अनुसार "महाकाव्य में चरित्रों की कल्पना बहुत ही स्पष्ट और सम्पूर्ण रूप में की जाती है अतः उनकी विभिन्न मनःस्थितियों और समस्याओं के चित्रण के कारण महाकाव्य में नाना प्रकार के दृश्यों और गुणों का चित्रण स्वभावतः हो जाता है। इस प्रकार इसमें समग्र जीवन के कार्य-कलाप जीवन-कथा का रूप धारण कर लेते हैं। महाकाव्य की सफलता कवि की कल्पना-शक्ति और चरित्र-चित्रण पर निर्भर होती है। कुछ महाकाव्यों में कथानक यद्यपि नाटकीय गुणों से युक्त नहीं होता और नायक महत्वहीन होता है, फिर भी, ऐसे कथानकों में एक विशेष गरिमा होती है जिससे वे महाकाव्य माने जाते हैं" (एपिक एण्ड रोमांस : पृ १७)"[1]।

महाकाव्य की किंचित् स्पष्ट परिभाषा एबर क्रॉम्बी ने अपने ग्रन्थ 'दी एपिक' में दी है। इन्होंने एपिक के दो भेद माने हैं (१) साहित्यिक (२) ऐतिहासिक। परिभाषा इस प्रकार है—"जो रचना पूर्व निश्चित रूप में कलात्मक अंग संगठन के विचार से लिखी जाती है, जिसका उद्देश्य मनोरंजन अधिक हो, जो कल्पना-प्रधान हो, वह साहित्यिक महाकाव्य है। पर जो समय की आवश्यकतावश लिखा जाये, जिसमें कथानक का आधार ऐतिहासिक हो, वह ऐतिहासिक महाकाव्य है।"

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ५७८।

की सूचना, सर्ग के अन्त में आना, सन्ध्या; सूर्योदय प्रातः रजनी, मध्याह्न आदि का वर्णन मृगया, वन, सागर आदि प्रकृति के अंगों का चित्रण, संयोग विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन, मुनि, स्वर्ग आदि का चित्र, रण, पुत्र जन्म आदि उत्सवों का वर्णन आदि अनेक विशेषताओं को अनिवार्य माना गया है। ये समस्त विशेषतायें सात विभागों में व्यवस्थित की जा सकती हैं।

(१) कथावस्तु और उसका संगठन, (२) नायक, (३) रस, (४) छन्द, (५) (६) नाम, (७) उद्देश्य। महाकाव्य के इन प्राचीन लक्षणों में विद्वानों ने उत्तरोत्तर परिष्कार किये हैं। रुद्रट ने सातवीं शताब्दी में महाकाव्य की मान्यताओं में व्यापकता प्रस्तुत की और संस्कृत के परवर्ती महाकाव्यों को—एवं प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत के पौराणिक रोमांसिक महाकाव्यों को ध्यान में रखकर जिन लक्षणों का निर्धारण किया वे समस्त शास्त्रीय मानदण्डों पर रचित महाकाव्यों में अनुप्रयुक्त होते हैं। इन्हीं लक्षणों में किंचित् शिथिलता करके महाकाव्य की आधुनिकतम विशेषताओं को निश्चित किया गया और हिन्दी की उन सभी प्रबन्धात्मक कृतियों को महाकाव्य घोषित किया गया जो अधिकांश दशाओं को पूर्ण करती हैं।

महाकाव्य के सर्वमान्य लक्षण—

१. महदुद्देश्य, महत्प्रेरणा और महती काव्यप्रतिभा
२. गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व
३. महाकार्य और युग जीवन का समग्र चित्र
४. सुसंघटित जीवन्त कथानक
५. महत्वपूर्ण नायक तथा अन्य पात्र
६. गरिमामयी उदात्त शैली
७. तीव्र प्रतिभान्विति और गम्भीर रस व्यंजना
८. अनवरुद्ध जीवनी-शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता

इन लक्षणों में पृथ्वीराज रासो, आल्हखण्ड, रामचरित मानस, पद्मावत कामायनी, कृष्णायन आदि ही महाकाव्य की श्रेणी में आते हैं। प्रियप्रवास, साकेत, उर्वशी, कुरुक्षेत्र आदि अन्य ग्रन्थों में मान्य लक्षणों से विरुद्ध विधान है। इसलिए छन्द, सर्ग, नायक और शैली में नियमों का बन्धन ढीला किया गया और यह सुविधा दी गयी कि नायक किसी भी वंश का हो सकता है, छन्द का बन्धन छोड़ा जा सकता है, सर्ग की संख्या भी कम या अधिक हो सकती है। आधुनिक महाकाव्य में विशालता, व्यापकता, अन्तर्द्वन्द्व, मानवीय चरित्र के विविध रूपों का उद्घाटन, जीवन्तता, महत् प्रेरणा और महत् शैली पर विशेष जोर दिया जाता है।

आधुनिक काव्य पर पाश्चात्य काव्य शैलियों का भी प्रभाव पड़ा है। पाश्चात्य विद्वानों ने महाकाव्य पर भी अपने विचार दिये हैं। पश्चिम में महाकाव्य शब्द का समानार्थी शब्द 'एपिक' Epic है। एपिक सम्बन्धी मान्यताओं पर ध्यान देना आवश्यक है।

हिन्दी के महत्वपूर्ण महाकाव्य—पृथ्वीराज रासो, आल्हखण्ड, रामचरित मानस, पद्मावती, कामायनी, प्रियप्रवास, साकेत, कृष्णायन, नूरजहाँ, एकलव्य, पार्वती, कुरुक्षेत्र, उर्वशी आदि हैं। इन सबमें प्राचीन और नवीन लक्षणों का मिला-जुला रूप मिलता है।

पाश्चात्य विद्वानों की महाकाव्य सम्बन्धी धारणा—पाश्चात्य विद्वानों में अरस्तू, विडा डैनियेलो, कैसेल वात्रो, टारक्वैटो टैसो, एबरक्राम्बी, सी० एम० बावरा, वैकरनेजल, डब्ल्यू पी० कैर, वाल्टेयर तथा अन्य आधुनिक मनीषियों ने महाकाव्य के सम्बन्ध में अपने विचार दिये हैं। इन विद्वानों में से प्रमुख के विचार आगे दिये जा रहे हैं। अरस्तू के समय में यूनान में काव्य के तीन रूप प्रचलित थे—महाकाव्य, गीतिकाव्य और दुःखान्त नाट्य काव्य। अरस्तू ने महाकाव्य को ऐसा काव्य रूप माना है जिसमें कथात्मक अनुकरण होता है। यह षट्पदी छन्द में लिखा जाता है। इसका कथानक दुःखान्त नाटक के समय अन्विति युक्त और किसी सम्पूर्ण आद्यन्त घटना का वर्णन करने वाला होता है। कथानक के आदि, मध्य और अन्त का सप्राण विकास होने के कारण वह सजीव प्राणी के समान समग्र इकाई के रूप में प्रतीति कराता है। अरस्तू ने महाकाव्य की सामग्री का चयन इतिहास से माना है। कवि पूर्वकाल की अथवा समकालीन घटनाओं का वर्णन अवान्तर कथाओं के रूप में कर सकता है। समग्र विवरण से स्पष्ट है कि अरस्तू ने अपनी महाकाव्य सम्बन्धी परिभाषा को गाथा चक्रों से विकसित विकसनशील महाकाव्यों पर बनाया है। महाकाव्य सम्बन्धी दूसरी महत्वपूर्ण परिभाषा डब्ल्यू पी० कैर की है। उनके अनुसार "महाकाव्य में चरित्रों की कल्पना बहुत ही स्पष्ट और सम्पूर्ण रूप में की जाती है अतः उनकी विभिन्न मनःस्थितियों और समस्याओं के चित्रण के कारण महाकाव्य में नाना प्रकार के दृश्यों और गुणों का चित्रण स्वभावतः हो जाता है। इस प्रकार इसमें समग्र जीवन के कार्य-कलाप जीवन-कथा का रूप धारण कर लेते हैं। महाकाव्य की सफलता कवि की कल्पना-शक्ति और चरित्र-चित्रण पर निर्भर होती है। कुछ महाकाव्यों में कथानक यद्यपि नाटकीय गुणों से युक्त नहीं होता और नायक महत्वहीन होता है, फिर भी, ऐसे कथानकों में एक विशेष गरिमा होती है जिससे वे महाकाव्य माने जाते हैं" (एपिक एण्ड रोमांस : पृ १७)"[1]।

महाकाव्य की किंचित् स्पष्ट परिभाषा एबर क्रॉम्बी ने अपने ग्रन्थ 'दी एपिक' में दी है। इन्होंने एपिक के दो भेद माने हैं (१) साहित्यिक (२) ऐतिहासिक। परिभाषा इस प्रकार है—"जो रचना पूर्व निश्चित रूप में कलात्मक अंग संगठन के विचार से लिखी जाती है, जिसका उद्देश्य मनोरंजन अधिक हो, जो कल्पना-प्रधान हो, वह साहित्यिक महाकाव्य है। पर जो समय की आवश्यकतावश लिखा जाये, जिसमें कथानक का आधार ऐतिहासिक हो, वह ऐतिहासिक महाकाव्य है।"

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ५७८।

इसी प्रकार के दो भेद सी० एम० बावरा ने अपनी पुस्तक 'फ्रॉम वर्जिल टू मिल्टन' में माने हैं। वाल्टेयर और मैकनील डिक्सन के मत में बहुत साम्य है। डिक्सन के अनुसार—"यद्यपि महाकाव्य का एक निश्चित स्वरूप होता है पर उसे संकीर्ण लक्षणों के बन्धन में नहीं बाँधा जा सकता। उदाहरणार्थ, शास्त्रीय महाकाव्य का यह नियम कि उसमें कल्पित और अविश्वसनीय आश्चर्य के तत्व नहीं होने चाहिए यदि दृढ़ता पूर्वक स्वीकृत किया जाय तो अनेक महान् महाकाव्यों को महाकाव्य की श्रेणी से निकाल देना पड़ेगा।"[1]

उपर्युक्त परिभाषाओं से महाकाव्य सम्बन्धी पाश्चात्य धारणा का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है। महाकाव्य में ये तत्व आवश्यक :—'कथानक' चरित्र चित्रण, वर्णन, शैली और उद्देश्य। इन सभी तत्वों का नियोजन महाकाव्य की गरिमा और कलेवर को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। इन्हीं तत्वों को अक्सर इन शब्दों में प्रस्तुत कर दिया जाता है—महान कथानक, महान चरित्र, महान सन्देश और महान शैली। ये पीछे दिये गये महाकाव्य के तत्वों से मेल खाते हैं।

इस प्रकार महाकाव्य सम्बन्धी भारतीय और पाश्चात्य धारणा में बहुत दूरी तक साम्य है। हम यह कह सकते हैं कि प्रबन्ध काव्य की एक विधा के रूप में महाकाव्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसमें समग्र जीवन का विस्तार मिलता है क्योंकि इसमें कवि का महदुद्देश्य है महत्प्रेरणा, और महती काव्य प्रतिभा है, ग्रन्थ में गुरुत्व, गांभीर्य और महत्व तो होता ही है, साथ ही महाकार्य और युगजीवन का चित्रण भी रहता है। इसलिए महत्वपूर्ण पात्रों के सुसंघटित जीवन्त कथानक को गम्भीर गरिमामयी उदात्त शैली में तीव्र प्रतिभान्विति और गम्भीररस व्यंजना के साथ व्यक्त किया जाता है जिससे कि अभिव्यक्ति में जीवन्ता और सशक्त प्राणवत्ता होती है।

कथाकाव्य—प्रबन्धात्मक काव्य में कथाकाव्य सबसे प्राचीन है। पूर्व और पश्चिम दोनों में इसकी परम्परायें मिलती हैं। मध्ययुग में पश्चिम में अभिजात वर्गीय रोमन क्लासिकल परम्परा के विरुद्ध रोमांसिक स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति से विद्रोह होने में काव्य विधा का स्वरूप बदला है। कवियों ने महाकाव्य के शास्त्रीय और गुरुगम्भीर काव्य रूप के स्थान पर सरल और रोमांसिक कथाकाव्य का आश्रय लिया।[2] इंगलैण्ड में १४वीं शताब्दी के आसपास अनेक कथा काव्य लिखे गये जैसे पियर प्लाउमैन, द पर्ल, कनेफेसिया एमैंटिस, कैन्टर बरी टेल्स' आदि। पूर्व में भी संस्कृत की अनेक प्रबन्धात्मक कृतियाँ कथा काव्य हैं। कादम्बरी और दशकुमार चरित लीलाबाई कहा आदि।

कथा काव्य का कोई विशेष उद्देश्य हो न हो परन्तु उसकी गम्भीरता और महानता महाकाव्य जैसी अवश्य ही नहीं होती है। उसके नायक या चरित्र महान

१. हिन्दी साहित्यकोश, पृ० ५७८।
२. शिपले—इन साइक्लोपीडिया ऑफ़ लिटरेचर, पृ० २६२-२६३।

या आदर्श रूप में सामने नहीं आते हैं क्योंकि वे धीरोदात्त न होकर धीर ललित या धीर शान्त होते हैं। इसी प्रकार कथाकाव्य जीवनी नहीं होता है। वह चरित काव्य की श्रेणी में भी नहीं आ पाता है क्योंकि उसका कथानक जीवन्त प्रवाहमय और आकर्षक होकर भी सुसंघटित नहीं होता। विशृंखल, जटिल और स्फीत कथानक में कथा में कथा करने की प्रवृत्ति अधिक होती है। युद्ध, प्रेम, यात्रा अनहोने कार्यों का अतिशयोक्तिपूर्ण चित्रण लोक तत्वों और कथानक रूढ़ियों से पूर्ण होने के कारण प्रभावान्विति में बाधक होता है। इतने पर भी उसमें रसात्मकता, भावव्यंजना और अलंकृति होती है। कथाकाव्य की हम निम्न विशेषतायें मान सकते हैं।

(अ) धर्म, काम, नीति आदि में से एक अथवा सभी को केन्द्र में रखकर काव्य की सर्जना की जाती है।

(ब) महाकाव्यों के समान गुरुत्व और आदर्श का कथा काव्य में अभाव होता है।

(स) कथानक में जीवन्तता, प्रवाहमयता और आकर्षण तो होता ही है, साथ ही अपेक्षा के अनुसार गौण कथायें भी होती हैं।

(उ) इसमें युद्ध, प्रेम रोमांसिकता, भावुकता आदि के साथ असम्भव अविश्वसनीय और अप्राकृत शक्तियों का प्रदर्शन भी होता है।

(इ) कथा काव्य में अनेक कथाओं के होने के कारण लोक तत्वों एवं कथानक रूढ़ियों का प्रचुरता से समावेश होता है।

(फ) कथाकाव्य के नायक का स्वरूप या तो वीर या प्रेम अथवा सन्त होता है।

(ग) प्रेम प्रधान कथाकाव्यों में सामाजिक दायित्व का अभाव होता है और प्रेम भी एकान्तिक, स्थूल अथवा प्रतीकात्मक होता है।

(घ) कथा काव्य में रसात्मकता, भावव्यंजना, अलंकृति होती है पर विचारों और भावों की गम्भीरता, उद्देश्य की महत्ता, बौद्धिक ऊँचाई, भावभूमि की व्यापक और सघनता नहीं होती है।

सब मिलाकर, कथाकाव्य चरितकाव्य, महाकाव्य तथा अन्य प्रबन्धात्मक काव्य रूपों से अलग होता है। कथाओं का आधिक्य और गुरुत्व आदर्श का अभाव उसे धारावाहिक शैली अपनाने को प्रवृत्त करता है जिसमें कवि को रमणीय स्थलों पर भी रमने का अवसर नहीं मिलता है। हिन्दी का प्रसिद्ध कथा काव्य गोस्वामी विष्णुदास कृत रामायन कथा (सन् १४३५ ई०) है।

लीलाकाव्य—'विलास की इच्छा' का नाम ही लीला है। विद्वानों ने लीला को कार्य से रहित कृति मात्र माना है और यह स्पष्ट किया है कि लीलानन्द के अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं है। **सृष्टि और प्रलय भगवान की लीला ही है।**[1] इससे यह स्पष्ट है कि जिन ग्रन्थों में भगवान की लीला का वर्णन किया जाता है वे

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १. पृ० ६८३-८४।

लीला काव्य के अन्तर्गत परिगणित किये जायेंगे। लीला का विशेष महत्व पुष्टि मार्ग और शुद्धा द्वैतवादियों के बीच अधिक है। इन सम्प्रदायों में परम रूप परब्रह्म श्री कृष्ण गोलोक या अक्षरधाम में नित्य लीला आनन्द में मग्न रहते हैं। लीलानन्द के लिए ब्रह्म अनेक अभिनय करता है भक्त उस आनन्द से स्वयं को सफल करता है। श्रीकृष्ण की अनेक लीलायें भक्तों के हितार्थ की जाती हैं। लीला शब्द के अन्य अर्थ शृंगार से ही सम्बद्ध हैं। लीला नाट्य रूप भी है इसी के आधार पर रास लीला, हनुमान लीला, रामलीला आदि नाम चले हैं।

लीला काव्य की नीचे लिखी विशेषतायें अन्य काव्य भेदों से उसे पृथक करती हैं।

१. छन्दोबद्धता तथा गेयता प्रधान गुण-धर्म
२. मधुर प्रेम विरह और संयोग दोनों ही लीलाकाव्य के विषय हो सकते हैं।
३. लीला काव्य अभिनय की दृष्टि से लिखे जाते थे इसलिए इनमें कथोपकथन, व्यंग्य, वाक् चतुरता से युक्त शैली का प्रयोग होता है।
४. जैन रास की तरह लीला काव्य में भी नृत्य गीत आदि की प्रधानता रहती है।
५. व्रजभाषा के लीलाकाव्यों में भक्ति और शृंगार का अद्भुत सम्मिश्रण होता है। ऐसा जैन रास में नहीं है। जैन रास एकदम नैतिकतावादी तथा धर्ममूलक हैं। इनमें गृहस्थ जीवन को लेकर अमानुषिकता का घोर आंतक भी होता है।
६. इन सभी कारणों से लीला काव्य में लय-ताल युक्त संगीतात्मकता होती है। ये सन्देस रासक के अधिक नजदीक है।
७. कथानक में लीलाओं का प्राधान्य होने के कारण संघर्षतत्व का अभाव होता है परन्तु इससे कथा विकास में कोई व्यवधान नहीं आता।

कुल मिलाकर, लीलाकाव्य में मधुर भक्ति का शृंगार से योग होता है। अलौकिकता का तत्व ब्रह्म के अभिनय के कारण महत्वपूर्ण है। संगीतात्मकता लीला काव्य का प्रधान गुण है। भक्ति, शृंगार, वीर और शान्त रसों का प्राधान्य होने पर भी दार्शनिक मान्यताओं का महत्व विशेष होता है। लीलाकाव्य के अनेक ग्रन्थ हैं। बख्शी हंसराज कृत सनेहसागर इनमें सबसे अनूठा है।

महाप्रबन्ध के अन्तर्गत जीवन का विस्तार होता है तो खण्ड प्रबन्ध में जीवन की किसी मार्मिक घटना को आधार बनाया जाता है। खण्ड काव्य के सम्बन्ध में संस्कृत और हिन्दी काव्य शास्त्र में लक्षण अधिक स्पष्ट नही हैं। प्राचीन विद्वानों ने अनेक स्थलों पर खण्डकाव्य का एक उल्लेख मात्र किया है। 'खण्डकथा' नामक पृथक काव्य भेद का उल्लेख सर्वप्रथम आनन्दवर्द्धन ने किया था। शिल्प के सम्बन्ध में वे भी मौन है। अनेक विद्वानों ने खण्ड काव्य को महाकाव्य का एक अंश माना जो

स्वतः भ्रामक है। वास्तव में 'खण्ड' का प्रयोग अनुभूति और कथा के निमित्त हुआ है।

आचार्य विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ साहित्य दर्पण में खण्ड काव्य के लक्षणों पर विचार किया है। इसे महाकाव्य की तुलना में समग्र जीवन की अपेक्षा खण्ड जीवन का चित्रण करने वाला माना गया है।

भाषा-विभाषा नियमात्काव्यं सर्ग समुज्झितम्।
एकार्थ प्रवणैः प्रद्यैः संधि सामग्रयवर्जितम् ॥
खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैक देशानुसारिच।

आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार खण्डकाव्य की कथा में महाकाव्य के एक देश या अंश का अनुसरण होता है परन्तु खण्डकाव्य जीवन के अंग विशेष को लेकर चलने पर भी स्वतः पूर्ण होता है। महाकाव्य की वस्तु संघटना की भाँति, नाट्य-सन्धियों के निर्वाह की अनिवार्यता भी खण्ड काव्य के लिए नहीं मानी गयी है। शिल्प की दृष्टि से खण्ड काव्य में जीवन का विस्तार कम होने के कारण सर्गों का एक सीमा तक होना अथवा सर्ग विहीनता का रहना दोनों माना जाता है। इसी प्रकार छन्द एक हो अथवा अनेक, इसके सम्बन्ध में कोई निश्चित विधान नहीं है। मंगलाचरण वस्तु निर्देश, सर्गान्त में भावी कथा सूचना, सज्जन प्रशंसा व दुर्जन निन्दा, सर्गान्त में छन्द परिवर्तन की अवमानना स्थल व गौण लक्षण मानकर महाकाव्यों में ही की गयी थी अतः खण्ड काव्य के लिए इनको मानना उचित नहीं है। कुल मिलाकर काव्य के एक देश या अंश का अनुसरण करने वाला खण्ड काव्य होता है।

रूप विधान की दृष्टि से खण्डकाव्य के दो भेद माने जाते हैं (१)—महाकाव्यात्मकखण्डकाव्य, (२) लघु प्रबन्धात्मक खण्डकाव्य। हमने संस्कृत के काव्य शास्त्र में मान्य भेदों को ही रेखाचित्र में प्रस्तुत किया है। ये दो हैं—संघात और एकार्थकाव्य।

संघात के सन्दर्भ में मेघदूत आदि का नाम लिया जाता है। एकार्थ काव्य में समस्त घटना क्रम को एक ही छन्द में तथा अनेकार्थ काव्य में अनेक छन्दों में विविध भावों के साथ जीवन के एक अंश का चित्रण होता है। डॉ० निर्मला जैन ने महाकाव्यात्मक खण्डकाव्य के अन्तर्गत गंगावतरण, नूरजहाँ, कुणाल, हल्दीघाटी, जौहर आदि को तथा लघुप्रबन्धात्मक खण्डकाव्य के अन्तर्ग्रत स्वप्न, मिलन, पथिक, जयद्रथ-बध, शकुन्तला, सिद्धराज, किसान, नहुष, अजित, मौर्य विजय, अनाथ आदि को प्रस्तुत किया है।[1] खण्डकाव्य के अन्य भेद भाव, विचार, आकार सर्ग आदि की दृष्टि से भी किये जाते हैं। पर सब मिलाकर इस बात का समर्थन करते हैं कि खण्ड काव्य जीवन के एक अंश या मार्मिक प्रसंग को कथात्मक रूप में अभिव्यक्त करने वाली काव्य विधा है। आधुनिक युग में इस विधा का द्विवेदी युगीन, छायावादी कवियों में विशेष प्रयोग किया है।

१. डॉ० निर्मला जैन—आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप विधाएँ, पृ० २०८, २२३।

निर्बन्ध

पद्य की यह विधा आजकल अधिक प्रचलित है। इसे मुक्तक संज्ञा से भी पुकारा जाता है। विद्वानों ने मुक्तक की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "मुक्तक से हमारा आशय ऐसी रचना से है जो स्व-अर्थ-प्रकाशन में समर्थ और पूर्वापर क्रम से निरपेक्ष हो, व जिसके अर्थ की अन्विति व रसास्वादन के लिए पाठक को अन्य पद्यों का सम्बल ग्रहण न करना पड़े।" अर्थात् मुक्तक वह रचना है जिसमें अर्थ प्राप्ति के लिए पराश्रयता नहीं होती है और जो स्वयं संपूर्ण होता है। मुक्तक दो प्रकार के माने जाते हैं—स्पुट और संयुक्त। इनकी परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। अग्नि पुराण कार ने सर्वप्रथम एक श्लोकीय (पद) को मुक्तक की संज्ञा दी है—

"मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कार क्षमः सताम"

इसी की व्याख्या करते हुए राम लाल वर्मा शास्त्री ने लिखा है कि पूर्व और पर पद्यों से जो असम्बद्ध हो, स्वतंत्र रूप से अपने विषय को प्रकट करने में अकेला ही समर्थ हो, ऐसे पद्य को मुक्तक कहते हैं। आधुनिक युग में छन्द का बंधन न होने के कारण मुक्तक की परिभाषा बदल गयी है। मुक्तक वह रचना है जिसमें कवि की अनुभूति या भावखण्ड क्षणिक होते हुए भी इतनी सघन, चमत्कारपूर्ण और अर्थ गर्भित होती है कि एक ही बार में समस्त संप्रेष्य को पाठय या श्रोता के सामने ला देती है। कतिपय विद्वानों ने मुक्तकों का विभाजन आत्म परक और वस्तु परक के रूप में किया है परन्तु इससे मुक्तक के स्वरूप का आभास नहीं मिलता। इसलिये इन्हें समग्रता में प्रस्तुत करने वाले दो प्रकारों में बाँटा गया है। (१)—पाठ्य (२)—गेय। पाठ्य के पुनः भेद किए गए हैं। ये भेद छन्द संख्या के आधार पर हैं—पंचक, अष्टक, दशक, बीसी, पचीसी, बत्तीसी, चालीसा, पचासा, बावनी, शतक, सतसई और हजारा। पाठ्य मुक्तकों के ये भेद आदि काल से अब तक पाये जाते हैं। अत्याधुनिक काल में मुक्तकों के रूप परिवर्तन के साथ-साथ उनकी संचयनिकाओं के नाम भी बदल गये हैं। वे अब किसी भाव या बिम्ब के आधार पर होते हैं।

गेय मुक्तक के दो रूप हैं—कलागीत और लोकगीत। कलागीत वास्तव में साहित्यिक गीत का ही पर्याय है। इसकी शैली में गेय संगीत का प्रयोग होता है। लोकगीत में गेयता यद्यपि प्राणतत्व है परन्तु उनकी शैली में अन्तर होता है वह कलागीत के समान सायास, अलंकृति पूर्ण और साहित्यिक सूक्ष्मताओं से पूर्ण नहीं होती है। लोकगीत की तुलना में कलागीतों में व्यक्तितत्व प्रधान होता है। इसलिये इन्हें नागर भाव का द्योतन कराने वाला माना जाता है। लोकगीत लोकजीवन को प्रस्तुत करने वाले होते हैं और कलागीत कतिपय गीतों (प्रभाती, उद्बोधन गीत, राष्ट्रगीत अर्चना के गीत आदि) को छोड़कर नितान्त वैयक्तिक एवं अंतरंग अनुभूति को वहन करने वाले होते हैं।

---

१. डॉ० निमला जैन—आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप विधायें-पृ० ३८७।

कलागीत के प्रकार—कलागीत के अन्तर्गत सम्बोधन गीत, शोकगीत, पत्रगीत गीत और प्रगीत के साथ-साथ सॉनेट को रखा जाता है। ये प्रकार विशेष शैली के आधार पर प्रस्तुत किए गए हैं। इनमें गीत के साथ प्रगीत रखने का एक कारण है। गीत सामान्य रूप में सम्बोधन गीत, शोकगीत, पत्रगीत आदि की श्रेणी में न आने वाला मुक्तक रूप है जैसे राष्ट्रगीत प्रभाती। प्रगीत केवल वैयक्तिक धरातल पर व्यक्त भावों को लय से प्रस्तुत करने वाला होता है। प्रमुख गीत प्रकारों का विवरण नीचे दिया जा रहा है।

सम्बोधन गीत—इसका अंग्रेजी पर्याय ओड (ode) है। यह वैभवपूर्ण, विस्तृत एवं ऐसी पद्य रचना है जिसे वाद्य संगीत के साथ गाया जाता है। यूनान में व्यक्तिगत रूप में और वृन्दगान के रूप में गीत को प्रस्तुत किया जाता था। ओड या संबोधन गीत का विकास इस आत्माभिव्यंजन एवं सहगान के माध्यम से हुआ। प्रारंभ में ओड की चार विशेषताएँ स्वीकार की गयी थीं—विशदाकार, भव्यशैली, आत्मपरक दृष्टिकोण और गेयता। अंग्रेजी कवियों ने इसका विशेष प्रयोग किया है। आधुनिक काल तक आते-आते संबोधन गीत की प्रमुख विशेषतायें निम्न मानी जा सकती हैं। डॉ० निर्मला जैन के अनुसार—

१. ओड की रचना अनिवार्यतः वृन्दगान या गेय रूप में नहीं की जाती थी
२. सम्बोधन के रूप में इस प्रकार की कविताएँ लिखना तत्कालीन रूढ़ि हो गयी।
३. शैली में उत्कर्ष या भव्यता के साथ उत्साह समन्वित स्वर ओड के लिए आवश्यक मान लिया गया।
४. छन्दों का वैविध्य या अनियम प्रयोग जो प्राचीन ओड का दूषण माना जाता था, इस काव्य विधा की सामान्य विशेषता स्वीकार कर ली गयी।
५. पंक्ति संख्या के रूप में इनका आकार निश्चित कर दिया गया।
६. सामान्यतः तुकान्त व कहीं-कहीं अन्त्यमुक्त प्रयोग भी 'ओड' की विशेषताओं में परिगणित किए गए।

समग्र रूप में यह कहा जा सकता है कि ओड या सम्बोधन गीत निबंध कला गीत का एक भेद है जिसमें आत्मनिष्ठा, एकसूत्रता या भावान्विति, भावमय कल्पना तथा संगीतात्मकता का सहज समावेश होता है। अंग्रेजी साहित्य में जिस शैली में ओड लिखा गया उससे किंचित भिन्न रूप में छायावादी कवियों के पूर्व रूपनारायण पाण्डेय ने 'कल्पवृक्ष के प्रति' कविता लिखी थी। संबोधन गीत का वैभव प्रसाद, पन्त, निराला के काव्य में विपुलता से मिलता है। प्रमुख उदाहरण इस प्रकार हैं—किरण, वसन्त, विषाद, दीप, रूप, वासन्ती, यमुना के प्रति जुही की कली, जलद के प्रति, तरंगों के प्रति आदि। प्रयोगवादियों ने भी इसका प्रयोग किया है—अज्ञेय की जनाह्वान, भारत भूषण अग्रवाल का 'मसूरी के प्रति' इत्यादि।

शोकगीत—इसका अँग्रेजी पर्याय (Elegy) एलेजी है। जो किसी सम्माननीय व्यक्ति की मृत्यु पर अथवा किसी प्रकार के नैतिक संताप को व्यक्त करने के लिए लिखी जाती थी। प्रारंभ में यूनानी साहित्य में इसका प्रयोग मृत्युगीत जैसा था पर बाद में ये युद्ध और प्रेम को भी समर्पित हुई है। हिन्दी में शोकगीत का प्रचलन आधुनिक युग में ही हुआ है अतः शोकगीत की विशेषताओं को हमें अंग्रेजी साहित्य के माध्यम से ही जानना होगा।

डॉ० निर्मला जैन के अनुसार एलेजी की विशेषताएँ—गांभीर्य, विचारात्मकता करुणात्मकता, अकृत्रिमता, संक्षिप्तता और छन्दोमयता हो सकती हैं। हिन्दी में शोक गीतों की रचना किसी प्रिय व्यक्ति अथवा श्रद्धेय की मृत्यु पर कवि द्वारा आत्मोद्गार व्यक्त करने में हुई है। भावात्मकता में दिवंगत व्यक्ति के कृतित्व से लेकर उसके द्वारा सहन किया गया अत्याचार, अथवा दर्शायी गयी दया आदि तक किसी भी कृत्य का वर्णन इनमें होता है।

द्विवेदी युग में शोकगीतों की भर मार रही है। नाथूराम शर्मा 'शंकर,' रूप नारायण पांडेय और रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' की अनेक शोक व्यंजक कविताओं को इस काव्य विधा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। अनेक कवियों ने अंग्रेजी के कवियों द्वारा लिखित एलेजी के अनुवादों को भी प्रस्तुत किया है जैसे कामता प्रसाद गुरु का ग्रामीण विलाप आदि। सबसे प्रसिद्ध शोकगीत निराला रचित 'सरोज-स्मृति' है। मैथिली शरण गुप्त रचित अंजलि और अर्घ्य, प्रसाद की आँसू को भी इसी शोक गीत की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि शोकगीत वह गीत विधा है जिसमें शोक-वृत्ति की व्यंजना अन्य भावनाओं के साथ मिलाकर की जाती है। अनुभूति के साथ आलम्बन की वेदना मिश्रित प्रशस्ति, या संस्मरणात्मक चर्चा होती है। हिन्दी कविता में शोकगीत का प्रयोग अधिक हुआ है परन्तु उनमें अंग्रेजी शोकगीत के समान वैचारिक सघनता या बौद्धिक अतिशयता का अभाव है।

पत्रगीत (Epistle)—पत्रगीत का पर्याय एपिसिल है। यह ऐसा पत्रगीत होता है जो किसी परिचित व्यक्ति मित्र या स्नेही जन को सम्बोधित करके लिखा लाता है परन्तु इसमें सामान्य पत्र की भाँति वैयक्तिकता और स्फूर्त करने वाली भावात्मकता न होकर सार्वजनीन वक्तृता होती है। पत्र में असाहित्यिकता अधिक होती है जबकि पत्रगीत में साहित्यिकता के साथ-साथ कलात्मकता भी होती हैं।

हिन्दी के पत्रगीत विदेशी साहित्य से प्रभावित हैं। बंगला कवि माइकेल मधुसूदनदत्त के 'वीरांगना' नामक पत्रगीत से प्रभावित होकर द्विवेदी युगीन और छायावादी कवियों ने पत्रगीतों का प्रणयन किया है। मैथिलीशरण गुप्त की 'पत्रवली' इसका अनूठा उदाहरण है। निराला का 'महाराज शिवा जी का पत्र' एक अन्य रचना है जिसकी सर्वाधिक चर्चा हुई। इसमें कवि ने शिवाजी के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण किया है। राजा जयसिंह को प्रकारान्तर से प्रबोधन भी दिया गया है। पत्रगीत

के विद्वानों ने दो प्रकार माने हैं। एक वे जिनमें कवि किसी व्यक्ति विशेष को सम्बोधित करके पत्र लिखता है और दूसरे वे जिनमें किसी पात्र की ओर से दूसरे अन्य पात्र-पात्रों को पत्र लिखा जा सकता है। इन पत्रगीतों में एक उद्देश्य अवश्य निहित होता है। इस प्रकार पत्रगीत में पत्रशैली में भावात्मकता के साथ घटना या प्रसंग पर कवि या पात्र अपने विचार किसी निर्दिष्ट उद्देश्य से करता है। पात्र विशेष की आत्मा से तादात्म्य स्थापित करना आवश्यक होता है। कलागीत की यह विधा आधुनिक युग में विशेष महत्त्वपूर्ण है।

गीत--यह मूलत: भारतीय काव्य विधा है। गीत का सामान्य अर्थ गेय कविता से है। लघु आकार की गेय रचना ही गीत है। इसमें भावनाओं का प्रकाशन कभी आत्म निवेदनार्थ, कभी अपने उद्‌गारों की अभिव्यक्ति के लिए मधुर शब्दावली में किया जाता है। भाषा, शब्द चयन और नादसौन्दर्य की दृष्टि से गीत एक पृथक अस्तित्व रखता हैं। प्राचीन काल से ही भारतीय गीत साहित्य संगीत की राग रागिनियों में निबद्ध होता आ रहा है। गीत कथात्मक या लोक भावना की अभिव्यक्ति करने वाला माना जाता है।

आधुनिक युग में गीत के स्वरूप में अन्तर आया है। यह अंग्रेजी गीत के प्रभाव में है। गीत में जहाँ बाह्य संगीत होता है वहाँ उसके आधुनिक रूप—'प्रगीत' में आन्तरिक संगीत होता है। इस प्रकार गीत प्राचीन काल से चली आतीं परम्परा का प्रतीक है।

गीत के अनेक प्रकार माने गए हैं—पद (परम्परागत गीत), स्तवनगीत, वन्दनागीत, विनय के गीत, भक्तिगीत, राष्ट्रगीत, विरहगीत, प्रशस्तिगीत, शृंगार-गीत, लोकगीत, भ्रमरगीत, लीलागीत, अध्यात्मगीत, प्रकृतिगीत आदि। इन गीतों में सबसे अधिक प्रचलित शास्त्रीय संगीत पर आधारित गीत और लोकगीत हैं। वैसे कतिपय विद्वानों में गीत का जन्म लोकगीत से माना है परन्तु दोनों विधाएँ पृथक् हैं। लोकगीत और कलागीत में विशेष अन्तर है इसलिए दोनों को एक में नहीं मिलाना चाहिए। सन्त साहित्य में पदों का प्रयोग विशेष हुआ है। यही परम्परागत गीत है। इसका आधुनिक एवं परिष्कृत रूप इससे बिल्कुल भिन्न है। सूर, तुलसी, कबीर, गोस्वामी विष्णुदास अन्य कवियों के पदों को प्राचीन गीत और द्विवेदी युग तक परम्परागत शैली को अपनाकर लिखे गए गेय छन्दों को गीत की श्रेणी में रखा जाता है। पश्चिमी प्रभाव से गीत प्रगीत बन गया अत: उसे अलग से विवेचित किया गया है।

प्रगीत--(गीति) यह कलागीत का एक ऐसा भेद है जिसमें अधिक कवियों ने काव्य सृजन किया है। गीत में शब्द और अर्थ, लय और छन्द, रूप और वस्तु उतने अभिन्न और समीपी नहीं हो पाते हैं जितने कि प्रगीत में। इसीलिए प्रगति का पृथक् अस्तित्व है।" प्रगीत में कवि की भाव-कल्पना, उसकी अभिव्यंजना और उसके द्वारा निर्मित प्रगीत के रूप में भी एकता या तादात्म्य स्थापित हो जाता है

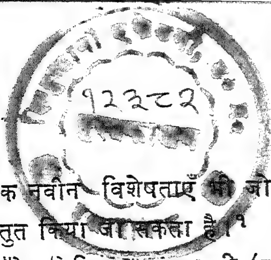
और उसी अवस्था में प्रगीत अपने वास्तविक काव्योत्कर्ष को प्राप्त करता है। इन द्विविधि तत्वों के एकदम समीप आ जाने और अन्तर खो देने में ही प्रगीत का प्रगीतत्व है। इस दृष्टि से हम यह भी कह सकते हैं कि प्रगीत काव्य की निर्मात्री भावना में और उस भावना द्वारा निर्मित प्रगीत भाजन में तात्विक एकता होती है। एक विशेष प्रकार (या अवसर) की भावना या अनुभूति जिसमें कवि का व्यक्तित्व पूरी तरह खो गया हो और साथ ही जिसमें किसी रूढ़ भावना या संस्कार का योग न हो, प्रगीत का निर्माण करती है अतएव इस काव्य रूप (प्रगीत) के निर्माण में इस युग की काव्यभावना का इतिहास भी संलग्न है।"[१] इसी तथ्य के समर्थन में डॉ० निर्मला जैन ने अपनी बात कही है कि" आन्तरिक संगीत तो प्रगीत की विशेषता है और गीत व प्रगीत पर्याय शब्द नहीं हैं। वस्तुत: काव्य जाति है, प्रगीत प्रजाति और गीत उसका व्यष्टि भेद। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रगीत की आत्मा गीत से भिन्न है। इसे हम साहित्यिक गीत भी कह सकते हैं क्योंकि इसमें कवि के हृदय में गुंजरित होने वाले संगीत और गहन भावों को साधारण शैली की अपेक्षा अधिक कलात्मक और साहित्यिक ढंग से व्यक्त किया जाता है। अन्तर के संगीत से युक्त होने वाला यह गीत रूप प्रगीत ही है।

हिन्दी के समस्त स्वच्छन्द भावधारा के कवियों तथा छायावादी कवियों ने प्रगीतों की रचना की है। प्रगीत सृष्टि में प्रभा के कवि माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा नवीन का आरंभिक योगदान है। इन कवियों ने नव जीवन के संगीत को अपने प्रगीतों में साधा है। प्रसाद का 'झरना' रूप नारायण का 'वन वैभव' प्रगीत काव्य के प्रारंभिक चरण की रचनायें हैं। बाद में निराला, पंत, प्रसाद तथा अन्य कवियों ने प्रगीतों का वैभव प्रस्तुत किया। इन प्रगीतों में 'जुही की कली' 'सन्ध्या सुन्दरी', 'जागो फिर एक बार' 'वीणां, ग्रंथि' आदि अधिक बहुत चर्चित हुए। नये काव्य के बदलते चरणों में प्रगीत का उतना प्रभाव परवर्ती छायावादी काव्य में नहीं रहा परन्तु नये रचनाकारों का एक वर्ग उसे समृद्ध अवश्य करता रहा है। इनमें भवानी प्रसाद मिश्र, सुमित्रा कुमारी सिनहा, ठाकुर प्रसाद आदि के नाम के विशेष उल्लेखनीय हैं।

सॉनेट (Sonnet)—सॉनेट पूर्ण रूप से विदेशी कलागीत रूप है। इसे चतुर्दशपदी भी कहा जाता है। हिन्दी साहित्य में इस कलागीत प्रकार ने आँग्ल साहित्य के माध्यम से पदार्पण किया है। सिडनी, स्पेन्सर और शेक्सपीयर को इस गीत प्रकार का कुशल प्रयोगकर्त्ता कहा जाता है। लगभग इन्हीं विद्वानों के नाम पर इसके तीन प्रकार भी होते हैं—पैट्राक, स्पेन्सर और शेक्सपीयर। इन प्रकारों में परवर्ती

---

१. आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी–आधुनिक साहित्य, पृ० २५।
२. डॉ० निर्मला जैन–आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप विधाएँ, पृ० ५०८।



कवियों ने अनेक नवीन विशेषताएँ भी जोड़ी हैं। सॉनेट की समस्त विशेषताओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।[1]

१. सॉनेट निश्चित आकार की (चौदह पंक्तियाँ) मुक्तक रचना होती है।
२. सिद्धान्ततः उसके बाह्य रचना सम्बन्धी नियम महत् कवियों ने प्रयोग द्वारा निश्चित कर दिए किन्तु व्यवहार में इन नियमों का व्यक्तिक्रम और इनमें परिवर्तन बहुधा होता रहा।
३. सॉनेट की आकारगत विशेषता का मुख्य आधार उसका अन्त्यानुप्रास क्रम या अन्तिम लय-निपात होता है। इसी अन्त्यक्रम की योजना में अन्तर से उसमें रूप-विधान सम्बन्धी अन्तर प्रस्तुत होता जाता है।
४. रचना विधान की दृष्टि से सॉनेट की चौदह पंक्तियों का विभाजन विभिन्न लय खण्डों में होता है, परन्तु वे सभी एक भाव, विचार या विषय से परस्पर सम्बद्ध या अन्वित रहती है।
५. गेयता सॉनेट की अनिवार्य विशेषता नहीं परन्तु बाह्य संगीत विधान से सॉनेट रचना का किसी प्रकार का विरोध भी नहीं।
६. सामान्यतः सॉनेट का स्वर आत्मकेन्द्रित या विषयी प्रधान होता है, वस्तुगत नहीं।

हिन्दी काव्य के आधुनिक काल में चतुर्दशपदियों का प्रयोग स्वच्छन्द-भाव धारा के कवियों ने प्रारम्भ किया था। प्रसाद जी ने इसे रूप में प्रस्तुत किया। नरेन्द्र शर्मा, प्रभाकर माचवे आदि कवियों ने भी इसे अपनाया है। सॉनेट तुकान्त और अतुकान्त दोनों रूपों में मिलते हैं। प्रयोगवाद के आगमन से इस कलागीत विधा को अधिक प्रोत्साहन न मिला। इसलिए छायावादी काव्य तक ही हम इसे प्रयोग में पाते मानते हैं।

लोकगीत—जैसा कि नाम से स्पष्ट है कि लोकगीत से सम्बद्ध गीतों का नाम है। लोक शब्द का अर्थ किसी जनपद का अथवा ग्राम का न होकर उस समस्त जनसमुदाय से लिया जाता है जो नगरों और ग्रामों दोनों का समुच्चय है। इनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार ग्रन्थ न होकर कुछ और है। इसलिए इस जनसमुदाय के जीवन की अनायास प्रवाहात्मक अभिव्यक्ति शिष्ट साहित्य के समान न होकर अनगढ़ होती है। लोकगीत इसी अर्थ में कलागीतों से भिन्न होते हैं। लोकगीतों की एक दीर्घ परम्परा है। डॉ० कृष्ण देव उपाध्याय के मतानुसार "प्राचीन काल में किसी विशिष्ट राजा के किसी अवदान—सत्कृत्य को लक्षित करके जो लोकगीत समाज में प्रचलित थे तथा जनता द्वारा गाये जाते थे वे ही 'गाथा' नाम से साहित्य के एक पृथक अंग के रूप में स्वीकृत किये गये। "इससे यह सिद्ध है कि वैदिक काल से ही लोकगीतों की परम्परा चली आ रही है। गाथाओं, ब्राह्मण ग्रन्थों से बढ़ती हुई लोकगीतों की परम्परा को महाभारत काल में अक्षुण्ण देखा जाता है। संस्कृत साहित्य के समानान्तर मौखिक

१. डॉ० निर्मला जैन— आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप विधाएँ, पृ० ५३४।

परम्परा में जनभाषाओं का साहित्य भी जन समाज में प्रचलित था; अतः यह स्पष्ट है कि भाषा और बोलियों के विकास के साथ-साथ लोकगीतों को भी उभरने का अवसर मिला है।

लोकगीतों में लोक संस्कृति प्रतिच्छायित हुई है। लोक संस्कृति जनसाधारण के दैनिक जीवन के क्रिया-कलापों के चित्रण से सामने आती है। सामान्य व्यक्ति वैयक्तिक और सामाजिक धरातल पर किस प्रकार कार्य करता है, सुख-दुःख में प्रतिक्रिया करता है, रीति रिवाजों को मानता है इन सबका लेखा-जोखा लोकगीतों में व्यक्त होता है। इन्हीं के आधार पर ही लोकगीतों का वर्गीकरण किया जाता है। वैशिष्ट्य के आधार पर लोकगीत इस प्रकार बाँटे जा सकते हैं[1] :

१. ऋतु गीत तथा आख्यान गीत
२. उत्सव और त्यौहार गीत
३. रीति-रिवाज सम्बन्धी गीत
४. श्रमगीत
५. भिक्षावृत्ति के गीत
६. लोक नृत्य गीत
७. यात्रा गीत
८. धार्मिक गीत

उपर्युक्त लोकगीत प्रकारों में सभी महत्वपूर्ण गीत अभिव्यक्तियाँ आ जाती है। आधुनिक युग में अनेक कलागीत रचयिताओं ने लोकगीतों की धुनों का आश्रय लेकर गीतों की रचना की है। निराला, पन्त, प्रसाद, अज्ञेय, रामविलास शर्मा आदि अनेक कवियों ने लोक साहित्य की इस विधा को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में आत्मसात करके काव्य सृजन किया है। लोकगीतों को चल चित्रों में विशेष स्थान मिला है। इससे भी अनेक कलागीत लेखकों ने इस ओर आने का प्रयत्न किया है। कुल मिलाकर लोकगीत आधुनिक युग साहित्य सृष्टि और अभिव्यक्ति कौशल के सुन्दर माध्यम बन गये हैं।

यहाँ पद्य के प्रमुख भेद समाप्त हो जाते हैं। साहित्य के अन्य भेदों को एक अलग अध्याय में विवेचित किया गया है।

---

१. डॉ० बलभद्र तिवारी : बुन्देली काव्य परम्परा, भाग १, पृ० ६।

द्वितीय अध्याय | # छन्द विवेचन

आधुनिक युग में छन्द कविता का अनिवार्य अंग नहीं माना जाता इसीलिए स्वच्छन्द कविता और मुक्त छन्द नाम की कविता प्रचलित हो गयी है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कविता छन्द की मूल विशेषता लय या गति से कट गयी है वरन् इसका केवल यही तात्पर्य है कि कविता में छन्द के अनुशासन का अब वह महत्व नहीं रहा जो पहले था। प्राचीन समय में कविता के लिए छन्दोबद्ध होना अनिवार्य था पर छन्द की इस अनिवार्यता और अनुशासन में भी छन्द की विविधता का पूरा अवकाश था, इसीलिए छन्दशास्त्र के अन्तर्गत तीन प्रकार के छन्दों का वर्णन है (१) सम छन्द, (२) अर्द्ध समछन्द और (३) विषम छन्द। जिसे हम आज मुक्त छन्द कहते हैं वह विषम छन्द का ही विस्तार है।

छन्द की अनिवार्यता न होने पर भी, कविता के पूरे विकास को समझने के लिए छन्दों का ज्ञान आवश्यक है। मात्रा या वर्ण की संख्या अथवा क्रम के अनुसार काव्य रचना छन्द कहलाती है। ऐसी रचना को ही कविता कहते हैं, इसको ही पद्य कहा जाता था क्योंकि वह पदों या चरणों में विभक्त होती है। इसके विपरीत गद्य सामान्य कथन है उसमें किसी प्रकार की लय या गति का प्रभाव नहीं होता।

जो रचनायें छन्द बद्ध होती हैं उनमें जहाँ अन्य बातों का प्रभाव रहता है वहाँ मूलभूत प्रभाव उनकी लय और गति का होता है। लय और गति के कारण छन्द बद्ध कविता उसी प्रकार आकर्षक बन जाती है जिस प्रकार नृत्य। नृत्य ही एक गति है पर उसमें एक क्रम और अनुशासन की विशेषता है। नृत्य की भाँति ही छन्द भी कविता को गति और लय में बाँधता है और इस प्रकार कविता में संगीत की विशेषता आ जाती है। छन्द बद्ध कविता को हम बार-बार सुनना और पढ़ना चाहते हैं और वह हमें सरलता से याद हो जाती है। उसको हम किसी भी अवसर पर सुना कर लोगों को प्रभावित कर सकते हैं तथा एकान्त में गुनगुना कर अपना मनोरंजन कर सकते हैं। इस प्रकार छन्द की कविता में अनेक दृष्टियों से आवश्यकता रहती है और उसका एक विशिष्ट महत्व भी है।

छन्द मुक्त कविता में भी एक प्रकार की गति और लय रहती है, उसे हम छन्द शास्त्र के हिसाब से विषम छन्द के अन्तर्गत परिगणित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित पंक्तियों को लेते हैं :—

उदयाचल से किरन धेनुएँ,
हाँक ला रहा वह प्रभात का ग्वाला,
पूँछ उठाये, चली आ रही
क्षितिज जंगलों से टोली,

उपर्युक्त पंक्तियाँ छन्द मुक्त आधुनिक कविता की हैं। इनमें प्रत्येक पंक्ति की गति अलग-अलग है इसलिए वे सम और अर्द्ध-सम-छन्दों में बँधी नहीं हैं, पर प्रत्येक पंक्ति की अपनी विशिष्ट लय उन्हें किसी न किसी छन्द की पंक्ति से सम्बद्ध करती है। इसमें प्रथम पंक्ति में 'पज्झटिका' छन्द, द्वितीय पंक्ति में योग छन्द, तृतीय पंक्ति में अरिल्ल छन्द, चतुर्थ पंक्ति में 'सखी' छन्द है। इस प्रकार कई नियमित छन्दों की पंक्तियाँ होने के कारण यह विषम छन्द के अन्तर्गत है। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि जिसे हम कविता कहते हैं उसके लिए छन्द अनिवार्य तत्व है। छन्द से कविता की मुक्ति वही स्वीकार कर सकते हैं जिन्हें छन्द की व्यापकता का परिज्ञान न हो।

नियमित छन्द चार चरणों में बद्ध रहता है। इन चरणों को पद या पाद कहते हैं। जिन छन्दों में चारों पद समान होते हैं उन्हें समछन्द और जिनमें दो-दो पद समान होते हैं उन्हें अर्द्ध समछन्द कहते हैं।

छन्दों के स्वरूप का निर्णय वर्ण अथवा मात्रा की गणना के आधार पर किया जाता है। जो छन्द वर्णों की गणना और क्रम के आधार पर निश्चित किये जाते हैं उन्हें वर्णिक छन्द तथा जो मात्रा की गणना के आधार पर निश्चित किये जाते हैं, उन्हें मात्रिक छन्द कहते हैं। मात्राओं की गणना वर्ण के लघु और गुरु अर्थात् ह्रस्व और दीर्घ स्वरूप के आधार पर होती है। उदाहरणार्थ 'जल' 'जाल' और 'जलज'— इन तीन शब्दों में प्रथम और द्वितीय में दो-दो वर्ण तथा तृतीय में तीन वर्ण हैं परन्तु मात्रा के हिसाब से प्रथम में दो मात्रायें, द्वितीय में तीन मात्रायें तथा तृतीय में भी तीन मात्रायें हैं। इस प्रकार यह निश्चित होता है कि लघु और गुरु कोई भी मात्रिक वर्ण एक वर्ण ही गिना जायेगा परन्तु गुरु वर्ण में मात्राएँ मानी जाती हैं। **लघु वर्ण के उच्चारण में जो समय लगता है उसी को 'मात्रा' कहते हैं।**

छन्दों के विवेचन के प्रसंग में प्रवाह का बड़ा ध्यान रखा जाता है। जहाँ कहीं मात्रा या गण के कारण समूह में बाधा पड़ती है वहाँ छन्द की गति में व्यवधान पड़ता है इसलिए उसे गतिभंग दोष कहते हैं। इस प्रकार छन्द के स्वाभाविक प्रवाह को **गति** कहा जाता है। छन्दों को पढ़ते समय बीच में कभी-कभी विराम की आवश्यकता होती है उस विराम को छन्दशास्त्र में **यति** कहा जाता है। यति के नियम का पालन केवल बड़े छन्दों में होता है।

छन्दों के भेद

वर्ण और मात्रा के नियमों के अनुसार छन्दों के दो भेद माने गये हैं— (१) वर्णिक छन्द और (२) मात्रिक छन्द। वर्णिक छन्द का ही दूसरा नाम **वृत्त** भी

है। वर्णिक छन्दों की गणना के लिए गणों का आधार लिया जाता है। गण तीन वर्णों के समूह को कहते हैं। गण आठ माने गये हैं: यगण, रगण, तगण, भगण, जगण, सगण, मगण, नगण। गणों की गणना के लिए एक दोहा प्रचलित हैं:

आदि मध्य अवसान, 'यरता' में लघु जानिये।
'भजसा' गुरु प्रमान, 'मन' तिहुँ गुरु लघु मानिये ॥

इसका अर्थ यह है कि यगण, रगण और तगण में क्रमशः आदि, मध्य और अन्त में लघु वर्ण होते हैं और अन्य वर्ण गुरु होते हैं। भगण, जगण, सगण में आदि मध्य और अन्त में क्रमशः गुरुवर्ण होते हैं और शेष लघु वर्ण। मगण में तीनों गुरु वर्ण तथा नगण में तीनों लघु वर्ण माने गये हैं। इसके लिए एक और सूत्र प्रचलित है:

'यमाताराजभान सलगा'

इसके अनुसार यमाता	=	।ऽऽ	(लघु गुरु गुरु)	में यगण
मातारा	=	ऽऽऽ	(गुरु गुरु गुरु)	में मगण
ताराज	=	ऽऽ।	(गुरु गुरु लघु)	में तगण
राजभा	=	ऽ।ऽ	(गुरु लघु गुरु)	में रगण
जमान	=	।ऽ।	(लघु गुरु लघु)	में जगण
भानस	=	ऽ।।	(गुरु लघु लघु)	में भगण
नसल	=	।।।	(लघु लघु लघु)	में नगण

गणों की गणना के लिए एक और दोहा प्रचलित है।

मायामें भूलहु नभ्रमि, यहैमा नपर तीत।
सुखजो तूचाहु सिसदा, रामन म भ जमीत ॥

इसमें माया में—मगण, भूलहु में भगण, नभ्रमि में नगण, यहैमा में यगण, नपर में नगण, सुखजो में सगण, तूचाहु में तगण, सिसदा में सगण, रामना में रगण और जमीत में जगण है।

वर्णिक छन्द

वर्णिक छन्दों के भेद—वर्णिक छन्द तीन प्रकार के होते हैं (१)—सम, (२) अर्द्ध सम, (३) विषम। जिनमें चारों चरणों में समान वर्ण हों; उन्हें **सम**; जिनमें पहले और तीसरे तथा दूसरे और चौथे चरणों में समान वर्ण हों, उन्हें **अर्द्ध सम** और जिसमें चारों चरणों में भिन्न-भिन्न संख्यायें हों, उन्हें **विषम** छन्द कहते हैं। आगे हम कुछ प्रचलित वर्णिक छन्दों के लक्षण-उदाहरण दे रहे हैं।

(१) शालिनी—इसके प्रत्येक चरण में एक मगण, दो तगण और दो गुरु होते हैं। यह वृत्त ११ अक्षरों का होता है। (म त त ग ग)

उदाहरण— ऽ ऽ ऽऽ ऽ। ऽ ऽ।ऽ ऽ
क्या-क्या होगा साथ, मैं क्या बताऊँ ?

है ही क्या, हा। आज जो मैं जताऊँ ?
तो भी तूली, पुस्तिका और वीणा,
चौथी मैं हूँ पाँचवी तू प्रवीणा।—साकेत-नवम सर्ग

(२) **भुजंगी**—प्रत्येक चरण में तीन यगण (।ऽऽ) और एक लघु, फिर एक गुरु होता है। इसके प्रत्येक चरण में ११ अक्षर होते हैं। (य य य ल ग)

उदाहरण— । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ
सदा देश की कीर्ति गाते रहें।
बढ़ा जाति को मोद पाते रहें।
पढ़ें पूर्वजों की कथा ध्यान दें,
चढ़े शीघ्र ऊँचे उन्हें मान दें। पद्य-प्रदीप उत्थान (गुप्तजी)

(३) **इन्द्रवज्रा**—इस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः दो तगण, एक जगण और दो गुरुवर्ण होते हैं। (त त ज ग ग)

उदाहरण— ऽ ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
मैं राज्य की चाह नहीं करूँगा,
है जो तुम्हें इष्ट वहीं करूँगा।
सन्तान जो सत्यवती जनेगी,
राज्याधिकारी वह ही बनेगी॥

इस छन्द में प्रत्येक चरण में दो तगण, एक जगण और दो गुरु है और कुल मिलकर ११ वर्ण होते हैं।

(४) **उपेन्द्रवज्रा**—इस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः जगण, तगण, जगण दो गुरु होते हैं। (ज त ज ग ग)

। ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
बड़ा कि छोटा कुछ काम कीजै,
परन्तु पूर्वापर सोच लीजै।
बिना बिचारे यदि काम होगा,
कभी न अच्छा परिणाम होगा॥

इस पद्य के प्रत्येक चरण में ग्यारह वर्ण हैं।

(५) **भुजंग प्रयात**—इस छन्द के प्रत्येक चरण में चार यगण होते हैं। इस प्रकार यह बारह वर्णों का छन्द होता है।

उदाहरण— । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ
कहूँ किन्नरी किन्नरी लै बजावैं
सुरी आसुरी बाँसुरी गीत गावैं
कहूँ यक्षिणी पक्षिणी को पढ़ावैं
नगी कन्यका पन्नगी को नचावैं—केशव—**रामचन्द्रिका**

इसमें प्रत्येक चरण में बारह वर्ण और चार तगण हैं।

(६) **वंशस्थ**—इस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः जगण, तगण, जगण, रगण, इस क्रम से बारह वर्ण रहते हैं। (ज त ज र)

उदाहरण— I S I S S I I S I S I S

लिये हथेली सम गात–पत्र में।
बड़े अनूठे–फल श्याम रंग के।
सदा खड़ा स्वागत के निमित्त था।
प्रफुल्लितों सा फलवान—फालसा ।।—हरिऔध : प्रिय प्रवास

(७) **द्रुत विलंबित**—इस छन्द में क्रमशः नगण, दो भगण और रगण होते हैं। (न भ भ र)

उदाहरण इस प्रकार है—

I I I S I I S I I S I S

झलकने पुलिनों पर भी लगी।
गगन के तल की यह लालिमा।
सरि सरोवर के जल में पड़ी।
अरुणता अति ही रमणीय थी ।।—हरिऔध : प्रिय प्रवास

उपर्युक्त उदाहरण में प्रत्येक चरण बारह वर्ण प्राप्त होते हैं।

(८) **वसन्त तिलका**—इस छन्द के प्रत्येक चरण में चौदह वर्ण होते हैं, जिनका क्रम 'त भ ज ज ग ग' अर्थात् तगण, भगण दो जगण और दो गुरु—इस रूप में होता हैं।

उदाहरण— S S I S I I I S I I S I S S

कुंजें, वही थल वही, यमुना वही है,
बेले पन वही, विटपी वही है।
हैं पुष्प–पल्लव वही, ब्रज भी वही है,
यों किन्तु श्याम बिन न वही जनाते ।।

—हरिऔध : प्रियप्रवास

(९) **मालिनी**—इस छन्द के प्रत्येक चरण में पन्द्रह वर्ण होते हैं और गणों का क्रम—दो नगण, भगण और दो यगण के अनुसार होता है। (न न भ य य)

उदाहरण— I I I I I I S I I I S S I S S

वन वन फिरती हैं खिन्न गायें अनेकों।
शुक भर-भर आँखें गेह को देखता है।
सुधि कर जिसकी है सारिका नित्य रोती।
वह शुचि रुचि स्वाती मंजु मोती कहाँ है ।।

—हरिऔध : प्रिय प्रवास

इस प्रकार मालिनी छन्द में १५ वर्णों का प्रत्येक चरण होता है।

(१०) मंदाक्रान्ता—इसका प्रत्येक चरण १७ वर्णों का होता है। इसमें मगण, भगण, नगण, दो तगण और दो गुरु होते हैं। यथा-(म भ न त त ग ग)

उदाहरण—

S S S S । । । । । S S । S S । S S
कुंजों बागों विपिन यमुना-कूल या आलयों में।
सद् गंधों से भरित मुख की वास सम्बन्ध से आ।
कोई भौंरा विकल करता हो किसी कामिनी को।
तो सद्भावों सहित उसको ताड़ना दे भगाना ।।

—हरिऔध : प्रिय प्रवास

इस प्रकार मंदाक्रान्ता के प्रत्येक चरण में पाँच गण और दो गुरु होने से कुल १७ वर्ण होते हैं।

(११) शिखरिणी—शिखरिणी छन्द में सत्रह वर्ण होते हैं और इसमें ६ तथा ११ वर्णों पर यति होती है। वर्णों का विन्यास यगण, मगणं, नगण, सगण, भगण, लघु और गुरु के क्रम से होता है। (य म न स भ ल ग)

उदाहरण—

। S S S S S । । । । । S S । । । S
अनूठी आभा से, सरस-सुषमा से सुरप्स से,
बना जो देती थी, बहु गुणमयी भू विपिन को।
निराले फूलों की, विविध दलवाली अनुपमा,
जड़ी बूटी हो हो, बहु फलवती थीं विलसती ।।

—हरिऔध : प्रिय प्रवास

इस प्रकार संस्कृत का प्रसिद्ध शिखरिणी छन्द सत्रह वर्णों का होता है और इसकी बड़ी गम्भीर और ललित गति होती है।

(१२) शार्दूलविक्रीड़ित—शार्दूलविक्रीड़ित उन्नीस वर्णों का वृत्त होता है और बारह और सात वर्णों पर यति होती है। इसके अन्तर्गत क्रमशः 'म स ज स त त ग' अर्थात् मगण, सगण, जगण, सगण, दो तगण के बाद एक गुरु होता है।

उदाहरण— S S S । । S । S । । । S S S । S S । S
ऊंचा शीश सहर्ष शैल करके था देखता व्योम को।
या होता अति ही स-गर्व वह था सर्वोच्चता दर्प से।
या वार्ता यह था प्रसिद्ध करता सामोद संसार में।
मैं हूं सुन्दर मानदण्ड ब्रज की शोभामयी भूमिका।

—हरिऔध : प्रिय प्रवास

(१३) सवैया—बाईस से लेकर छब्बीस वर्णों तक के वृत्त 'सवैया' कहलाते हैं। इस छन्द के मुख्य भेद मदिरा, चकोर, मत्तगयंद, अरसात, किरीट, दुर्मिल, सुन्दरी आदि होते हैं। ये सवैया छन्द प्रायः सात या आठ गणों से बनते हैं।

उदाहरण— तड़पै तड़िता चहुँ ओरन ते, छिति छाइ समीरन की लहरैं,
मदमाते महा गिरि-श्रृंगन पै, गन मंजु मयूरन के कहरैं।
इनकी करनी बरनी न परै, मगरूर गुमानन सों गहरैं,
घन ये नभ-मंडल में छहरैं, घहरैं कहुँ जाय कहूँ ठहरैं॥

१. **चकोर**—सात भगण और एक गुरु और लघु मिलकर चकोर सवैया होता है।

उदाहरण— सावन आय समीप लगो तब नारि के प्रान बचावन काज।
बादर दूत बनावन को, कुसलात सँदेश पठावन काज।
कूटज फूल नये कर लै, मन कल्पित अर्घ बनावन काज।
बोल उठ्यो हँसते मुख ह्वै, वह मेघ तें प्रीति बढ़ावन काज।

२. **मदिरा सवैया**—७ भगण (ऽ।।) और एक गुरु (ऽ) इस प्रकार २२ वर्णों का 'मदिरा' सवैया होता है। यथा—

राम को काम कहा ? रिपु जीतहिं कौन कबै रिपु जीत्यौ कहाँ ?
बालि बली छल सों भृगु नन्दन गर्व हरो द्विज दीन महा।
दीन सो क्यों ? छिति छत्र हत्यो, बिना प्राननि हैहयराज कियो।
हैहय कौन ? वहै बिसरयो, जिन खेलन हो तुम्हें बाँधि लियो।

३. **मत्तगयन्द सवैया**—इसके प्रत्येक चरण में सात भगण और दो गुरु होते हैं।

उदाहरण— भाल में अंकित देखी सुधा, जिनको, उनको विष घूँटते देखा।
धूल में लोटना था जिनको, उनको सुख संपति लूटते देखा।
जो जकड़ें विषयों से रहे, उनका भवबन्धन छूटते देखा।
फूलते औ फलते तरु के, फल को गिर टूटते फूटते देखा।

—सुनाल १ अनूप शर्मा

४. **अरसात सवैया**—इसके प्रत्येक चरण में सात भगण और एक रगण होता है।

उदाहरण— जा थल कीन्हें बिहार अनेकन ता थल काँकरी बेठि चुन्यौ करै।
जा रसना सों करीं वहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यौ करैं॥
'आलम' जौन से कुंजनि मैं करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यौ करैं।
आंखिन में जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं॥

५. **किरीट सवैया**—किरीट के प्रत्येक चरण में आठ भगण (ऽ।।) होते हैं।

उदाहरण— ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।।
भीषम भोरहि ते बनि पूषन है जैन के तन को बहु तावत
आग लगाइ अगारन माँहि अँगारै धरातल पै बगरावत
का 'हरिऔध' करै कित जाय अहै तनताप अबार न पावत
ना तह खानन में कल आवति ना खस खाननि में सुख पावत।

—हरिऔध

६. **दुर्मिल सवैया**—इससे प्रत्येक चरण में आठ सगण (।।ऽ) होते हैं। इसका दूसरा नाम 'चन्द्रकला' है।

उदाहरण— सखि नील नभस्सर में उतरा यह हंस अहा ! तरता-तरता।
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं निकला जिनको चरता-चरता।
अपने हिमबिन्दु बचे तब भी चलता उनको धरता-धरता।
गड़ जाएँ न कंटक भूतल के कर डाल रहा डरता-डरता।
—मैथिलीशरण गुप्त : साकेत

७. **सुन्दरी सवैया**—इसके प्रत्येक चरण में आठ सगण और एक गुरु होता है। इसका दूसरा नाम 'सुखदानी' है।

उदाहरण— यह होगा महारण राग के साथ, युधिष्ठिर हो विजयी निकलेगा,
नर-संस्कृति की रणछिन्न लता पर शान्ति-सुधा-फल दिव्य फलेगा,
कुरुक्षेत्र की धूलि नहीं इति पंथ की, मानव ऊपर और चलेगा,
मनु के यह 'पुत्र निराश न हों ; नवधर्म प्रदीप अवश्य जलेगा।
—कुरुक्षेत्र, पंचम सर्ग

(१४) दंडक—छब्बीस से अधिक वर्णों वाले छन्द 'दंडक' कहलाते हैं। इन छन्दों में 'घनाक्षरी' विशेष रूप से प्रसिद्ध है।

घनाक्षरी में बत्तीस या तैंतीस वर्ण होते हैं। बत्तीस वर्णों का छन्द 'रुपघनाक्षरी' और तैंतीस वर्णों का छन्द 'देवघनाक्षरी' कहलाता है। इस छन्द के मुख्य भेद इस प्रकार हैं—

१. **मुक्तक**—जिन वर्णिक छन्दों में लघु गुरु का कोई निश्चित क्रम नहीं होता, केवल वर्णों की संख्याएं ही निश्चित होती है, उन्हें मुक्तक-दण्डक कहते हैं।

उदाहरण—युद्ध होगा महा, युद्ध होगा महा,
युद्ध होगा महा, राजनीतिज्ञ के वृन्द ने पूर्व ही क्रूर भावी कही
तार आलाप से, घोर संलाप से। —अनूप शर्मा, विराट् संग्राम

२. **मनहरण कवित्त**—इसके प्रत्येक चरण में ३१ वर्ण होते हैं। १६ और १५ पर विराम होता है। चरण के अन्त में गुरु अवश्य आना चाहिए।

उदाहरण—झहरि झहरि झीनी बूंद हैं परति मानो,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन मैं।
आनि कह्यौ स्याम मों सौं चलौ झूलिवे को आज,
फूली ना समानी भई ऐसी हौं मगन मैं॥
चाहति उठ्योई उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गये भाग मेरे जागि वा जगन मैं।
आँखि खोलि देखौं तौ न घन हैं, न घनश्याम,
वेई छाईं बूंदे मेरे आँसू है दृगन मैं॥ —देव

(३) **रूप घनाक्षरी**—इसके प्रत्येक चरण में ३२ वर्ण होते हैं ओर सोलह-सोलह पर विराम होता है। चरण के अन्त में गुरु-लघु अथवा लघु होता है। कहीं-कहींअन्त में गुरु भी पाया जाता है।

उदाहरण— स्वच्छतर अम्बर में छनकर आ रहा था,
स्वादु मधु गन्ध से सुवासित समीर सोम।
त्यागी प्रेम याग के व्रती वे हुती जायापती;
पान करते थे गल-बाँह दिये आपा-होम।
क्षुद्र कास कुश से लगाकर समुद्र तक,
मेदिनी में किसका था मुदित न रोम रोम?
समुदित चन्द्र किरणों का चौंर ढारता था,
आरती उतारता था दिव्य दीप वाला व्योम।

—मैथिलीशरण गुप्त : साकेत

(४) **देवघनाक्षरी**—इसके प्रत्येक चरण में तैंतीस वर्ण होते हैं। आठ, आठ, आठ और नव पर विराम होता है। चरण के अन्त में बहुधा नगण आता है।

उदाहरण— यह प्रणतों का पंक नाश कर देते सदा,
हो रहे हैं यद्यपि महावर से पंकीभूत।
सम्यक् अतुलता निवास करती है यहीं,
यद्यपि किये हैं तुला कोटि द्वन्द्व अंकीभूत।
देते अष्ट-सिद्धि नवनिधि हैं प्रशंसकों को,
तो भी करते हैं कवियों की गति रंकीभूत।
यद्यपि कलंक हरते हैं चारों वर्ण का भी,
हो रहा सुवर्ण तो भी पद का कलंकीभूत।

यह देवघनाक्षरी का उदाहरण आधुनिक काव्य भाषा की सामर्थ्य बताता है।

मात्रिक छन्द

इन छन्दों की व्यवस्था मात्राओं की गणना के आधार पर की जाती है। इन्हें 'जाति' छन्द भी कहते हैं। मात्रिक छन्दों के प्रत्येक चरण में मात्राओं की संख्या तो निश्चित रहती ही है परन्तु वर्णों की संख्या नहीं रह पाती।

मात्रिक छन्द के प्रकार—वर्णिक छन्द के समान मात्रिक छन्द भी तीन प्रकार के होते हैं—सम, अर्द्ध सम और विषम।

प्रमुख सममात्रिक छन्द

(१) **तोमर**—इसके प्रत्येक चरण में बारह मात्रायें होती हैं और अन्त में क्रम से गुरु और लघु आते हैं। इसे वामन भी कहते हैं।

उदाहरण— प्रस्थान वन की ओर,
या लोक मन की ओर,

६. **दुर्मिल सवैया**—इससे प्रत्येक चरण में आठ सगण (।।S) होते हैं। इसका दूसरा नाम 'चन्द्रकला' है।

उदाहरण— सखि नील नभस्सर में उतरा यह हंस अहा ! तरता-तरता।
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं निकला जिनको चरता-चरता।
अपने हिमबिन्दु बचे तब भी चलता उनको धरता-धरता।
गड़ जाएँ न कंटक भूतल के कर डाल रहा डरता-डरता।
—मैथिलीशरण गुप्त : साकेत

७. **सुन्दरी सवैया**—इसके प्रत्येक चरण में आठ सगण और एक गुरु होता है। इसका दूसरा नाम 'सुखदानी' है।

उदाहरण— यह होगा महारण राग के साथ, युधिष्ठिर हो विजयी निकलेगा,
नर-संस्कृति की रणछिन्न लता पर शान्ति-सुधा-फल दिव्य फलेगा,
कुरुक्षेत्र की धूलि नहीं इति पंथ की, मानव ऊपर और चलेगा,
मनु के यह 'पुत्र निराश न हों; नवधर्म प्रदीप अवश्य जलेगा।
—कुरुक्षेत्र, पंचम सर्ग

(१४) **दंडक**—छब्बीस से अधिक वर्णों वाले छन्द 'दंडक' कहलाते हैं। इन छन्दों में 'घनाक्षरी' विशेष रूप से प्रसिद्ध है।

घनाक्षरी में बत्तीस या तैंतीस वर्ण होते हैं। बत्तीस वर्णों का छन्द 'रुपघनाक्षरी' और तैंतीस वर्णों का छन्द 'देवघनाक्षरी' कहलाता है। इस छन्द के मुख्य भेद इस प्रकार हैं—

१. **मुक्तक**—जिन वर्णिक छन्दों में लघु गुरु का कोई निश्चित क्रम नहीं होता, केवल वर्णों की संख्याएँ ही निश्चित होती है, उन्हें मुक्तक-दण्डक कहते हैं।
उदाहरण—युद्ध होगा महा, युद्ध होगा महा,
युद्ध होगा महा, राजनीतिज्ञ के वृन्द ने पूर्व ही क्रूर भावी कही
तार आलाप से, घोर संलाप से। —अनूप शर्मा, विराट् संग्राम

२. **मनहरण कवित्त**—इसके प्रत्येक चरण में ३१ वर्ण होते हैं। १६ और १५ पर विराम होता है। चरण के अन्त में गुरु अवश्य आना चाहिए।

उदाहरण—झहरि झहरि झीनी बूँद हैं परति मानो,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन मैं।
आनि कह्यौ स्याम मों सौं चलौ झूलिवे को आज,
फूली ना समानी भई ऐसी हौं मगन मैं॥
चाहति उठ्योई उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गये भाग मेरे जागि वा जगन मैं।
आँखि खोलि देखौं तौ न घन हैं, न घनश्याम,
वेई छाईं बूँदे मेरे आँसू है दृगन मैं॥ —देव

(३) **रूप घनाक्षरी**—इसके प्रत्येक चरण में ३२ वर्ण होते हैं और सोलह-सोलह पर विराम होता है। चरण के अन्त में गुरु-लघु अथवा लघु होता है। कहीं-कहींअन्त में गुरु भी पाया जाता है।

उदाहरण— स्वच्छतर अम्बर में छनकर आ रहा था,
स्वादु मधु गन्ध से सुवासित समीर सोम।
त्यागी प्रेम याग के व्रती वे हृती जायापती;
पान करते थे गल-बाँह दिये आपा-होम।
क्षुद्र कास कुश से लगाकर समुद्र तक,
मेदिनी में किसका था मुदित न रोम रोम ?
समुदित चन्द्र किरणों का चौंर ढारता था,
आरती उतारता था दिव्य दीप वाला व्योम।

—मैथिलीशरण गुप्त : साकेत

(४) **देवघनाक्षरी**—इसके प्रत्येक चरण में तैंतीस वर्ण होते हैं। आठ, आठ, आठ और नव पर विराम होता है। चरण के अन्त में बहुधा नगण आता है।

उदाहरण— यह प्रणतों का पंक नाश कर देते सदा,
हो रहे हैं यद्यपि महावर से पंकीभूत।
सम्यक् अतुलता निवास करती है यहीं,
यद्यपि किये हैं तुला कोटि द्वन्द्व अंकीभूत।
देते अष्ट-सिद्धि नवनिधि हैं प्रशंसकों को,
तो भी करते हैं कवियों की गति रंकीभूत।
यद्यपि कलंक हरते हैं चारों वर्ण का भी,
हो रहा सुवर्ण तो भी पद का कलंकीभूत।

यह देवघनाक्षरी का उदाहरण आधुनिक काव्य भाषा की सामर्थ्य बताता है।

मात्रिक छन्द

इन छन्दों की व्यवस्था मात्राओं की गणना के आधार पर की जाती है। इन्हें 'जाति' छन्द भी कहते हैं। मात्रिक छन्दों के प्रत्येक चरण में मात्राओं की संख्या तो निश्चित रहती ही है परन्तु वर्णों की संख्या नहीं रह पाती।

मात्रिक छन्द के प्रकार—वर्णिक छन्द के समान मात्रिक छन्द भी तीन प्रकार के होते हैं—सम, अर्द्ध सम और विषम।

प्रमुख सममात्रिक छन्द

(१) **तोमर**—इसके प्रत्येक चरण में बारह मात्रायें होती हैं और अन्त में क्रम से गुरु और लघु आते हैं। इसे वामन भी कहते हैं।

उदाहरण— प्रस्थान वन की ओर,
या लोक मन की ओर,

होकर न धन की ओर,
है राम जन की ओर।

(२) **लीला**—इसके प्रत्येक चरण में बारह मात्रायें होती हैं। चरण के अन्त में जगण (।ऽ।) आना आवश्यक है।

उदाहरण—
स्तब्ध अन्धकार सघन,
मन्द गन्ध-भार पवन,
ध्यान-लग्न, नैश गगन,
मूंदे पल नीलोत्पल।

(३) **हँसी या चौबोला**—इसके प्रत्येक चरण में १५ मात्रायें होती हैं। अन्त में लघु और गुरु का क्रम होना चाहिए।

सन्त समागम सन्तत सजौ,
शरणागत ह्वै प्रभु को भजौ। —(भानु छन्द प्रभाकर से)

(४) **चौपई**—इसका दूसरा नाम जयकरी है। प्रत्येक चरण में १५ मात्राएँ होती हैं। चरण के अन्त में गुरु-लघु का क्रम होता है।

उदाहरण—
हम मारुत के मधुर झकोर।
नील व्योम अंचल के छोर।
बाल-कल्पना से अनजान।
फिरते रहते हैं निशि-भोर।
उर-उर के प्रिय जग के प्राण। —पंत : पल्लविनी

(५) **अरिल्ल**—प्रत्येक चरण में चौकल (चार मात्रायें) होने से सोलह मात्रायें होती हैं। ध्यान देने की बात है कि चौकल में 'जगण' नहीं आना चाहिये। अन्त में दो लघु वर्ण होना आवश्यक है।

उदाहरण—
निज सागर को थाह रहा हूँ।
खोज गीत में राह रहा हूँ।
ग्रंथि हृदय की खोल रहा हूँ,
उन्मद सा कुछ बोल रहा हूँ।

(६) **चौपाई**—चौपाई के प्रत्येक चरण में सोलह मात्रायें होती हैं पर इसके प्रत्येक चरण के अन्त में जगण और तगण का प्रयोग वर्जित है।

उदाहरण—
जगमग-जगमग हम जग का मग,
ज्योतित प्रतिपग करते जगमग।
हम ज्योतिशलभ हम कोमल-प्रभ
हम सहज सुलभ दीपों के नभ। —पंत : पल्लविनी

प्रत्येक चरण में १६-१६ मात्रायें हैं अतः चौपाई छन्द है।

(७) **लवंगम**—इसके प्रत्येक चरण में २१ मात्रायें होती हैं। इसका नियम

इस प्रकार है कि क्रम से एक छकल (६ मात्रायें), एक द्विकल, दो त्रिकल, एक चौकल (जिसमें जगण का निषेध है) और अन्त में लघु-गुरु क्रम से आते हैं।

उदाहरण— मेरा प्रिय हिंडोल निकुंजागार तू।
जीवन-सागर, भाव रत्न भण्डार तू ॥
मै हूँ तेरा सुमन चढ़ूँ, सरसूँ कहीं।
मैं हूँ तेरा जलद, बढ़ूँ बरसूँ कहीं ॥ गुप्त : साकेत

(८) **रोला**—रोला छन्द के प्रत्येक चरण में चौबीस मात्रायें होती हैं। इसमें ११ और १३ मात्राओं पर विराम होता है।

उदाहरण— नव उज्ज्वल जलधार, हार हीरक-सी सोहति,
बिच-बिच छहरति बूँद, मध्य मुक्ता-मन मोहति।
लोल लहर लहि पवन, एक पै इक इमि आवत,
जिमि नर गन मन विविध, मनोरथ करत मिटावत ॥
—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सत्य हरिश्चन्द्र से)

इस पद के प्रत्येक चरण में ११ और १३ मात्राओं पर विराम और कुल २४ मात्रायें हैं अतः रोला छन्द है।

(९) **गीतिका**—इसके प्रत्येक चरण में चौदह और बारह मात्राओं पर विराम होकर, छब्बीस मात्रायें होती हैं। चरण के अन्त में लघु-गुरु का क्रम होता है, यदि रगण (ऽ। ऽ) हो तो विशेष सुन्दर होता है। तीसरी, दसवीं, सत्रहवीं और चौबीसवीं मात्रायें लघु रहनी चाहिए।

उदाहरण— देवता थे वे हुए दर्शन अलौकिक रूप था।
देवता थे मधुर सम्मोहन-स्वरूप अनूप था।
देवता थे, देखते ही बन गई थी भक्त मैं।
हो गई उस रूप-लीला पर अटल आसक्त मैं ॥
—सुभद्रा कुमारी चौहान : मुकुल से

(१०) **हरिगीतिका**—हरिगीतिका के प्रत्येक चरण में २८ मात्रायें होती हैं और इनमें १६ और १२ पर विराम होता है। इस छन्द के प्रत्येक चरण के अन्त में रगण (ऽ। ऽ) अथवा गुरु-लघु आना आवश्यक है।

उदाहरण— खग-वृन्द सोता है अतः कल-कल नहीं होता वहाँ,
बस मंद मारुत का गमन ही मौन है खोता जहाँ।
इस भाँति धीरे से परस्पर, कह सजगता की कथा,
यों दीखते हैं वृक्ष ये, हों विश्व के प्रहरी यथा ॥
—हरिऔध : प्रिय प्रवास

(११) **वीर (आल्हा)**—वीर छन्द के प्रत्येक चरण में ३१ मात्रायें होती हैं तथा १६ और १५ मात्राओं पर विराम होता है। प्रत्येक चरण के अन्त में गुरु-लघु (ऽ।) होना आवश्यक है।

उदाहरण— फिर परियों के बच्चों से हम सुभग सीप के पंख पसार,
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में, पकड़ इन्दु के कर सुकुमार।
अनिल विलोड़ित गगन सिन्धु में प्रलय बाढ़-से चारों ओर,
उमड़ घुमड़ हम लहराते हैं बरसा उपल, तिमिर घनघोर।

—पंत

(१२) **मराल**—इसके प्रत्येक चरण में बत्तीस मात्रायें होती हैं। अन्त में क्रम से गुरु-लघु होते हैं।

उदाहरण— हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक-हार॥
जगे हम, लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम-तम पुंज हुआ तब नाश, अखिल संसृति हो उठी अशोक॥

—स्कन्दगुप्त

इसी प्रकार अर्द्ध सममात्रिक छन्दों में से प्रमुख का वर्णन आगे किया जा रहा है।

अर्द्ध सम-मात्रिक छन्द

(१) **दोहा**—इस छन्द के पहले और तीसरे चरणों में १३-१३ मात्रायें और दूसरे तथा चौथे चरणों में ११-११ मात्रायें होती हैं। इसके सम चरणों के अन्त में गुरु-लघु होना चाहिए तथा विषम चरणों के प्रारम्भ में जगण नहीं आना चाहिए।

उदाहरण— मानस-मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप।
जलती-सी उस विरह में, बनी आरती आप॥

—गुप्त जी : साकेत।

इस पद्य के पहले और तीसरे चरण में १३-१३ तथा दूसरे और चौथे चरण में ११-११ मात्रायें हैं अतः यह दोहा छन्द है।

(२) **सोरठा**—सोरठा छन्द दोहा छन्द का उल्टा है। इस छन्द के प्रथम और तृतीय चरणों में ११-११ मात्राएँ तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणों में १३-१३ मात्राएँ होती हैं। पहले और तीसरे चरण के अन्त में गुरु लघु आते हैं तथा तुक भी मिलती है।

उदाहरण—
। । । । ऽ । । ऽ ।
लिखकर लोहित लेख,
डूब गया दिनमणि अहा!
व्योम-सिन्धु सखि! देख,
तारक बुदबुद दे रहा॥

—गुप्त : साकेत

(३) **बरवै**—इसके प्रथम तथा तृतीय चरणों में से प्रत्येक में १२-१२ और

द्वितीय तथा चतुर्थ में प्रत्येक में ७-७ मात्राएँ होती हैं। सम चरणों के अन्त में गुरु-लघु क्रम से रहते हैं।

उदाहरण— I I I I S S I I I I S I I S I
अवधि शिला का उर पर था गुरु भार।
तिल तिल काट रही थी दृग जल धार॥
—मैथिलीशरण गुप्त

(४) **उल्लाला**—इसके प्रथम तथा तृतीय चरणों में १५-१५ और द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों में १३-१३ मात्रायें होती हैं।

उदाहरण—
मेरा शिशु-संसार यह,
दूध पिये परिपुष्ट हो।
पानी के ही पात्र तुम,
प्रभो ! रुष्ट या तुष्ट हो !
—मैथिलीशरण गुप्त : यशोधरा

विषम मात्रिक छन्द

हिन्दी के प्राचीन छन्दों में छप्पय और कुण्डलिया विषम छन्द माने गये हैं। ये दोनों छन्द दो अन्य छन्दों के मेल से बनते हैं।

छप्पय—छप्पय छः चरणों का छन्द है। इसके पहले चार चरणों में रोला छन्द और अन्तिम दो चरणों में उल्लाला छन्द रहता है। 'रोला' छन्द के प्रत्येक चरण में ग्यारह और तेरह के विराम से चौबीस मात्राएँ होती हैं और 'उल्लाला' छन्द के पहले और तीसरे चरणों में पन्द्रह मात्राएँ तथा दूसरे और चौथे चरणो में तेरह मात्राएँ होती हैं।

उदाहरण— S S I I I I S I I I I I I I I S I I S
नीलांबर परिधान, हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य-चन्द्र युग-मुकुट, मेखला, रत्नाकर हैं।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मंडन हैं,
बन्दी जन खग-वृंद, शेष फन सिंहासन हैं। (रोला)
I I S I I S I I S I S I I S S I I S I S
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेश की;
हे मातृभूमि ! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की॥ (उल्लाला)
—मैथिलीशरण गुप्त : पद्य प्रबन्ध (काव्य संकलन पृ० ४८)

कुंडलिया – कुण्डलिया छन्द में भी छप्पय की भाँति छः चरण होते हैं, और प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ होती हैं। पर ये २४ मात्राएँ एक छन्द की न होकर दोहा और रोला इन दो छन्दों की होती हैं। ये दोनों छन्द मानो कुंडली रूप से एक दूसरे से गुँथे होते हैं, इसलिए इसे कुंडलियो छन्द कहते हैं। जिस

शब्द से इस छन्द का प्रारम्भ होता है उसी से इसका अन्त भी होता है; साथ ही दोहे का चौथा चरण रोला छन्द के पहले चरण का एक भाग होकर आता है।

हिन्दी साहित्य में दीनदयाल गिरि और गिरिधर कविराय की कुंडलिया प्रसिद्ध हैं।

उदाहरण— S I I S I I S I S I I I I S I I S I

चौदह चक्कर खायगी जब यह भूमि अभंग।
घूमेंगे इस ओर तब प्रियतम प्रभु के संग।। (दोहा)
I I I I I I S S I S I S I I I I I S
प्रियतम प्रभु के संग आयँगे तब हे सजनी।
अब दिन पर दिन गिनो और रजनी पर रजनी !
पर पल-पल ले रहा यहाँ प्राणों से टक्कर।
कलहमूल यह भूमि लगावे चौदह चक्कर।।

—मैथिलीशरण गुप्त : साकेत

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी का समस्त समर्थ काव्य छन्दों के आधार पर ही निर्मित हुआ है जो यह सिद्ध करता है कि कविता के लिए छन्द का कोई न कोई रूप-विधान करना आवश्यक है। छन्द के बिना कविता का व्यक्तित्व नहीं बन पाता और न वह स्मरणीय ही होती है। अतएव छन्द काव्य का महत्वपूर्ण अंग है।

———

अध्याय ३ | अलंकार

काव्य में अभिव्यक्ति को प्रभावशाली और चमत्कारपूर्ण बनाने वाले तत्व को अलंकार कहते हैं।

अलंकार का लक्षण

शब्द और अर्थ के चमत्कारपूर्ण ललित प्रयोग के कारण काव्य में जो सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है, उसे अलंकार कहते हैं।

अलंकार के प्रकार

अलंकार के मुख्य तीन प्रकार होते हैं—(१) शब्दालंकार, (२) अर्थालंकार और (३) उभयालंकार।

शब्दालंकार

किसी रचना में जहाँ शब्दों के द्वारा चमत्कार होता है वहाँ शब्दालंकार होता है।

अनुप्रास, यमक और श्लेष—ये तीन मुख्य शब्दालंकार हैं।

१. **अनुप्रास**—काव्य में जहाँ व्यंजनों की बार-बार आवृत्ति होने से चमत्कार उत्पन्न होता है वहाँ अनुप्रास अलंकार माना जाता है।

उदाहरण—

तुम तुंग हिमालय शृंग,
और मैं चंचल गति सुरसरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास,
और मैं कान्त कामिनी कविता॥ —निराला : परिमल

इसमें तुम और तुंग में 'त' की तथा 'कान्त', 'कामिनी' और 'कविता' में 'क' की आवृत्ति है। इसलिए अनुप्रास अलंकार हुआ।

एक दूसरा उदाहरण—

लपट से झट रूख जले-जले नद नदी घट सूखे चले-चले
विकल ये मृग मीन मरे-मरे विकल ये दृग दीन भरे-भरे। —गुप्त

यहाँ पट-झट में 'ट' की, नद-नदी में 'द' की मृग मीन में 'म' की और दृगदीन में 'द' की एक-एक बार आवृत्ति होती है।

अनुप्रास अलंकार का व्यापकता से प्रयोग होता है अतः इसे विस्तार से जानना अपेक्षित है। इसके मुख्य तीन भेद होते हैं—

(१) छेकानुप्रास, (२) वृत्त्यानुप्रास और (३) लाटानुप्रास।

(१) **छेकानुप्रास**—जब एक अथवा अनेक वर्णों की एक बार आवृत्ति हो तब छेकानुप्रास होता है। जैसे,

विस्मृति का नील नलिन रस बरसो अपांग के घन से। (प्रसाद)

यहाँ नील नलिन में 'न' 'ल' की और 'रस बरसो में 'र' 'स' की एक बार आवृत्ति होने से छेक है।

इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण आधुनिक गीत काव्य से दिया जा सकता है।

पी के फूटे आज प्यार के पानी बरसा री।
हरियाली छा गई, हमारे सावन सरसा री ॥ —भवानीप्रसाद मिश्र

इसमें उत्तरार्द्ध में 'ह' और 'स' की अलग-अलग क्रमशः 'हरियाली हमारे' और 'सावन सरसा' में केवल एक बार क्रमवार आवृत्ति हुई है, इसलिये यह भी छेक है।

(२) **वृत्त्यानुप्रास**—जब एक अथवा अनेक वर्ण दो से अधिक बार एक से क्रम में आवें, तब वृत्त्यानुप्रास होता है। इसमें स्वर की समानता आवश्यक नहीं है।

उदाहरण— कहीं सुनाती निज कंत साथ थी
स्वकाकली को कल कंठ कोकिला। —हरिऔध

इस उदाहरण में 'कल' व्यंजनों की अनेक बार क्रमशः आवृत्ति हुई है।

विशेष—अनुप्रास को अलंकार तब कहते हैं जब अनेक बार आने वाले वर्ण कविता में वर्णित रस के अनुकूल होते हैं।

वृत्त्यानुप्रास में तीन वृत्तियाँ पाई जाती हैं। आचार्य-श्रेष्ठ भट्टोद्भट ने इन्हें वृत्तियों के आधार पर तीन अनुप्रास प्रकार दिखाये हैं। ये वृत्तियाँ हैं—

(१) उपनागरिका, (२) परुषा और (३) कोमला।

(1) **उपनागरिका**—माधुर्य-व्यंजक वर्णों के नियोजन से उपनागरिका वृत्ति बनती है। विदग्धतामयी कामिनी से उपमा देने के कारण इसका नाम उपनागरिका है। 'क' से 'म' तक के वर्ण तथा वर्ग के अन्त्य वर्ण से उसी वर्ग के किसी वर्ण से युक्त वर्णों वाली यह वृत्ति होती है। यही इसकी मूल विशेषता है।

उदाहरण— मृदु मन्द-मन्द, मन्थर-मन्थर
लघु तरणि हंसिनी-सी सुन्दर
तिर रही खोल पालों के पर —'गुञ्जन' से

(२) **परुषा**—ओज गुण की अभिव्यक्ति करने वाले वर्णों से युक्त वृत्ति

परुषा होती है। इसमें तालब्य 'श', मूर्द्धन्य 'ष', रेफ से युक्त वर्ण, ट-ठ-ड-ढ वर्ण तथा ह्व, ह्य, आदि संयुक्ताक्षार भी रहते हैं।

उदाहरण— लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर!
शत-शत फेनोछ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर॥ 'पल्लव' से (पंत)

(३) **कोमला या ग्राम्या**—उपर्युक्त दोनों वृत्तियों से शेष रहने वाले वर्णों से सृजित कविता में कोमला वृत्ति मिलती है।

इस वृत्ति में 'ल', 'क', रेफ आदि वर्णों का प्रयोग विशेष है। इसका एक अन्य नाम ग्राम्या वृत्ति है। आचार्य भट्टोद्भट ने इसे ग्राम्यानुप्रास कहा है। आधुनिक काव्य में पन्त ने इसका सुन्दर प्रयोग किया है।

तापस बाला गंगा निर्मल
शशि-मुख से दीपित मृदु करतल।
लहरे उस पर कोमल कुन्तल।
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर
लहराता तार तरल सुन्दर
चंचल-अंचल-सा नीलाम्बर॥ —'गुञ्जन' से (पन्त)

विमर्श—आचार्य भट्टोद्भट् ने इन्हीं तीनों वृत्तियों के नामों पर ही अनुप्रास के नाम दिये हैं। बाद के आचार्यों ने सबको वृत्यानुप्रास के ही भीतर समेट लिया है।

लाटानुप्रास—जहाँ काव्य रचना में शब्दावली और अर्थ भी एक सा ही प्रतीत होता हो किन्तु अन्वय करने पर उसमें अर्थ की विभिन्नता प्रकट हो, वहाँ लाटानुप्रास होता है।

उदाहरण— पराधीन जो जन, नहीं स्वर्ग, नरक ता हेत।
पराधीन जो जन नहीं, स्वर्ग नरक ता हेत॥
(वीर सतसई—वियोगी हरि)

दोनों पंक्तियों में शब्द समान हैं पर प्रथम पंक्ति का अर्थ है, जो मनुष्य पराधीन होते हैं उनको स्वर्ग-स्वर्ग न होकर नरक ही होता हैं। दूसरी पंक्ति में अर्थ यह है कि पराधीन न रहने वाले व्यक्ति को नरक भी स्वर्ग होता है। इस प्रकार अन्वय भेद से अर्थ की भिन्नता तथा लाटानुप्रास हुआ।

२. **यमक**—निरर्थक अथवा अलग-अलग अर्थ वाले वर्ण समुदायों का अनेक बार प्रयोग करने से यमक अलंकार होता है।

उदाहरण—(१) अपूर्व थी श्यामल पत्र राजि में,
कदम्ब के पुष्प-कदम की छटा।
—प्रिय प्रवास : हरिऔध

अनुप्रास अलंकार का व्यापकता से प्रयोग होता है अतः इसे विस्तार से जानना अपेक्षित है। इसके मुख्य तीन भेद होते हैं—

(१) छेकानुप्रास, (२) वृत्त्यानुप्रास और (३) लाटानुप्रास।

(१) **छेकानुप्रास**—जब एक अथवा अनेक वर्णों की एक बार आवृत्ति हो तब छेकानुप्रास होता है। जैसे,

विस्मृति का नील नलिन रस बरसो अपांग के घन से। (प्रसाद)

यहाँ नील नलिन में 'न' 'ल' की और 'रस बरसो में 'र' 'स' की एक बार आवृत्ति होने से छेक है।

इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण आधुनिक गीत काव्य से दिया जा सकता है।

पी के फूटे आज प्यार के पानी बरसा री।
हरियाली छा गई, हमारे सावन सरसा री ॥ —भवानीप्रसाद मिश्र

इसमें उत्तरार्द्ध में 'ह' और 'स' की अलग-अलग क्रमशः 'हरियाली हमारे' और 'सावन सरसा' में केवल एक बार क्रमवार आवृत्ति हुई है, इसलिये यह भी छेक है।

(२) **वृत्त्यानुप्रास**—जब एक अथवा अनेक वर्ण दो से अधिक बार एक से क्रम में आवें, तब वृत्त्यानुप्रास होता है। इसमें स्वर की समानता आवश्यक नहीं है।

उदाहरण—

कहीं सुनाती निज कंत साथ थी
स्वकाकली को कल कंठ कोकिला। —हरिऔध

इस उदाहरण में 'कल' व्यंजनों की अनेक बार क्रमशः आवृत्ति हुई है।

विशेष—अनुप्रास को अलंकार तब कहते हैं जब अनेक बार आने वाले वर्ण कविता में वर्णित रस के अनुकूल होते हैं।

वृत्त्यानुप्रास में तीन वृत्तियाँ पाई जाती हैं। आचार्य-श्रेष्ठ भट्टोद्भट ने इन्हे वृत्तियों के आधार पर तीन अनुप्रास प्रकार दिखाये हैं। ये वृत्तियाँ हैं—

(१) उपनागरिका, (२) परुषा और (३) कोमला।

(१) **उपनागरिका**—माधुर्य-व्यंजक वर्णों के नियोजन से उपनागरिका वृत्ति बनती है। विदग्धतामयी कामिनी से उपमा देने के कारण इसका नाम उपनागरिका है। 'क' से 'म' तक के वर्ण तथा वर्ग के अन्त्य वर्ण से उसी वर्ग के किसी वर्ण से युक्त वर्णों वाली यह वृत्ति होती है। यही इसकी मूल विशेषता है।

उदाहरण—

मृदु मन्द-मन्द, मन्थर-मन्थर
लघु तरणि हंसिनी-सी सुन्दर
तिर रही खोल पालों के पर —'गुञ्जन' से

(२) **परुषा**—ओज गुण की अभिव्यक्ति करने वाले वर्णों से युक्त वृत्ति

परुषा होती है। इसमें तालव्य 'श', मूर्द्धन्य 'ष', रेफ से युक्त वर्ण, ट-ठ-ड-ढ वर्ण तथा ह्व, ह्य, आदि संयुक्ताक्षार भी रहते हैं।

उदाहरण— लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर!
शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर॥ 'पल्लव' से (पंत)

(३) **कोमला या ग्राम्या**—उपर्युक्त दोनों वृत्तियों से शेष रहने वाले वर्णों से सृजित कविता में कोमला वृत्ति मिलती है।

इस वृत्ति में 'ल', 'क', रेफ आदि वर्णों का प्रयोग विशेष है। इसका एक अन्य नाम ग्राम्या वृत्ति है। आचार्य भट्टोद्भट ने इसे ग्राम्यानुप्रास कहा है। आधुनिक काव्य में पन्त ने इसका सुन्दर प्रयोग किया है।

तापस बाला गंगा निर्मल
शशि-मुख से दीपित मृदु करतल।
लहरे उस पर कोमल कुन्तल।
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर
लहराता तार तरल सुन्दर
चंचल-अंचल-सा नीलाम्बर॥ —'गुञ्जन' से (पन्त)

विमर्श—आचार्य भट्टोद्भट् ने इन्हीं तीनों वृत्तियों के नामों पर ही अनुप्रास के नाम दिये हैं। बाद के आचार्यों ने सबको वृत्त्यानुप्रास के ही भीतर समेट लिया है।

लाटानुप्रास—जहाँ काव्य रचना में शब्दावली और अर्थ भी एक सा ही प्रतीत होता हो किन्तु अन्वय करने पर उसमें अर्थ की विभिन्नता प्रकट हो, वहाँ लाटानुप्रास होता है।

उदाहरण— पराधीन जो जन, नहीं स्वर्ग, नरक ता हेत।
पराधीन जो जन नहीं, स्वर्ग नरक ता हेत॥
(वीर सतसई—वियोगी हरि)

दोनों पंक्तियों में शब्द समान हैं पर प्रथम पंक्ति का अर्थ है, जो मनुष्य पराधीन होते हैं उनको स्वर्ग-स्वर्ग न होकर नरक ही होता हैं। दूसरी पंक्ति में अर्थ यह है कि पराधीन न रहने वाले व्यक्ति को नरक भी स्वर्ग होता है। इस प्रकार अन्वय भेद से अर्थ की भिन्नता तथा लाटानुप्रास हुआ।

२. **यमक**—निरर्थक अथवा अलग-अलग अर्थ वाले वर्ण समुदायों का अनेक बार प्रयोग करने से यमक अलंकार होता है।

उदाहरण—(१) अपूर्व थी श्यामल पत्र राजि में,
कदम्ब के पुष्प-कदम की छटा।
—प्रिय प्रवास : हरिऔध

पहले कदम्ब का अर्थ वृक्ष विशेष और दूसरे का समूह है, इसलिए यमक है।

अन्य उदाहरण २—तरणि के साथ ही तरल तरंग में
तरणि डूबी थी हमारी ताल में।—पंत

पहले तरणि शब्द का अर्थ सूर्य और दूसरे तरणि शब्द का अर्थ नौका है, इसलिए यमक हुआ।

३—मर मिटें रण में पर राम को हम न दे सकते जनकात्मजा।
सुन कपे ! जग में बस वीर के सुयश का रण कारण मुख्य है।
—रामचरित उपाध्याय

(३) **पुनरुक्तवदाभास**—काव्य को सुनने से जब किसी शब्द की पुनरावृत्ति प्रतीत होती हो, परन्तु वास्तव में पुनरुक्ति हो नहीं तो पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है। प्रस्तुत उदाहरण आधुनिक काव्य से है।

समय जा रहा और काल है आ रहा,
सचमुच, उलटा भाव भुवन में छा रहा।—गुप्त जी

यहाँ 'समय' और 'काल' पर्यायवाची हैं, पर यहाँ 'काल' का अर्थ मृत्यु लिया गया है।

इसके दो प्रकार होते हैं—(१) शब्दगत और (२) शब्दार्थ गत।

शब्दगत—हिमगिरि के मस्तक से निर्झर बन बह चला पसीना।
पानी में है जान सभी की जीवन ही है जीना॥
—भक्त : नूरजहाँ

यहाँ 'जीवन' और 'जीना' के अर्थ में पुनरुक्ति-सी प्रतीत होती है।

शब्दार्थगत—वन्दनीय किहि के नहीं, वे कविद मतिमान।
सुरग गये हू काव्य रस, जिनको जगत् जहान॥

यहाँ 'जगत्' और 'जहान' में पुनरुक्ति का आभास है, पर दोनों के अर्थ हैं भिन्न-भिन्न।

(४) **पुनरुक्ति प्रकाश**—जब भाव के उत्कर्ष के लिए एक ही शब्द अनेक बार एक ही अर्थ में प्रयुक्त होता है, तो पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार होता है।

उदाहरण— आधुनिक काव्य धारा के दो प्रमुख कवियों से लिये हैं—

(अ) विहग-विहग
फिर चहक उठे ये पुंज-पुंज
चिर सुभग-सुभग।—पंत

इसी प्रकार (ब) इसमें उपमा यह नीरज सित
कोमल-कोमल लज्जित मीलित।
सौरभ सी लेकर मधुर पीर।—महादेवी

(५) **वीप्सा**—जहाँ श्रद्धा, घृणा, करुणा, क्रोध आदि भावों की प्रभावशाली अभिव्यंजना के लिए शब्दों की आवृत्ति होती हैं वहाँ वीप्सा अलंकार होता है।

उदाहरण— मधुर-मधुर, मेरे दीपक जल ।— (महादेवी)

यहाँ 'मधुर-मधुर' की आवृत्ति में वीप्सा है ।

इसी प्रकार— विहग-विहग

फिर चहक उठे ये पुंज-पुंज,

कल-कूजित कर उर का निकुंज,

चिर सुभग-सुभग ।—(पंत)

इस प्रकार सारी कविता वीप्सा से भरी है ।

(६) **वक्रोक्ति**—जहाँ अन्य अर्थ में कहे हुए वक्ता के वाक्य का श्रोता श्लेष अथवा काकु (ध्वनि-विकार) के द्वारा दूसरा अर्थ लगा लेता है, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है । इसके दो भेद होते हैं—

(१) श्लेष वक्रोक्ति और (२) काकु वक्रोक्ति ।

श्लेष वक्रोक्ति—जहाँ श्लिष्ट (अनेकार्थक) पद का वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ करके श्रोता उत्तर देता है, वहाँ श्लेष वक्रोक्ति होती है ।

उदाहरण— एक कबूतर देख हाथ में पूछा कहाँ अपर है ?

उसने कहा 'अपर' कैसा ? उड़ वह गया सपर है ।

—भक्त : नूरजहाँ

यहाँ सलीम और मेहरुन्निसा का परिहास है । मेहरुन्निसा से सलीम ने पूछा कि अपर (दूसरा) कहाँ है ? उसने उत्तर दिया कि यह अपर (पंखहीन) नहीं, सपर (पंख युक्त) है । यहाँ 'अपर' का बिना भंग किए ही दो अर्थ निकलते हैं अतः श्लेष-वक्रोति है ।

काकु वक्रोक्ति—जहाँ वक्ता की उक्ति को ध्वनि-विकार से बदलकर श्रोता विपरीत अर्थ में उत्तर देता है, वहाँ काकु-वक्रोक्ति होती है ।

उदाहरण— जब आप पिता के वचन पाल सकते हैं ।

तब माँ की आज्ञा भरत टाल सकते हैं ।—साकेत

यहाँ द्वितीय पंक्ति में काकु के द्वारा 'नहीं टाल सकते हैं' यह अर्थ होता है ।

इसे कुछ आलंकारिकों ने अर्थालंकार में भी गिनाया है । सर्वप्रथम इसका महत्व प्रतिपादित करने वाले आचार्य भामह हैं । उन्होंने अर्थ-चारुत्व का मूल इसी को माना है ।

(७) **श्लेष**—जहाँ पर किसी शब्द के एक से अधिक अर्थ निकलते हों वहाँ श्लेष अलंकार होता है ।

उदाहरण— जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति-सी छाई ।

दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई ।।—(प्रसाद)

यहाँ घनीभूत के दो अर्थ हैं—इकट्ठी हुई और मेघ बनी हुई । वैसे ही दुर्दिन के अर्थ हैं—बुरे दिन (प्रतिकूल समय) और मेघाच्छन्न दिन ।

एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है।

तुम्हारी पी मुख-बास तरंग,
आज बौरे भौंरे साकार—(पंत)

यहाँ 'बौरे' शब्द के दो अर्थ हैं (१) मतवाला (२) फूलना। भँवरे के पक्ष में बौरे का मतवाला होना है और साकार अर्थात् आम के लिए बौरे का अर्थ फूलना है।

अर्थालंकार—जिस रचना में अर्थ के कारण चमत्कार होता है वहाँ अर्थालंकार माना जाता है।

शब्दालंकार और अर्थालंकार में अन्तर

शब्द के कारण चमत्कार होने पर शब्दालंकार और अर्थ के कारण चमत्कार होने पर अर्थालंकार माना जाता है। इसकी पहचान यह है कि जिस रचना में शब्द-विशेष के स्थान पर समानार्थी शब्द रखने पर चमत्कार समाप्त हो जाए वहाँ शब्दालंकार होता है, किन्तु जहाँ वह चमत्कार समाप्त न हो- -ज्यों का त्यों बना रहे, वहाँ अर्थालंकार होता है।

अर्थालंकार के अनेक भेद हैं। यहाँ कुछ मुख्य भेदों का परिचय दिया जा रहा है।

उपमा—अर्थालंकारों में उपमा सबसे प्रधान और अधिक प्रचलित अलंकार हैं।

जहाँ पर किसी वस्तु की रूप-गुण-सम्बन्धी विशेषता को स्पष्ट करने के लिए किसी दूसरी परिचित वस्तु से उसकी समता प्रकट की जाती है, वहाँ उपमा अलंकार होता है।

उपमा के चार अंग माने गये हैं—उपमेय, उपमान, वाचक-शब्द और समान धर्म।

उपमेय—जिस व्यक्ति या वस्तु की समता की जाती है उसे उपमेय कहते हैं। इसे 'विषय' या 'प्रस्तुत' भी कहा जाता है।

उपमान—जिस व्यक्ति या वस्तु से समता की जाती है उसे 'उपमान' कहते हैं। इसे 'विषयी' या 'अप्रस्तुत' भी कहते हैं।

वाचक शब्द—उपमेय और उपमान के समता सूचक शब्द 'वाचक शब्द' कहलाते हैं जैसे – सा, इव, समान, सों आदि।

समान धर्म—उपयोग और उपमान में जो रूप, गुण और कर्म की समानता दिखाई जाती है, वही 'समान धर्म' है।

उदाहरण के लिए 'पीपर-पात सरिस मन डोला' में 'मन' उपमेय है, 'पीपर-पात' उपमान है, 'सरिस' वाचक शब्द है और 'डोला' सामान्य धर्म है।

जिस उपमा में ये चारों अंग प्रकट रहते हैं उसे 'पूर्णोपमा' कहते हैं। इन अंगों में से एक या अनेक के लुप्त होने पर 'लुप्तोपमा' होती है।

पूर्णोपमा—जहाँ उपमा के चारों अंग वर्णित रहते हैं, वहाँ पूर्णोपमा होती है।

उदाहरण—बैठी है सीता सदा राम के भीतर।
जैसे विद्युद्द्युति घनश्याम के भीतर।।—साकेत से (गुप्त)

यहाँ उपमेय 'सीता', उपमान 'विद्युद्द्युति', साधर्म्य 'बैठी है' और वाचक 'जैसे' है।

एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है :—

सौरभ भीना झीना गीला,
लिपटा मृदु अंजन सा दुकूल।—(नीरजा : महादेवी)

लुप्तोपमा—जहाँ उपमा के चार अंगों में से कोई अंग लुप्त रहता है, वहाँ लुप्तोपमा होती है।

उदाहरण—पड़ी थी बिजली-सी विकराल, लपेटे थे घन जैसे बाल।
कौन छेड़े ये काले साँप, अवनिपति उठे अचानक काँप।।
—मैथिलीशरण गुप्त : साकेत

इस पद में कैकेयी के रोष का वर्णन है। पहले चरण में उसे 'बिजली के समान विकराल' कहा गया है। यहाँ बिजली उपमान है। 'विकराल' समान धर्म है। 'सी' वाचक शब्द है। चूँकि 'कैकेयी' उपमेय का लोप है, इसलिए यहाँ लुप्तोपमा अलंकार है।

मालोपमा— जहाँ एक ही उपमेय के अनेक उपमान कहे गये हैं, वहाँ मालोपमा अलंकार होता है। इसके दो भेद होते हैं—

(१) भिन्न-धर्मा और (२) अभिन्न-धर्मा।

(१) **भिन्न-धर्मा**—जहाँ उपमेय के जितने उपमान कहे जाएँ उन सबके भिन्न-भिन्न धर्म कहे गये हों, जैसे—

कभी लोभ-सी लम्बी होकर,
कभी तृप्ति-सी होकर पीन,
क्या संसृति की अचिर-भूति तुम
सजनि ! नापती हो स्थिति-हीन ?—पंत

यहाँ 'छाया' की उपमा लोभ और तृप्ति से दी गयी है पर लोभ से समता के लिए 'लम्बा होना' समान धर्म है और तृप्ति से समता के लिए 'पीन होना'। इस तरह यहाँ भिन्नधर्मा मालोपमा है।

(२) **अभिन्न धर्मा**—जहाँ एक ही धर्म के लिए अनेक उपमान लाए जायँ।

उदाहरण—
तरुवर की छायानुवाद सी,
उपमा सी भावुकता सी,
अविदित भावाकुल भाषा सी,
कटी छँटी नव कविता सी,—पंत : छाया

यहाँ एक उपमेय (छाया) के लिए 'परछाहीं', 'उपमा', 'भावुकता', और 'भावाकुल भाषा' तथा 'कविता' ये उपमान रखे गये हैं। ये उपमान मालारूप में हैं। इन सबों के लिए एक समान धर्म (छायी) है। अतः यहाँ अभिन्न-धर्मा मालोपमा है।

रशनोपमा—जहाँ पहले कहे गये उपमेय उत्तरोत्तर उपमान होते जायँ और इस प्रकार उपमाओं की एक शृंखला बन जाय। वही यह रशनोपमा होती है :—

मति-सी नति, नति-सी बिनती,
बिनती-सी रति चारु।
रति-सी गति, गति-सी भगति,
तो मैं पवन कुमारु ॥—देवेन्द्रनाथ शर्मा

यहाँ 'मति' के लिए 'नति' (नम्रता) उपमेय है, पर 'बिनति' (विनम्रता) के लिए 'उपमान'। पर 'बिनति' भी 'रति' (प्रेम) के लिए 'उपमान' है एवं 'रति' 'गति' के लिए तथा 'गति' 'भगति' (भक्ति) के लिए। यहाँ उपमेय उत्तरोत्तर उपमान होता चला गया है, अतः रशनोपमा है।

रूपक—जहाँ उपमेय में उपमान का आरोप हो वहाँ रूपक अलंकार होता है।

उदाहरण—ऊधो मेरा हृदयतल था एक उद्यान न्यारा।
शोभा देतीं अमित उसमें कल्पना-क्यारियाँ थीं ॥
प्यारे-प्यारे कुसुम कितने भाव के थे अनेकों।
उत्साहों के विपुल विटपी मुग्धकारी महा थे ॥

—हरिऔध : प्रियप्रवास से

इस छन्द में हृदयतल पर उद्यान का, कल्पना में क्यारियों का, भावों में फूलों का और उत्साहों में वृक्षों का आरोप है। अतः यहाँ रूपक अलंकार है।

इसके दो भेद हैं—(१) अभेद और (२) तद्रूप।

(१) **अभेद रूपक**—जहाँ उपमान और उपमेय में अभेद सम्बन्ध हो वहाँ अभेद रूपक होता है।

उदाहरण— मेखलाकार पर्वत अपार,
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़।
अवलोक रहा है बार-बार,
नीचे जल में निज महाकार। : (पंत—पल्लव से)

यहाँ 'दृग-सुमन' में अभेद रूपक है, क्योंकि 'दृग' उपमान और 'सुमन' उपमेय दोनों में अभेद-सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

(२) **तद्रूप रूपक**—जहाँ उपमेय को उपमान का ही रूप देकर कवि सामने लाता है, वहाँ तद्रूप रूपक होता है।

उदाहरण—रच्यो बिधाता दुहुन लै, सिगरी सोभा साज।
तू सुन्दर रति दूसरी, यह दूजो सुरराज ॥

यहाँ नायिका जो उपमेय है, वह 'रति' के रूप में दिखायी गयी है और नायक 'सुरराज' के रूप में अंकित किया गया है।

अन्य उदाहरण इस प्रकार है :—आभा वाले कलश जिनके दूसरे अर्क ही हैं।

अभेद और तद्रूप का अन्तर—तद्रुप रूपक में उपमेय और उपमान की भिन्नता दूसरा ,अपर, अन्य आदि वाचक शब्दों द्वारा व्यक्त हो जाती है, किन्तु अभेद रूपक में किसी भी प्रकार दोनों की भिन्नता परिलक्षित नहीं होती।

उत्प्रेक्षा—जहाँ उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाये वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।

उत्प्रेक्षा में प्राय: 'जनु', 'जानो', 'मानो' आदि वाचक शब्द के रूप में आते हैं।

उदाहरण—
नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखिला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ वन बीच गुलाबी रंग।—प्रसाद : कामायनी से

उत्प्रेक्षा के मुख्य दो प्रकार होते हैं, (१) वाच्य और (२) प्रतीयमान।

(१) **वाच्योत्प्रेक्षा**—जहाँ उत्प्रेक्षा के वाचक शब्द—मनु, जनु, मानो आदि-प्रयुक्त होते हैं, वहाँ वाच्योत्प्रेक्षा होती है।

(२) **प्रतीयमानोत्प्रेक्षा**—जहाँ वाचक शब्द का प्रयोग किए बिना उत्प्रेक्षा की जाती है, वहाँ प्रतीयमान या गम्य-उत्प्रेक्षा होती है।

वाच्योत्प्रेक्षा के भेद—इसके मुख्य तीन भेद होते हैं—

(१) वस्तूत्प्रेक्षा या स्वरूपोत्प्रेक्षा, (२) हेतूत्प्रेक्षा और (३) फलोत्प्रेक्षा।

(१) **वस्तूत्प्रेक्षा**—जहाँ किसी वस्तु को उपमेय बनाकर उसमें किसी उपमान की संभावना की जाय, वहाँ वस्तूत्प्रेक्षा होती है।

उदाहरण—जान पड़ता नेत्र देख बड़े-बड़े
हीरकों में गोल नीलम हैं जड़े।—साकेत से (मैथिलीशरण गुप्त)

यहाँ प्रस्तुत (नेत्रों) में अप्रस्तुत (हीरों में जड़े नीलम) की सम्भावना की गयी है। 'जान पड़ता' उत्प्रेक्षा का वाचक शब्द है।

(२) **हेतूत्प्रेक्षा**—जहाँ अहेतु में हेतु की संभावना की जाती है, वहाँ हेतूत्प्रेक्षा होती है।

उदाहरण—
सारा नीला सलिल सरि का शोक-छाया पगा था।
कंजो में से मधुप कढ़ के घूमते से भ्रमे से।
मानो खोटी विरह घटिका सामने देख के ही।
कोई भी थी अवनतमुखी कान्ति-हीना मलीना।—हरिऔध

किसी के कान्तिहीन, मलीन और नम्रमुखी होने की उत्प्रेक्षा का कारण यह घटिका हो सकती है।

(३) **फलोत्प्रेक्षा**—जहाँ अफल में फल की सम्भावना की जाय अर्थात् जो फल न हो उसमें फल का आरोप किया जाय वहाँ फलोत्प्रेक्षा होती है।

उदाहरण—
नाना सरोवर खिले नव पंकजों को
ले अंक में विहँसते मन मोहते थे।
मानों पसार अपने शतशः करों को
वे माँगते शरद से सुविभूतियाँ थे।।—प्रियप्रवास

सरोवर के खिले कमलों में हाथ पसारकर शरद से विभूतियाँ माँगने की उत्प्रेक्षा की गयी है। यहाँ विभूतियाँ माँगना फल नहीं है पर उसमें फल की कल्पना की गई है।

एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है।

तुम्हारी पी मुख-बास-तरंग, आज बौरे भौंरे सहकार।
चुनाती नित लवंग निज अंग तन्वि ! तुम सी बनने सुकुमार।
पंत—गुंजन से।

गम्योत्प्रेक्षा—जहाँ उत्प्रेक्षा के वाचक शब्द के प्रयोग के बिना ही उपमेय में उपमान की संभावना की जाती है, वहाँ गम्योत्प्रेक्षा या प्रतीयमान उत्प्रेक्षा होती है।

उदाहरण—
यह थी एक विशाल मोतियों की लड़ी;
स्वर्ग कंठ से छूट धरा पर गिर पड़ी।
सह न सकी भवताप अचानक गल गयी;
हिम होकर भी द्रवित रही कल जल मयी।—गुप्त जी

इसमें गंगा पर उत्प्रेक्षा की गयी है पर 'मानो' आदि वाचक शब्द नहीं हैं। इसी से प्रतीयमान या गम्य है।

अपह्नुति—जब उपमेय का निषेध कर उसमें उपमान का आरोप कर दिया जाये तो अपह्नुति अलकार होता है।

अपह्नुति का शाब्दिक अर्थ छिपाना, निषेध करना है। इस अलंकार में प्रायः निषेध करके ही आरोप किया जाता है।

उदाहरण—
ये न मग हैं तव चरण की रेखियाँ हैं।
बलि-दिशा की ओर देखा-देखियाँ हैं।
विश्व पर पद से लिखे कृति लेख हैं ये,
धरा तीर्थों की दिशा की मेख हैं ये।
—एक भारतीय आत्मा।

यहाँ 'न' के द्वारा प्रकृति का निषेध किया गया है और फिर उस पर अप्रकृत का आरोप हुआ है। इस प्रकार शुद्ध अपह्नुति द्रष्टव्य है।

इसके छः भेद होते हैं—

१—शुद्धापह्नुति २—हेत्वापह्नुति ३—पर्यस्तापह्नुति ४—भ्रान्तापह्नुति ५—छेकापह्नुति और ६—कैतवापह्नुति ।

(१) **शुद्धापह्नुति**—जहाँ उपमेय या वर्ण्य का निषेध करके उसके स्थान पर उपमान या अवर्ण्य का स्थापन किया जाये, वहाँ शुद्धापह्नुति होती है ।

उदाहरण—

भींगी मानस के दुख-जल से
भीनी उड़ते सुख-परिमल से
है बिखरी उर की निःश्वासे
मादक मलय बतास नहीं यह ।

महादेवी-यामा से ।

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रकृत अर्थात् मदिर बतास का निषेध करके उर की निःश्वासें अर्थात् अप्रकृत को स्थापित किया गया है ।

(२) **हेत्वापह्नुति**—जहाँ उपमेय का निषेध सकारण करके उसके स्थान पर उपमान की स्थापना की जाये तब यह अलंकार होता है । इस प्रकार इस अपह्नुति में गोपन का कारण भी निर्दिष्ट रहता है ।

उदाहरण—

पहले आँखों में थे मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे ।
छींटे वही उड़े थे बड़े-बड़े अश्रु वे कब थे !—गुप्त जी ।

इसमें कारण के साथ अश्रु का निषेध करके छींटों की स्थापना की गयी है, निर्दिष्ट कारण कूदने में है ।

(३) **पर्यस्तापह्नुति**—'पर्यस्त' का अर्थ है 'फेंका हुआ' । यहाँ उपमान के धर्म को उपमेय में फेंक या निक्षिप्त कर दिया जाता है । इस प्रकार जहाँ उपमेय या वास्तविक धर्मी में धर्म का प्रतिषेध करके अन्य में उसका आरोप किया जाता है, वहाँ पर्यस्तापह्नुति होती है ।

मधुशाला वह नहीं, जहाँ पर मदिरा बेची है ।
भेंट जहाँ मस्ती की मिलती, मेरी वह मधुशाला है ।

—बच्चन

इस पंक्तियों में अलंकार का चामत्कारिक सौन्दर्य है ।

(४) **भ्रान्तापह्नुति**—जहाँ सत्य बात कह कर उपमेय में उपमान के भ्रम का निवारण किया जाता है वहाँ भ्रान्तापह्नुति होती है ।

उदाहरण—

हंस, हहा तेरा भी बिगड़ गया क्या विवेक बन-बन के ।
मोती नहीं, अरे ये आँसू हैं उर्मिला जन के ।। साकेत-गुप्त जी

यहाँ आँसुओं की सचाई प्रकट करके मोती की शंका का निवारण है । एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है ।

एक अन्य उदाहरण :—
"मोर नहीं संकट गुस्त देश का नेता है
जिसकी पुकार पर फाँरिन एड लिये 'बादल,
विदेशी राजदूत सा प्रकट हो जाता है।"

(५) **छेकापह्नुति**—जहाँ किसी गोप्य वस्तु के प्रकट हो जाने के भय से उसीके समान धर्म वाली किसी दूसरी वस्तु को प्रकट करके वर्ण्य को छिपा दिया जाता है, वहाँ छेकापह्नुति होती है।

छेक शब्द का अर्थ होता है 'विदग्ध, प्रवीण। यहाँ विदग्धता से अभीष्ट व्यक्ति या वस्तु का गोपन किया जाता है। आचार्य केशव मिश्र ने केवल इसे ही अपह्नुति माना है। आचार्य क्षेमेन्द्र के मत से इसे प्रतिभौचित्य कहा जायगा।
उदाहरण इस प्रकार है।

स्यामल तनु पीरौ वसन, मिलौ सवन अलि वन भोर
दोनों नन्दकिसोर अलि ? ना सीख ! सखि चितचोर।

यहाँ पर स्याम शरीर, पीतवस्त्र धारण किए हुए वन में कृष्ण से मिलने की बात को छिपाकर उनके स्थान पर भँवरे को देखने की बात कही गयी है। अतः छेकापह्नुति है।

(६) **कैतवापह्नुति**—जहाँ उपमेय को कैतव अर्थात् बहाने से, मिस, ब्याज आदि शब्दों द्वारा छिपाया जाता है वहाँ कैतवापह्नुति होती है।

ऊपर की पाँचों अपह्नुतियों को प्राचीन आचार्यों ने शाब्दी और कैतवापह्नुति को आर्थी कहा है।

उदाहरण— "न जाने सौरभ के मिस कौन
संदेशा मुझे भेजता मौन।—पंत।

एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है :—
प्रिये, कलि कुसुम में आज, मधुरिमा मधु सुखमा सुविकास।
तुम्हारी रोम-रोम छवि ब्याज, छा गया मधुवन में मधुमास॥
—गुंजन (पंत)

यहाँ उपमेय का मिस और ब्याज शब्द के माध्यम से निषेध किया गया है।

भ्रम या भ्रान्तिमान—जहाँ प्रस्तुत को देखने से सादृश्य के कारण किसी दूसरी वस्तु का भ्रम हो जाये, वहाँ भ्रम या भ्रान्तिमान अलंकार होता है,

उदाहरण— नाक का मोती अधर की कांति से,
बीज दाड़िम का समझकर भ्रांति से।
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है ?
—साकेत, मैथिलीशरण गुप्त

यहाँ उर्मिला की नुकीली नाक देखकर तथा उसमें पहने मोती को अनार दाना समझकर उसका पिंजरे में पला हुआ तोता उसे दूसरा तोता समझता है जो अपनी चोंच में अनार का दाना दबाए हुए हैं अतएव यहाँ भ्रम या भ्रान्तिमान अलंकार है।

सन्देह—किसी वस्तु को देखकर जहाँ समानता के कारण उसमें किसी दूसरी वस्तु का सन्देह हो, वहाँ सन्देह अलंकार होता है।

सामान्यतः इसके वाचक शब्द 'या', अथवा', 'धौं', 'किधौं', 'किंवा', आदि होते हैं।

जैसे—

निद्रा के उस अलसित वन में
वह क्या भावी की छाया
दृग पलकों में विचर रही,
या वन्यदेवियों की माया ?—पंत

यहाँ स्वप्न में 'भावी की छाया' और 'वन्यदेवियों की माया' का सन्देह है।

सन्देह और भ्रांतिमान में मुख्य अन्तर यह है कि सन्देह से अनिश्चय अन्त तक रहता है, परन्तु भ्रांतिमान में किसी वस्तु में दूसरी वस्तु का ऐसा भ्रम होता है जो झूठे निश्चय के कारण है।

अतिशयोक्ति—लोकसीमा का अतिक्रमण करके जब किसी वस्तु या विषय का वर्णन किया जाता है तो वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है।

उदाहरण—

बाँधा था विधु को किसने इन काली जन्जीरों से।
मणि वाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ है हीरों से॥

मणि वाले फणियों के मुख का हीरों से भरा होना लोकसीमा का उल्लंघन है। अतः अतिशयोक्ति अलंकार है।

इसके सात भेद कहे गये हैं, किन्तु प्रमुख भेद तीन ही हैं—

(१) भेदकातिशयोक्ति, (२) अक्रमातिशयोक्ति और (३) रूपकातिशयोक्ति।

(१) **भेदकातिशयोक्ति**—जहाँ उपमेय और उपमान में भेद न होने पर भी उपमेय की विशेषता सूचित करने के लिए उसे उपमानों से भिन्न बताया जाय, वहाँ भेदक अतिशयोक्ति होती है।

उदाहरण—

अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान।
वे नैना औरै कछू, जिहिं बस होत सुजान॥—बिहारी

विशाल और नुकीले सभी नेत्र समान होते हैं। किन्तु इस दोहे में कवि ने अपनी प्रस्तुत नायिका के नेत्रों को 'औरै कछू' कहकर औरों से उनकी भिन्नता और विशेषता प्रकट की है।

(२) **अक्रमातिशयोक्ति**—जहाँ कारण और कार्य का क्रम से वर्णन न करके दोनों का एक साथ ही हो जाना कहा जाय, वहाँ अक्रमातिशयोक्ति होती है।

उदाहरण— क्षण भर उसे संधानने में वे यथा शोभित हुए,
है भाल नेत्र ज्वाल हर ज्यों छोड़ने क्षोभित हुए।
यह शर इधर गाण्डीव गुण से भिन्न जैसे ही हुआ,
धड़ से जयद्रथ का इधर सिर छिन्न वैसे ही हुआ।—गुप्त जी

इनमें एक ओर बाण का छूटना और दूसरी ओर सिर का कट जाना एक ही साथ होने से अक्रमातिशयोक्ति प्रस्तुत है।

(३) **रूपकातिशयोक्ति**—जहाँ उपमान उपमेय को इस प्रकार छिपा या निगल ले कि उपमेय का उपमान से पृथक् अस्तित्व ही न दिखाई दे, किन्तु अर्थ करते समय उपमान द्वारा निगले गए उपमेय बाहर निकलते जायँ, वहाँ रूपकातिशयोक्ति होती है।

उदाहरण— विद्रुम सीपी-संपुट में मोती के दाने कैसे ?
हैं हंस न, पर शुक फिर क्यों चुगने को मुक्ता ऐसे।—प्रसाद

इसमें ओठ, दाँत तथा नाक उपमेयों को छोड़कर विद्रुम-सीपी, मोती और शुक उपमानों को ग्रहण किया गया है अतः रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

व्यतिरेक—उपमेय की उपमान से अधिकता या न्यूनता सूचित करने वाले अलंकार को व्यतिरेक कहते हैं।

उदाहरण—स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ, किन्तु सुरसरिता कहाँ, सरयू कहाँ ?
वह मरों को मात्र पार उतारती, यह यहीं से जीवितों को तारती।
—मैथिलीशरण गुप्त : साकेत

यहाँ सरयू नदी (उपमेय) को गंगा नदी (उपमान) की अपेक्षा उत्तम बताया गया है।

विभावना—जहाँ कारण के बिना या कारण के विपरीत कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया जाए, वहाँ विभावना अलंकार होता है।

उदाहरण— याद तो करता नहीं हूँ अब तुम्हें मैं
चाह फिर भी तिर रही है आज मन में !
तुम नहीं हो पास (जाने फिर फिर कहाँ हो !)
पा रहा हूँ परस फिर भी आज तन में !

किसी वियोगी का कथन है यह। अपनी प्रियतमा से बिछुड़े उसे काफी दिन हो गये हैं। "उसने उसे भुला देने की कोशिश की है और कभी नहीं याद करता। पर याद न करने पर भी उसके सम्पर्क की चाह आज उसके मन में तिर रही है। उसकी प्राणवल्लभा पास नहीं है। उसे यह भी नहीं मालूम है कि वह कहाँ है। पर, ऐसा लगता है जैसे आज उसके अंगों को फिर वहीं छू रही हो। "यहाँ याद न करने पर भी (कारण के अभाव में भी) चाह का तिरना (कार्य का होना) एवं उसके दूर रहने पर भी (कारण के अभाव में भी) अपने अंगों में उसके स्पर्श की अनुभूति पाना (कार्य का होना) चित्रित है। अतः विभावना अलंकार है।

आद्य आलंकारिक आचार्य भामह ने कहा है–'क्रिया के प्रतिषेध होने पर भी जहाँ फल का विभावन हो वहाँ विभावना होती है।' आचार्य भामह के ही शब्दों को आचार्य भट्टोद्‌भट ने भी इसके लक्षण में दुहरा दिया है। पहले के आलंकारिकों ने इसके दो भेद किए हैं, (१) उक्तनिमित्ता। और (२) अनुक्तनिमित्ता।

बाद के आचार्यों ने इसके छः भेद माने हैं––

प्रथम विभावना––जहाँ कारण के अभाव में कार्य का हो जाना कहा जाय।

उदाहरण—सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ किन्तु समझो रात का जाना हुआ।
क्योंकि उसके अंग पीले पड़ चुके रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ चले।
—गुप्त जी।

सूर्योदय कारण के अभाव में भी रात्रि प्रयाण का कार्य वर्णित है। अंग का पीला होना आदि रात के जाने के कारण की कल्पना है। इस निमित्त प्रथम विभावना है।

द्वितीय विभावना––जहाँ अधूरे कारण से ही कार्य का पूर्ण होना कहा जाय।

उदाहरण— आया जब मार मुझे मारने को बार-बार
अप्सरा-अनीकनी सजाये हेम तीर से,
तुम तो यहाँ थी ध्यान धीर ही तुम्हारा वहाँ
जूझा मुझे पीछे कर पंच शर वीर से—गुप्त जी

तृतीय विभावना––जहाँ कारण का प्रतिबन्धक या विरोधी होने पर भी कार्य हो जाय।

उदाहरण–– श्यामा बातें श्रवन करके बालिका एक रोयी,
रोते-रोते अरुण उसके हो गये नेत्र दोनों।
ज्यों-ज्यों लज्जा विवश वह थी रोकती वारिधारा,
त्यों-त्यों आँसू अधिकतर थे लोचनों मध्य आते।—हरिऔध

लाजवश रोकने का प्रतिबन्ध रोकते रहते भी आँसू का उमड़ उमड़ आना कार्य वर्णित है।

चतुर्थ विभावना—जो जिस कार्य का उत्पादक कारण नहीं है, उससे जहाँ कार्य का पूर्ण होना कहा जाये, तब यह विभावना होती है।

१—विद्रुम के संपुट में उपजे मोती के दाने कैसे ?
यह शुक फल जीवी करता चुगने की मुद्रा ऐसे।

२—भयो कंबु ते कंज इक, सोहत सहित विकास।
देखहु चम्पक की लता, देति कमल सुख वास।।

यहाँ पर मूंगे के संपुट से मोती उपजने की बात कही गयी है जबकि मोती सीपी से उपजते हैं तथा मोती हंस चुगता है परन्तु यहाँ शुक को मोती चुगने की बात कही गयी है जो वास्तविक कारण न होकर अन्य कारण है।

दूसरे छन्द में चम्पा की लता से कमल की सुगन्धि का वर्णन किया गया है यहाँ भी वास्तविक कारण के स्थान पर अन्य कारण है ।

पंचम विभावना—जब विरोधी कारण से कार्य की पूर्णता कही जाये तब यह विभावना होती है ।

उदाहरण—

दुख इस मानव-आत्मा का
रे नित का मधुमय भोजन,
दुख के तम को खा-खा कर
भरती प्रकाश से वह मन ।—पंत

तम को खाकर प्रकाश से मन भरने में विरुद्ध-कारण से कार्य की उत्पत्ति का वर्णन है ।

एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है—

चुभते ही तेरा अरुण बाण
बहते कण-कण से फूट-फूट
मधु के निर्झर से सजल गान । (महादेवी)

यहाँ पर बाण के चुभने से रुदन निकलना चाहिए परन्तु गान निकलने का वर्णन है जो रुदन का विरोधी भाव है अतः यहाँ विरोधी कारण से कार्य घटित होता है ।

षष्ठ विभावना—जहाँ कार्य से कारण की उत्पत्ति कही जाये वहाँ षष्ठ विभावना होती है ।

उदाहरण—

भयो सिंधु ते विधु सुकवि, बरनत बिना विचार ।
उपज्यो तो मुख इन्दु ते, प्रेम पयोधि अपार ॥

यहाँ पर चन्द्रमा, जो समुद्र से उत्पन्न हुआ है उसे समुद्र का कारण कहा गया है ।

विशेषोक्ति—जहाँ कारण के उपस्थित होने पर भी कार्य नही होता, वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है ।

उदाहरण—

अब छुटता नहीं छुड़ाए रंग गया हृदय है ऐसा ।
आँसू से धुला निखरता यह रंग अनोखा ऐसा ॥—प्रसाद

यहाँ छुड़ाने पर भी रंग के नहीं छूटने में कारण के होते हुए भी कार्य का अभाव है । इसलिये विशेषोक्ति अलंकार है ।

असंगति—जब कारण कहीं एक स्थान में और कार्य कहीं दूसरे स्थान में वर्णित हो तब असंगति अलंकार होता है ।

उदाहरण—

मेरे जीवन की उलझन, बिखरी थीं उनकी अलकें ।
पीली मधु मदिरा किसने, थीं बन्द हमारी पलकें ॥ —प्रसाद

यहाँ उलझन में पड़ा है कोई दूसरा और अलकें बिखरी हैं किसी अन्य की, ऐसे ही

मदिरा का पान किसी ने किया है और सुरूर चढ़ा है किसी दूसरे पर। इसीलिए आलंकारिकों ने इसे असंगति अलंकार कहा है।

अर्थान्तरन्यास—जहाँ सामान्य कथन का विशेष कथन के द्वारा और विशेष कथन का सामान्य कथन के द्वारा समर्थन किया जाता है वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है।

उदाहरण— उड़ाती है तू घर में कीच।
नीच ही होते हैं बस नीच ॥ गुप्त : साकेत

प्रथम चरण यहाँ पर मन्थरा को संकेत करके कहा गया है, यह विशेष है तथा उसे द्वितीय चरण से जो सामान्य है, समर्थन दिया गया है। ऐसा ही एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है—

सन्तुष्ट मुझे तुम देख रही हो वन में,
सुख धन धरती में नहीं, किन्तु निज मन में। —साकेत

यहाँ पर भी पूर्वार्द्ध विशेष का उत्तरार्द्ध सामान्य से समर्थन हुआ है।

दृष्टान्त—जब किसी बात को स्पष्ट करने के लिए साम्य मूलक उदाहरण प्रस्तुत किया जाये तब दृष्टान्त अलङ्कार होता है। इस अलङ्कार में पहली और दूसरी उक्ति में उपमेय-उपमान सम्बन्ध रहता है। उदाहरण इस प्रकार है—

एक राज्य न हो बहुत से हों जहाँ, राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ।
बहुत तारे थे अँधेरा कब मिटा, सूर्य का आना सुना जब तब मिटा ॥
—गुप्त जी

यहाँ पूर्वार्द्ध में राष्ट्र के बल बिखरने की एक बात है और उत्तरार्द्ध में बहुत तारों के रहने की; पर दोनों के साधारण धर्म भिन्न-भिन्न हैं। सादृश्यवाचक शब्द नहीं है। इस प्रकार इनका बिंब-प्रतिबिम्ब भाव यहाँ स्पष्ट है।

विरोधाभास—जहाँ किसी पदार्थ गुण या क्रिया में वास्तविक विरोध न होने पर भी विरोध का वर्णन हो, वहाँ विरोधाभास अलङ्कार होता है। उदाहरण इस प्रकार है—

शीतल ज्वाला जलती है, ईंधन होता दृग जल का।
यह व्यर्थ साँस चल-चल कर, करती है काम अनिल का ॥
—प्रसाद : आँसू

ऐसे ही—'मूक गिरिवर के मुखरित 'ज्ञान', पन्त की पंक्ति में विरोधाभास द्रष्टव्य है।

दीपक—जहाँ प्रस्तुतों और अप्रस्तुतों का एक धर्म से सम्बन्ध बताया जाये वहाँ दीपक अलङ्कार होता है। उदाहरण इस प्रकार है—

सरसी में कमल,
नयन पूजा में मुद्रित।" —नरेन्द्र शर्मा

एक अन्य उदाहरण—पौधे सींचो ही नहीं, उन्हें गोड़ो भी,
डालों को चाहो जिधर उधर मोड़ो भी।
पुरुषों को तो बस राजनीति की बातें,
नृप में माली में काट छाँट की घातें ।। —मैथिलीशरण गुप्त

यहाँ माली के समान राजा भी काँट-छाँट अर्थात् कूटनीति की बातें करते हैं दोनों के समान धर्म का वर्णन किया गया है।

अन्योक्ति—जहाँ किसी अन्य व्यक्ति या वस्तु को लक्ष्य में रखकर कोई बात किसी दूसरे के लिए कही जाती है, वहाँ अन्योक्ति अलङ्कार होता है।

उदाहरण— स्वारथु सुकृतु न श्रम वृथा, देखि विहंग विचारि।
बाज पराए पानि परि, तूँ पच्छीनु न मारि ।।—बिहारी

हे बाज पक्षी ! तू दूसरों के हाथ में पड़कर पक्षियों को मत मार। इससे तेरा न तो कोई स्वार्थ सिद्ध होता है और न तुझे पुण्य मिलता है। तेरा यह श्रम ही व्यर्थ है।

अन्य उदाहरण— मेरे उपवन के हरिण आज वन चारी।
मैं बांध न लूंगी तुम्हें तजों भय भारी ।। —गुप्तजी

यहां पर हरिण के लिए कही उक्ति लक्ष्मण पर घटित होती है अतः अन्योक्ति है।

अनन्वय—जहाँ अन्य उपमान के अभाव में उपमेय ही स्वयं उपमान का भी काम करता है, वहाँ अनन्वय नामक अलंकार होता है। उदाहरण इस प्रकार है—

सुमिरि गंग, कहि गंग, गंग संगति अभिलाखत।
मानि गंग सम गंग, रंग कविता को राखत ।। —रत्नाकर

यहाँ पर गंगा के समान गंगा ही का कथन है।

प्रतीप—जहाँ उपमान का उपमेय के रूप में वर्णन किया जाये अथवा प्रसिद्ध उपमान का उपमेय द्वारा तिरस्कार दिखाया जाये, वहाँ प्रतीप अलंकार होता है।

उदाहरण— बिदा किए बटु विनय करि, फिरे पाइ मन काम।
उतरि नहाने जमुन-जल जो सरीर सम स्याम ।।
—रामचरित मानस से

प्रतीप पाँच प्रकार का होता है।

प्रथम प्रतीत—जहाँ प्रसिद्ध उपमान को उपमेय रूप में ग्रहण करके उसकी निष्फलता दिखाइ जाये वहाँ प्रथम प्रतीत होता है। उदाहरण इस प्रकार है—

संध्या फूली परम प्रिय की कान्ति सी है दिखाती,
मैं पाती हूँ रजनि तन में श्याम का रंग छाया।
ऊषा आती प्रति दिवस है प्रीति से रंजिता हो,
पाया जाता वर वदन सा ओप आदित्य में है।
—प्रिय प्रवास से

प्रसिद्ध उपमान संध्या को उपमेय कृष्ण की कान्ति के समान कहने में यहाँ प्रतीप है।

द्वितीय प्रतीप—जहाँ कल्पित उपमेय द्वारा उपमान (पूर्व उपमेय) का निरादर किया जाये वहाँ द्वितीय प्रतीप होता है।

उदाहरण— अरी सुनयने ! इन नयनों पर क्या फूली फिरती है।
इन्ही सदृश इन्दीवर-श्रेणी प्रतिसर में तिरती है ॥

यहाँ प्रसिद्ध उपमान 'इन्दीवर' को नायिका के नेत्रों के समान कहा गया है—उपमेय बनाया गया है और वास्तविक उपमेय (नेत्र) का अनादर किया गया है। अस्तु, यहाँ द्वितीय प्रतीप होता है।

तृतीय प्रतीप—जहाँ उपमेय को उपमान बनाकर उसके द्वारा कल्पित उपमेय का निरादर किया जाय।

उदाहरण— जिसकी आँखों पर निज आँखें रख विशालता नापी है।
विजय गर्व से पुलकित होकर मन ही मन फिर काँपी है ॥—भक्त

यहाँ बेगम की आँख (प्रसिद्ध उपमान) का अनादर कराया गया है। अस्तु यहाँ तृतीय प्रतीप है।

चतुर्थ प्रतीप—जहाँ उपमान की उपमेय से की गई समता व्यर्थ सिद्ध की जाय, वहाँ चतुर्थ प्रतीप होता है।

उदाहरण— इन चंचल नयनों का जादू,
जड़ मीन कहाँ से पाएंगे ?

यहाँ 'जड़ मीन इन चंचल आँखों का जादू कहाँ से पाएँगे ?' कहकर प्रसिद्ध उपमान (मीन) की अयोग्यता घोषित की जा रही है। अस्तु, यहाँ चतुर्थ प्रतीप है।

पंचम प्रतीप—जहाँ उपमान (कल्पित उपमेय) उपमेय (कल्पित उपमान) से हीनता के कारण व्यर्थ कह दिया जाता है, वहाँ पंचम प्रतीप होता है।

उदाहरण — तिय तों मुख ही सों सदा, रहै उजास अमंद।
कहिये कहा विरंचि सों, बृथा रच्यौ है चंद ॥—सोमनाथ

नायिका का मुख उज्ज्वल, प्रकाश दायक है, अतः चन्द्रमा की रचना बेकार है—कहकर यहाँ उपमान (चन्द्रमा) का कैमर्थ्य से आक्षेप है। अतः यहाँ पाँचवाँ प्रतीप है।

उल्लेख—जहाँ पर वर्णनीय या उपमेय का अनेक प्रकार से उल्लेख अथवा वर्णन किया जाता है, वहाँ उल्लेख अलंकार होता है। यह दो रूपों में आता है।

प्रथम उल्लेख—जहाँ प्रस्तुत का अनेक लोग अनेक रूपों में वर्णन करें अथवा अनेक रूपों में उसे देखें या सुनें।

उदाहरण— जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति।
गुरुजन जानत लाज है, प्रीतम जानत प्रीति ॥

यहाँ राधा को उनकी सपत्नियों ने अनीति समझा, सखियों ने नीति के रूप

में जाना, गुरुजनों ने उसे साक्षात् लज्जा और उसके प्रियतम श्रीकृष्ण ने मूर्तिमती प्रीति ही समझा। अर्थात् एक ही राधा को अनेक व्यक्तियों ने अनेक रूपों में जाना।

द्वितीय उल्लेख—जहाँ एक ही व्यक्ति अथवा वस्तु को एक ही व्यक्ति अनेक रूपों में देखे, समझे अथवा वर्णन करे, वहाँ दूसरा उल्लेख होता है।

उदाहरण— साधुन को सुखदानि है, दुर्जन को दुखदानि।
बैरिन-विक्रम-हानिप्रद, राम तिहारे पानि॥

यहाँ एक ही व्यक्ति ने राम के 'पानि' हाथ का अनेक रूपों में वर्णन किया है। अतः यहाँ द्वितीय उल्लेख हुआ।

स्मरण—जहाँ किसी वस्तु के देखने से उसी के समान रूप वाली पहले देखी हुई किसी दूसरी ज्ञात वस्तु का स्मरण हो आए, वहाँ स्मरण अलंकार होता है।

उदाहरण— कालिन्दी के पुलिन पर जा या सजीले सरों में
जो मैं फूले कमलकुल को मुग्ध हो देखती हूँ;
तो प्यारे के कलित कर की औ अनूठे पगों की
छा जाती है सरस सुषमा वारिस्रावी दृगों में। —प्रियप्रवास

यहाँ कमल के फूलों को देखकर (तत्समान) कृष्ण के कर और चरण की याद आती है। अतः स्मरण अलंकार है।

प्रतिवस्तूपमा—जहाँ उपमेय और उपमान दोनों वाक्यों का एक ही साधारण धर्म भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कहा जाए, वहाँ प्रतिवस्तूपमा होती है।

एक समय जो ग्राह्य दूसरे समय त्याज्य होता है।
उष्मा में हिम के कंबल का भार कौन ढोता है।—गुप्त

इसमें 'त्याज्य' और 'भार कौन ढोता है' दूसरे-दूसरे शब्दों में एक ही धर्म कहा गया है। दोनों में उपमेय-उपमान भाव है।

निदर्शना—जहाँ उपमेय और उपमान वाक्यों के अर्थों में सर्वथा भिन्नता होते हुए भी दोनों में उपमा की कल्पना की जाय, वहाँ निदर्शना होती है।

इसके तीन भेद कहे गए हैं—

प्रथम निदर्शना—जहाँ जे-ते, जो-सो आदि वाचक शब्दों द्वारा उपमेय और उपमान वाक्यों के समान अर्थों में अभेद-सम्बन्ध आरोपित किया जाय। इसे 'वाक्यार्थ वृत्ति' निदर्शना कहते हैं।

उदाहरण— जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु स्रम करहीं।
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥
—रामचरित मानस

यहाँ दोनों वाक्यों में असम्भव होने पर भी एकता स्थापित की गई है। जे-ते वाचक द्वारा यह कल्पना की गई है।

द्वितीय निदर्शना—जहाँ उपमेय के गुण का उपमान में अथवा उपमान के गुण का उपमेय में आरोप किया जाय। इसे 'पदार्थ वृत्ति' निदर्शना कहते हैं॥

उदाहरण— जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतै जोति-जोति ओहि भई।
रवि-ससि-नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन, पदारथ, मानिक, मोती॥
—पद्मावत

पद्मावती के दाँतों की ज्योति का आरोप रवि, शशि, नक्षत्र, रत्नादिकों में किया गया है।

तृतीय निदर्शना—जहाँ किसी की सत् या असत् क्रिया द्वारा अच्छी अथवा बुरी शिक्षा दी जाय, वहाँ तृतीय निदर्शना होती है। उदाहरण—

तजि आशा तन-प्रान की, दीपहिं मिलत पतंग।
दरसावत सब नरन को, परम प्रेम को ढंग॥

यहाँ प्रेम-पथ पर चलकर सुख पूर्वक प्राण तजने की शिक्षा पतंग द्वारा दी गई है।

सहोक्ति—जहाँ सह, संग, साथ, समेत आदि वाचक शब्दों द्वारा एक ही क्रिया-पद दो अर्थों का (एक का प्रधान और दूसरे का गौण रूप से) बोधक हो, वहाँ सहोक्ति होती है।

उदाहरण—
निज पलक, मेरी विकलता, साथ ही
अवनि से, उर से, मृगेक्षिणि ने उठा,
एक पल निज शस्त्र-श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप-सी।—पन्त

यहाँ 'साथ ही' शब्द की सहायता से नायिका की पलकों का नीचे से (भूमि से) और नायक की विकलता का हृदय से उठना कहा गया है। यथासंख्य के मिश्रण से इसकी चारुता और भी बढ़ गयी है।

परिकर—जहाँ विशेष्य के साथ साभिप्राय विशेषण दिए जायँ वहाँ परिकर होता है।

उदाहरण—
निर्दोषा, कुलवधू, एक—
वस्त्रा को खींच महल से।
दासी बना सभा में लाये
दुष्ट द्यूत के छल से।—दिनकर

उदाहरण के रूप में उद्धृत काव्यार्थ का लक्ष्य कौरवों के कर्म को अनुचित बतलाना है, जो साभिप्राय प्रयुक्त 'निर्दोष', 'कुलवधू' एवं 'एक वस्त्रा' विशेषण-पदों द्वारा सम्यक रूप से प्रतिपादित हो रहा है। अतः यहाँ परिकर अलंकार है।

परिकरांकुर—जहाँ विशेष्य का प्रयोग साभिप्राय हो, वहाँ परिकरांकुर होता है।

उदाहरण—
अनुज, रहना उचित तुमको यहीं है।
यहाँ जो है त्रिदिव में भी नहीं है॥—साकेत

'अनुज' (छोटा) होने से ही लक्ष्मण के लिए राम का आदेश मानना आवश्यक है। अतः अनुज साभिप्राय सम्बोधन है।

तुल्ययोगिता—जहाँ अनेक धर्मों का तुल्ययोग या एकत्व हो, वहाँ तुल्ययोगिता होती है। परवर्ती आचार्यों ने इनके तीन प्रकार बतलाए हैं।

प्रथम तुल्ययोगिता—जहाँ अनेक प्रस्तुतों अथवा अनेक अप्रस्तुतों (उपमानों) का एक ही धर्म कहा जाय।

(क) अनेक उपमेयों की धर्मैकता

उदाहरण— संग ते जती, कुमंत्र ते राजा। मान ते ग्यान, पान ते लाजा॥
प्रीत प्रनय विनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति अस सुनी॥
—रामचरित मानस

यहाँ जती, राजा, ग्यान, लाज, प्रीति और गुनी सबका एक धर्म, 'नासहिं' कहा गया है।

(ख) अनेक अप्रस्तुतों की धर्मैकता

उदाहरण— कुन्द कली दाड़िम दामिनी। सरद कमल ससि अहि-भामिनी।
श्रीफल कनक कदलि हरषाहिं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥
—रामचरित मानस

यहाँ कुन्द-कली, दाड़िम, दामिनी, सरद-कमल, सरद-ससि, अहि-भामिनी, श्रीफल, कनक और कदली सबका एक धर्म 'हरषाही' कहा गया है।

द्वितीय तुल्ययोगिता—जहाँ शत्रु और मित्र (सज्जन और असज्जन) दोनों के साथ तुल्य व्यवहार का कथन हो।

उदाहरण—रामभाव अभिषेक समय जैसा रहा, बन जाते भी सहज सौम्य वैसा रहा।
वर्षा हो या ग्रीष्म सिन्धु रहता वही, मर्यादा की सदा साक्षिणी है मही॥
—साकेत

तृतीय तुल्ययोगिता—जहाँ उत्कृष्ट गुणवाले अनेक उपमानों के साथ मिलाकर उपमेय का भी वर्णन किया जाय।

उदाहरण— भोज विक्रमादित्य नृप, जगदेवो रनधीर।
दानिन हूँ के दानि दिन, इन्द्रजीत बर बीर॥ केशवदास

यहाँ कविवर केशवदास ने भोज, विक्रमादित्य और जगदेव जैसे महादानियों में अपने आश्रयदाता इन्द्रजीत को भी गिनाया है।

कारक दीपक—जहाँ अनेक क्रियाओं का एक ही कारक कहा जाए, वहाँ कारक दीपक होता है, अर्थात् जहाँ कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण इनमें किसी एक से भी अनेक क्रियाओं का सम्बन्ध रहता है, कारक दीपक होता है।

उदाहरण— बता अरी अब क्या करूँ, रूपी रात से रार।
भय खाऊँ, आँसू पियूँ, मन मारूँ झख मार॥ —साकेत

यहाँ भय खाऊँ, आँसू पियूँ आदि क्रियाओं का सम्बन्ध उर्मिला (कर्त्ता) से है। अन्य उदाहरण इस प्रकार है :–

इन्दु की छवि में, तिमिर के गर्भ में, अनिल की ध्वनि में, सलिल की बीचि में।
एक उत्सुकता विचरती थी सरल, सुमन की स्मृति में, लता के अधर में॥

आवृत्ति दीपक—जहाँ क्रिया-पद की आवृत्ति हो, वहाँ आवृत्ति दीपक होता है। इसके तीन भेद होते हैं–

(१) पदावृत्ति, (२) अर्थावृत्ति और (३) पदार्थावृत्ति।

(१) **पदावृत्ति**—जहाँ एक ही क्रिया-पद भिन्न-भिन्न अर्थों में अनेक बार प्रयुक्त हो।

उदाहरण—

जागत हौ तुम जगत में, भावसिंह बर बान।
जागत गिरिबर-कंदरनि, तव अरि तजि अभिमान।

यहाँ पहले 'जागत' का अर्थ है, 'तेज से प्रकाशित हो रहे' और दूसरे 'जागत' का अर्थ है, 'सोते नहीं' (चिन्ता, भय आदि के कारण)।

(२) **अर्थावृत्ति**—जहाँ एकार्थवाची अनेक क्रिया-पदों की आवृत्ति हो।

उदाहरण—

प्रान प्यारे-चित्त में निवास प्रानप्यारी करैं,
प्रानप्यारो बसत हिये में प्रानप्यारी के॥ —रस-कलस

यहाँ 'बसत' और 'निवास करैं' दोनों का अर्थ एक ही है।

(३) **पदार्थावृत्ति**—जहाँ एक ही क्रिया एक ही अर्थ में बार-बार आती है।

उदाहरण—

गरज गगन के गान! गरज गम्भीर स्वरों में,
भर अपना सन्देश उरों में औ' अधरों में;
बरस धरा में, बरस सरित, गिरि, सर, सागर में,
हर मेरा सन्ताप, पाप जग का क्षण भर में। —पन्त

यहाँ 'गरज' और 'बरस' में पद और अर्थ की आवृत्ति से आवृत्ति दीपक है।

मालादीपक—जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत की एक ही क्रिया का गृहीत-मुक्त रीति से व्यवहार किया जाता है, वहाँ मालादीपक होता है।

उदाहरण—

घन में सुन्दर विजली-सी;
विजली में चपल चमक-सी;
आँखों में काली पुतली,
पुतली में श्याम झलक-सी।
प्रतिमा में सजीवता-सी,
बस गई सुछवि आँखों में। —आँसू ('प्रसाद')

यहाँ गृहीत-मुक्त रीति से प्रयुक्त उपमेयों और उपमानों की एक ही क्रिया 'बस गई' कही गई है।

यथासंख्य—जहाँ पहले कहे गये पदार्थों का उत्तर-कथित पदार्थों से उसी

'अनुज' (छोटा) होने से ही लक्ष्मण के लिए राम का आदेश मानना आवश्यक है। अतः अनुज साभिप्राय सम्बोधन है।

तुल्ययोगिता—जहाँ अनेक धर्मों का तुल्ययोग या एकत्व हो, वहाँ तुल्य-योगिता होती है। परवर्ती आचार्यों ने इनके तीन प्रकार बतलाए हैं।

प्रथम तुल्ययोगिता—जहाँ अनेक प्रस्तुतों अथवा अनेक अप्रस्तुतों (उपमानों) का एक ही धर्म कहा जाय।

(क) अनेक उपमेयों की धर्मैकता

उदाहरण— संग ते जती, कुमंत्र ते राजा। मान ते ग्यान, पान ते लाजा॥
प्रीत प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति अस सुनी॥
—रामचरित मानस

यहाँ जती, राजा, ग्यान, लाज, प्रीति और गुनी सबका एक धर्म, 'नासहिं' कहा गया है।

(ख) अनेक अप्रस्तुतों की धर्मैकता

उदाहरण— कुन्द कली दाड़िम दामिनी। सरद कमल ससि अहि-भामिनी।
श्रीफल कनक कदलि हरषाहिं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥
—रामचरित मानस

यहाँ कुन्द-कली, दाड़िम, दामिनी, सरद-कमल, सरद-ससि, अहि-भामिनी, श्रीफल, कनक और कदली सबका एक धर्म 'हरषाही' कहा गया है।

द्वितीय तुल्ययोगिता—जहाँ शत्रु और मित्र (सज्जन और असज्जन) दोनों के साथ तुल्य व्यवहार का कथन हो।

उदाहरण—रामभाव अभिषेक समय जैसा रहा, बन जाते भी सहज सौम्य वैसा रहा।
वर्षा हो या ग्रीष्म सिन्धु रहता वही, मर्यादा की सदा साक्षिणी है मही॥
—साकेत

तृतीय तुल्ययोगिता—जहाँ उत्कृष्ट गुणवाले अनेक उपमानों के साथ मिलाकर उपमेय का भी वर्णन किया जाय।

उदाहरण— भोज विक्रमादित्य नृप, जगदेवो रनधीर।
दानिन हूँ के दानि दिन, इन्द्रजीत बर बीर॥ केशवदास

यहाँ कविवर केशवदास ने भोज, विक्रमादित्य और जगदेव जैसे महादानियों में अपने आश्रयदाता इन्द्रजीत को भी गिनाया है।

कारक दीपक—जहाँ अनेक क्रियाओं का एक ही कारक कहा जाए, वहाँ कारक दीपक होता है, अर्थात् जहाँ कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण इनमें किसी एक से भी अनेक क्रियाओं का सम्बन्ध रहता है, कारक दीपक होता है।

उदाहरण— बता अरी अब क्या करूँ, रूपी रात से रार।
भय खाऊँ, आँसू पियूँ, मन मारूँ झख मार॥ —साकेत

यहाँ भय खाऊँ, आँसू पियूँ आदि क्रियाओं का सम्बन्ध उर्मिला (कर्ता) से है। अन्य उदाहरण इस प्रकार है :-

इन्दु की छवि में, तिमिर के गर्भ में, अनिल की ध्वनि में, सलिल की बीचि में।
एक उत्सुकता विचरती थी सरल, सुमन की स्मृति में, लता के अधर में ॥

आवृत्ति दीपक—जहाँ क्रिया-पद की आवृत्ति हो, वहाँ आवृत्ति दीपक होता है। इसके तीन भेद होते हैं–

(१) पदावृत्ति, (२) अर्थावृत्ति और (३) पदार्थावृत्ति।

(१) **पदावृत्ति**—जहाँ एक ही क्रिया-पद भिन्न-भिन्न अर्थों में अनेक बार प्रयुक्त हो।

उदाहरण—
जागत हौ तुम जगत में, भावसिंह वर बान।
जागत गिरिवर-कंदरनि, तव अरि तजि अभिमान।

यहाँ पहले 'जागत' का अर्थ है, 'तेज से प्रकाशित हो रहे' और दूसरे 'जागत' का अर्थ है, 'सोते नहीं' (चिन्ता, भय आदि के कारण)।

(२) **अर्थावृत्ति**—जहाँ एकार्थवाची अनेक क्रिया-पदों की आवृत्ति हो।

उदाहरण—
प्रान प्यारे-चित्त में निवास प्रानप्यारी करैं,
प्रानप्यारो बसत हिये में प्रानप्यारी के ॥ —रस-कलस

यहाँ 'बसत' और 'निवास करै' दोनों का अर्थ एक ही है।

(३) **पदार्थावृत्ति**—जहाँ एक ही क्रिया एक ही अर्थ में बार-बार आती है।

उदाहरण—
गरज गगन के गान! गरज गम्भीर स्वरों में,
भर अपना सन्देश उरों में औ' अधरों में;
बरस धरा में, बरस सरित, गिरि, सर, सागर में,
हर मेरा सन्ताप, पाप जग का क्षण भर में। —पन्त

यहाँ 'गरज' और 'बरस' में पद और अर्थ की आवृत्ति से आवृत्ति दीपक है।

मालादीपक—जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत की एक ही क्रिया का गृहीत-मुक्त रीति से व्यवहार किया जाता है, वहाँ मालादीपक होता है।

उदाहरण—
घन में सुन्दर बिजली-सी;
बिजली में चपल चमक-सी;
आँखों में काली पुतली,
पुतली में श्याम झलक-सी।
प्रतिमा में सजीवता-सी,
बस गई सुछवि आँखों में। —आँसू ('प्रसाद')

यहाँ गृहीत-मुक्त रीति से प्रयुक्त उपमेयों और उपमानों की एक ही क्रिया 'बस गई' कही गई है।

यथासंख्य—जहाँ पहले कहे गये पदार्थों का उत्तर-कथित पदार्थों से उसी

क्रम से सम्बन्ध हो, वहाँ यथासंख्य अलङ्कार होता है। इसे 'क्रम' अलङ्कार भी कहते हैं।

उदाहरण—

निसर्ग ने, सौरभ ने, पराग ने
प्रदान की है अति कान्त भाव से।
वसुन्धरा को, पिक को, मिलिन्द को
मनोज्ञता, मादकता, मदान्धता ॥

—प्रियप्रवास (हरिऔध)

यहाँ प्रथम, तृतीय और चतुर्थ चरणों में कथित तीनों पदार्थों का उसी क्रम से सम्बन्ध भी है। निसर्ग ने वसुन्धरा को मनोज्ञाता दी है, सौरभ ने पिक को मादकता दी है और पराग ने मिलिन्द को मदान्धता दी है।

काव्यलिंग—जहाँ समर्थन के योग्य कही गई बात का ज्ञापक कारण द्वारा समर्थन किया जाय, वहाँ काव्यलिंग होता है।

उदाहरण—

क्षमा करो इस भाँति न तुम तज दो मुझे,
स्वर्ण नहीं हे राम, चरणरज दो मुझे।
जड़ भी चेतन मूर्ति हुई पाकर जिसे,
उसे छोड़ पाषाण भला भावे किसे। —गुप्त

यहाँ चरणरज पाने की अभिलाषा सिद्ध करने को तीसरी पंक्ति में कारण कहा गया है। इसमें वाक्यार्थ में कारण है।

स्वभावोक्ति—जहाँ मनुष्य, पशु आदि जाति की सहृदय-संवेद्य, अर्थात् सहृदयों द्वारा ही रसास्वादन के योग्य, स्वाभाविक क्रिया या चेष्टा और रूप का वर्णन हो, वहाँ स्वाभावोक्ति होती है।

उदाहरण—

कसी क्षीण कटि, पीन वक्ष था,
कच कन्धरा ढँके थे;
स्वर्ण वर्ण के उत्तरीय में
चित्रित रत्न ढँके थे ॥—गुप्त

यहाँ कृष्ण की बालचेष्टा का स्वाभाविक चित्रण है।

समासोक्ति—जहाँ विशेषणों की समता से प्रस्तुत या वर्णनीय के अतिरिक्त अप्रस्तुत या अवर्णनीय की भी सूचना मिले, वहाँ समासोक्ति होती है।

यह दो प्रकार की होती है—

(१) श्लिष्ट या वाच्य शब्दों द्वारा और (२) गम्य शब्दों द्वारा।

श्लिष्ट शब्दों द्वारा

उदाहरण—

बड़ो डील लखि पील को, सबनि तज्यो बन-थान।
धनि सरजा तू जगत में, ताकौ हरयो गुमान॥

—शिवराज-भूषण

यहाँ 'सरजा' शब्द श्लिष्ट है, जिसका एक अर्थ है 'सिंह' और दूसरा अर्थ है 'शिवाजी'। 'सरजा' (शर्जः) शिवाजी की उपाधि थी। सिंह और हाथी के अतिरिक्त दूसरा अर्थ यह निकलता है कि शिवाजी ने सम्राट औरंगजेब का अभिमान चूर कर दिया।

गम्य शब्दों के द्वारा

उदाहरण— तच्यो आँच अति बिरह की, रह्यो प्रेम-रस भीजि।
नैननि के मग जल बहै, हियो पसीजि-पसीजि ॥—बिहारी

यहाँ विरह-अग्नि में तप कर हृदय का प्रेम-रस से भीगना और उसी रस का आँखों से आंसू के रूप में बह निकलना प्रस्तुतार्थ है। इस सांकेतिक वर्णन के द्वारा किसी वस्तु के, रासायनिक क्रिया से, 'अर्क निकालने' की विधि की सूचना भी मिलती है।

व्याजस्तुति—जहाँ निन्दा से स्तुति प्रकट हो, वहाँ व्याजस्तुति अलंकार होता है।

उदाहरण— राजभोग से तृप्त न होकर मानों वे इस बार
हाथ पसार रहे हैं जाकर जिसके-तिसके द्वार
छोड़कर निज कुल और समाज।—यशोधरा

यहाँ यशोधरा के इन वचनों से बुद्ध की निन्दा टपकती है पर उससे उनके वैराग्य, सुख के प्रति उदासीनता और सबके लिए स्नेह की अभिव्यक्ति होने से व्याज-स्तुति है।

व्याजनिन्दा—जहाँ देखेने में स्तुति हो किन्तु उससे निन्दा का भाव प्रकट हो, वहाँ व्याजनिन्दा होती है।

उदाहरण— आत्मज्ञान-हीन वह मुग्धा वही ज्ञान तुम लाये,
धन्यवाद है, बड़ी कृपा की, कष्ट उठाकर आये!—गुप्त

यहाँ राधा को ज्ञान का उपदेश देने वाले शुष्क दार्शनिक उद्धव की इस बाहरी प्रशंसा से उनकी यह निन्दा व्यक्त होती है कि तुम इतने अविवेकी हो कि पात्रापात्र का विचार किये बिना सब को एक-सा उपदेश देने लगते हो।

परिसंख्या—जहाँ किसी प्रतिपादित वस्तु से उसी की समानधर्मी अन्य वस्तुओं का निषेध सूचित हो, वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है।

उदाहरण— जहाँ वक्रता सर्प के चाल में थी,
प्रजा में नहीं थी न भूपाल में थी।
नरों में नहीं, कालिमा थी घनों में,
जनों में नहीं, शुष्कता थी वनों में॥

वक्रता और कालिमा गुणों का एक स्थान में निषेध कर अन्यत्र स्थापन किया गया है।

एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है।

देह में पुलक, उरों में भार,
भ्रुवों में भंग, दृगों में बाण,
अधर में अमृत, हृदय में प्यार,
गिरा में जाल, प्रणय में मान।—पंत

यहाँ भार, भंग, बाण, अमृत, लाज, मन को अपने वास्तविक स्थान से निषिद्ध कर उरों, भ्रुवों, दृगों,अधर, गिरा और प्रणय में प्रतिष्ठित किया गया है।

उभयालंकार

(१) **संसृष्टि**—जहाँ एक से अधिक अलंकार एक-दूसरे से अलग अस्तित्व रखते हुए तिल-तन्दुल न्याय से मिले दिखाई पड़ें, वहाँ संसृष्टि नामक अलंकार होता है।

उदाहरण—

बाल्य-सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग-सी नित।—पंत

यहाँ पूर्वार्द्ध में रूपक और उत्तरार्द्ध में उपमा के रहने से दो अर्थालंकारों की संसृष्टि है। एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है—

सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह।
छांह सी अम्बर-पथ से चली॥ परिमल से—निराला

यहाँ उपमा और रूपक के सम्मिलित होते हुए भी भेद स्पष्ट है अत: संसृष्टि है।

(२) **संकर**—जहाँ एक से अधिक अलंकार नीर-क्षीर के समान इस प्रकार घुल-मिल गये हों कि उनका अलग-अलग अस्तित्व न दिखाई पड़े, वहाँ संकर नामक उभयालंकार होता है।

उदाहरण—

निज पलक, मेरी, विकलता साथ ही
अवनि से, उर से मृगेक्षिणि ने उठा,
एक पल निज शस्य-श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप-सी।—पन्त

पहले के दो चरणों में सहोक्ति, यथासंख्य और लुप्तोपमा का एकाश्रयानुप्रवेश है। अवनि से पलक और उर से विकलता के उठाने में यथासंख्य, पलक और विकलता के एक साथ उठाने में सहोक्ति और मृगेक्षिणि में लुप्तोपमा है। इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचन के अन्तर्गत अलंकारों के महत्वपूर्ण स्वरूपों और उनके भेदों पर सोदाहरण विचार किया गया है। इनसे यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि अलंकार के प्रयोग द्वारा कही जाने वाली बात अधिक प्रभावशाली और चमत्कार पूर्ण हो जाती है। कलापूर्ण अभिव्यक्ति के सुन्दर स्वरूप को प्रकट करने वाले तत्व अलंकार है इसीलिए चाहे प्राचीन काव्य हो अथवा आधुनिक अलंकार का प्रयोग बराबर और सहज रूप से होता रहता है।

आधुनिक काव्य में विशेष रूप से और प्राचीन काव्य में कहीं-कहीं ऐसी उक्तियों का भी प्रयोग देखा जाता है जो भारतीय दृष्टि से तो नहीं परन्तु पाश्चात्य दृष्टि से अलंकारों के रूप में परिगणित होते हैं, इनमें से मुख्य भेद तीन हैं १—मानवीकरण २—विशेषण-विपर्यय और ३—ध्वनि अर्थ व्यंजना। इन पर भी यहाँ विचार कर लेना उपयोगी होगा।

१. **मानवीकरण**—जहाँ जड़ प्रकृति के तत्वों को मनुष्य के समान आचरण करते हुए चित्रित किया जाता है वहाँ मानवीकरण होता है।

पूर्णमासी रात भर
पीती रही सुधा
अंक में शशि के सिमट कर
धोती रही श्यामल वदन
सुध-बुध्र बिसार
दिन सरीखी श्वेत चादर ढाँक—शकुन्तला माथुर

२. **विशेषण विपर्यय**—यह अलंकार वहाँ होता है, जहाँ विशेषण को अपने स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर इस प्रकार प्रयुक्त किया जाता है कि जिससे कोई चमत्कार उत्पन्न हो।

बता कहाँ अब वह वंशीवट
कहाँ गये नट नागर श्याम।
चल चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृन्दाधाम॥—परिमल निराला

३. **ध्वन्यर्थ व्यंजना**—जहाँ किसी दृश्य का वर्णन करने के लिए उसके अनुरूप ध्वनि वाले वर्णों और शब्दों का प्रयोग किया जाता है वहाँ ध्वन्यर्थ व्यंजना अलंकार होता है। जैसे—

सर-सर मर-मर झन-झन सन-सन
गाता कभी गरजता भीषण
बन-बन उपवन
पवन-प्रभंजन। —पंत जी

एक अन्य उदाहरण—पुच्छल तारे,
बिजली बूँदनियों की
तड़-तड़-तड़-तड़
तक तड़ाक की आतिश बाजी।—नरेश मेहता

हिन्दी कविता में प्रायः इन्हीं तीन पाश्चात्य अलंकार रूपों का प्रयोग विशेष हुआ है। इस प्रकार अलंकार अभिव्यक्ति में सौन्दर्य उत्पन्न करने वाले तत्व के रूप में माने जाते हैं।

शब्द-शक्ति

शब्द और अर्थ

साहित्य-साधना का मूलाधार 'शब्द-साधना' है। शब्द का धातुगत अर्थ शब्द करना, आविष्कार करना आदि होता है, परन्तु शब्द को अक्षर, वाणी, वाक्य शून्य, ध्वनि और श्रवण (शब्दोऽक्षरयशोगीर्व्योमिवाक्ये खे श्रवणे ध्वनौ-हैमः)। शब्द शक्तियों के ज्ञान से शब्दों के उच्चरित होने के बाद जिस सांकेतित, लक्षित या व्यंग्यभूत तत्वों की उपस्थिति होती है उसे अर्थ कहते हैं।

शब्द और अर्थ किसी भी उक्ति के लिए अनिवार्य होते हैं। शब्दों का अर्थ प्रसंग के अनुसार बदल जाता है, इस सन्दर्भ में संस्कृति में प्रयुक्त 'सैन्धव' और 'उलूक' शब्दों को अक्सर उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। 'सैन्धव' का अर्थ सेन्धा नमक और घोड़ा दोनों होते हैं। प्रसंग के अनुसार वीर और रसोइया इनका अलग-अलग अर्थ करते हैं। इसी प्रकार उल्लू एक पक्षी भी है तथा यह शब्द मूर्खता का परिचायक भी है।

साहित्य में जहाँ काव्य साधना की बात की जाती है वहाँ उससे शब्दार्थ साधना का ही अर्थ लेना चाहिए। शब्द और अर्थ का अप्रत्यक्ष सम्बन्ध साहित्य के सभी तत्वों से होता है। शब्दार्थ का उपयोग सभी लोग करते हैं परन्तु कवि के द्वारा प्रयुक्त शब्द में सामान्य अर्थमात्र न होकर कुछ अलौकिक एवं चिरस्थायी अर्थ प्राणता होती है। इसे ही शब्द साधना कहते हैं। इसी के बल पर सामान्य मानव होने पर भी कवि देशकाल की सीमाओं से परे हो जाता है इसी को अग्निपुराण में ऐसा वर्णित किया गया है—

"नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥"

शब्द, पद और वाक्य—महाभाष्य का कथन है कि 'प्रतीत पदार्थ को लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।' अर्थात् संसार में पदार्थ की प्रतीति कराने वाली ध्वनि को शब्द कहते हैं। मोटे तौर पर शब्द का अर्थ ध्वनि, वाक्य, पद, कथन आदि भी होता है। कवि-पुंगव चिन्तामणि का विचार है—

'जो सुनि परे सो शब्द है, समुझि परे सो अर्थ।' जो सुन पड़े वह शब्द है और उससे जो समझ में आवे वह अर्थ है। शब्द सार्थक भी होते हैं और निरर्थक भी। परन्तु काव्य के भीतर कोई भी शब्द निरर्थक नहीं। शब्द या शब्द समूह जब प्रयोग के उपयुक्त होता है या प्रयोग की योग्यता प्राप्त करता है तब वह पद कहलाता है। अतः पद, प्रयोगार्ह सार्थक शब्द या शब्द समूह होता है। प्रायः शब्द और पद समान अर्थों में भी प्रयुक्त होता है, परन्तु प्रयोग में आया सार्थक शब्द ही पद है। **वाक्य** वह पद-समूह है जो पूर्ण अर्थ को प्रकाशित करता है। यह पूर्णार्थ प्रकाशक हो

इसलिए इसमें 'योग्यता,' 'आकांक्षा,' 'आसक्ति' तीनों गुणों का होना आवश्यक है। तीनों का विश्लेषण इस प्रकार है—

'पदार्थों के परस्पर अन्वय में या सम्बन्ध स्थापित करने में किसी प्रकार की अनुपपत्ति या अर्थ-बाधा का न होना ही 'योग्यता' है।' इसी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पानी से प्यास बुझती है। पद समूह में योग्यता है पर यदि कहा जाय कि आग से प्यास बुझती है तो इसमें अर्थ की बाधा होने के कारण यह योग्यता नहीं है।

'एक-दो साकांक्ष पदों के रहते हुए भी वाक्यार्थ के पूर्ण होने के लिए अन्यान्य पदों की जो जिज्ञासा बनी रहती है, उसी को 'आकांक्षा' कहते हैं।' जैसे 'श्याम ने राम को······' पद समूह को वाक्य इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें यह आकांक्षा बनी रहती है कि इसके आगे क्या है? और इसमें यदि 'दस घोड़े दिये' को जोड़ दिया है तो पद समूह वाक्य बन जाता है।

'एक पद को सुनने के बाद उच्चरित होने वाले अन्य पद के सुनने तक समय-ज्ञान का बना रहना आसक्ति है।' आसक्ति और सन्निधि पर्यायवाची हैं। यदि हम आज केवल 'राधा······' और कल 'पनघट पर गई।' कहें तो इसका कोई अर्थ नहीं होगा क्योंकि इनमें सन्निधि गुण नहीं है।

इस प्रकार वाक्य में योग्यता, आकांक्षा और आसक्ति तीनों का होना परमावश्यक है। वाक्य के आचार्यों द्वारा मान्य भेद इस प्रकार हैं—(क) प्रभुसम्मित वाक्य—स्मृति, वेद आदि के वाक्य। (ख) सुहृत्सम्मित वाक्य—उपयोगिता और कल्याण के स्वर को प्रधानता देकर कहे जाने वाले वाक्य इसमें आते हैं—पुराण के वाक्य इसके उदाहरण हैं। (ग) कान्तासम्मितवाक्य—इनमें कल्याण कामना प्रच्छन्न होती है परन्तु विधि निषेधों का अभाव रहता है। सरस, मधुर वचनों से सिक्त होकर जीवन दर्शन भी प्रभावशाली और सहज ग्राह्य होता है। काव्य में ऐसे ही वाक्यों का साम्राज्य है, इसी को ध्यान में रखकर आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहा था। वाक्य से ही महावाक्य की कल्पना की जाती है। साहित्य दर्पणकार ने वाक्यों के समुदाय को महावाक्य कहा है, यही महाकाव्य हैं। इन सबके अन्तर्गत शब्द का अर्थ बोध कराने वाली शक्ति निहित रहती है उसे शब्द-शक्ति कहते हैं।

शब्द शक्ति—शब्द की शक्ति असीम है। शब्द, उच्चारण के साथ ही हमारे मन, कल्पना और अनुभूति पर प्रभाव डालता है। अचार या चटनी का नाम लेते ही मुँह में पानी भर आता है। भूत या सांप शब्द का उच्चारण करते ही मन में भय का संचार होता है। यह प्रभाव अर्थगत है। अतः जिस शक्ति के द्वारा शब्द का यह अर्थगत प्रभाव पड़ता है, वही **शब्द शक्ति** कहलाती है। शब्द का अर्थ-बोध कराने वाली शक्ति ही शब्द शक्ति है। यह एक प्रकार का शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है, शब्द का अर्थगत व्यापार है। इस शक्ति का भारतीय काव्यशास्त्र में बड़ा वैज्ञानिक

विवेचन किया गया है। शब्द शक्तियाँ तीन हैं : अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इनके सम्बन्ध से तीन प्रकार के शब्द होते हैं : वाचक, लक्षक और व्यंजक तथा तीन प्रकार के अर्थ होते हैं : वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ। यहाँ हम इन शक्तियों पर विचार करेंगे।

अभिधा

अभिधा—वह शब्द शक्ति या शब्द का व्यापार है जिसमें साक्षात् संकेतित या मुख्य अर्थ का बोध होता है। मुख्य या प्रथम अर्थ का बोध कराने के कारण इस अभिधा शक्ति को **मुख्या** या अग्रिमा भी कहते है। जिस शब्द से मुख्य अर्थ का बोध होता है, वह **वाचक** कहलाता है तथा उससे निकलने वाला मुख्य अर्थ **वाच्यार्थ** होता है।

अभिधा शक्ति द्वारा जिन शब्दों की अर्थ व्यक्ति होती है, वे तीन प्रकार माने गये हैं—(१) रूढ़, (२) यौगिक, (३) योगरूढ़।

रूढ़—रूढ़ शब्द वे हैं जिनकी कोई व्युत्पत्ति न हो सके; जैसे—गढ़, घर, तरु, चन्द्र, घोड़ा, पशु आदि।

यौगिक—वे शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति हो सकती है अर्थात् जो प्रकृति और प्रत्यय के योग से बनते हैं। उनमें अवयवार्थ सहित समुदायार्थ का बोध होता है, जैसे—

तरुजीवी, पशुतुल्य, पाचक, नरपति, घटक।

योगरूढ़—वे शब्द हैं जो यौगिक होते हैं फिर भी उनका अर्थ रूढ़ होता है। अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय का अलग-अलग अर्थ तो निकलता है, पर उससे शब्द का वास्तविक अर्थ न निकलकर एक विशिष्ट अर्थ निकलता है; जैसे—

पंकज, पशुपति, चन्द्रमौलि, पयोद, चक्रधर आदि।

वाचक शब्द से जो संकेतित अर्थ निकलता है, वह भी चार प्रकार का माना जाता है।

जातिवाचक शब्द—जाति के द्योतक होते हैं जैसे गाय, पक्षी, वृक्ष आदि। **गुणवाचक शब्द** गुण का बोध कराते हैं जैसे सौरभ, माधुर्य आदि। **क्रियावाचक शब्द** क्रिया का बोध कराते हैं और धातु प्रत्ययादि के निबन्धन से सम्बन्ध रखते हैं। यदृच्छा शब्द संज्ञा-शब्द हैं जो द्रव्य या व्यक्ति का बोध कराते हैं, जाति या गुण का नहीं। उपर्युक्त शब्द अपने साक्षात् संकेतित अर्थ बोध कराने में वाचक शब्द हैं और अभिधा शक्ति यहाँ पर काम करती है।

भट्टनायक आदि अभिधा को विशेष महत्व देते हैं। उनकी दृष्टि से रस की अनुभूति कराने में अभिधा शक्ति ही प्रधान है। उसके द्वारा ही अर्थबोध होता है और उसके बाद भावकत्व के द्वारा साधारणीकरण और भोजकत्व के द्वारा रसास्वादन होता है। अतः अभिधा ही मुख्य शक्ति है। हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य कवि देव का भी कथन है—

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणाहीन ।
अधम व्यंजना रस विरस, उलटी कहत नवीन ।।

उनके मन से प्राचीनों के मत के अनुसार उत्तम काव्य अभिधा में रहता है। इससे ही रस की निष्पत्ति होती है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत था कि अभिधा तथा वाच्यार्थ का महत्व है । असमर्थ, वाच्यार्थ, उसमें लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ निहित होने पर अधिक प्रभावकारक होता है; उससे निकलने वाला व्यंग्यार्थ उतना चमत्कार-पूर्ण नहीं होता । वास्तव में व्यग्यांर्थ या लक्ष्यार्थ के कारण चमत्कार आता है; परन्तु वह चमत्कार होता है वाच्यार्थ में नहीं । अतः इस वाच्यार्थ को देने वाली अभिधा शक्ति का अपना महत्व है । अभिधा के द्वारा अर्थ निश्चित रहता है : फिर भी उसमें कल्पना आदि का चमत्कार रहता है, जैसे—

सोहत ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात ।
मनो नीलमणि सैल पर, आतप पर्‌यो प्रभात ।

लक्षणा

मुखयार्थ या वाच्यार्थ में बाधा या व्याघात के होने पर रूढ़ि या प्रयोजन के सहारे, उससे सम्बन्धित, जहाँ पर अन्य अर्थ लक्षित होता है, वहाँ पर लक्षणा शक्ति काम करती है ।

इस प्रकार लक्षणा से सम्बन्धित तीन बातें हैं—(१) मुख्यार्थ या वाच्यार्थ की बाधा, (२) रूढ़ि या प्रयोजन और (३) उससे सम्बन्धित अन्य अर्थ । इन्हीं तीनों के आधार पर लक्षण के भेदों का विस्तार हुआ है । मुख्यार्थ की बाधा का भाव यह है कि वाच्यार्थ का प्रत्यक्ष विरोध हो और जो वक्ता कहना चाहता है उसके समझने में अड़चन हो । फिर भी प्रयोग के प्रचलन से अर्थात् रूढ़ि से अथवा किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि अर्थात् प्रयोजन से कोई अन्य अर्थ ऐसा निकले जो वाच्यार्थ से सम्बन्ध रखता हो । उदाहरण के लिए "मेरा कुत्ता शेर का चाचा है ।" यहाँ पर मुखयार्थ बाधित है । कुत्ता शेर का चाचा कैसे हो सकता है ? फिर भी प्रयोजन के सहारे यह अर्थ निकला कि आवाज में और भयंकरता में शेर से बढ़कर है । इसी उद्देश्य के कारण ही इस वाक्य का अर्थ निकल पाया, नहीं तो फिर अर्थ न निकलता । इसी प्रकार 'वह पूरा ऊँट है ।' उस मनुष्य में ऊँट होने की बाधा है, परन्तु उसके लम्बे होने के कारण रूढ़ि के द्वारा ऊँट कहा जाता है । ऊँट के लम्बा होने के कारण लम्बे व्यक्ति को ऊँट कहा जाता है ।

लक्षणा के भेद

रूढ़ि और प्रयोजन के आधार पर लक्षणा के दो भेद होते हैं—(१) रूढ़ि, रूढ़िमती, रूढ़िमूला, (२) प्रयोजनवती, प्रयोजनमूला, स्वारसिका, फललक्षणा ।

रूढ़ि लक्षणा—मुख्यार्थ को छोड़कर जहाँ पर रूढ़ि या प्रचलन के कारण अन्य अर्थ ग्रहण किया जाता है वहाँ रूढ़िमती लक्षणा होती है; जैसे—

"यह तैल शीतकाल में उपयोगी है।"

तैल का अर्थ वास्तव में होता है तिल से निकला हुआ। पर यहाँ पर सरसों के तैल से तात्पर्य है। तैल, जिसका तिल से ही सम्बन्धित अर्थ है अन्य स्नेहों के लिए प्रयुक्त करना रूढ़िगत है। इसी प्रकार—

मुँह में ताला लगाओ।
मोहन सितार बजाने में कुशल है।

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित्त प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति॥

आदि में रूढ़ि लक्षणा के उदाहरण हैं।

रूढ़ि लक्षणा में लक्षणा की विशेषता नहीं रह जाती। मुख्य अर्थ की यद्यपि बाधा होती है, परन्तु प्रचलन और प्रयोग-प्रवाह के कारण लक्ष्यार्थ इसी प्रकार निकल आता है, जैसे कि यह मुख्यार्थ या वाच्यार्थ हो। अतः विद्वानों ने इसके भेदों का विस्तार नहीं किया। लक्षणा के भेदों को इसलिए हम प्रयोजनवती के प्रसंग में ही देखते हैं। इसके प्रमुख भेदों पर यहाँ विचार किया जाता है।

प्रयोजनवती लक्षणा के दो भेद हैं—(१) गौणी, (२) शुद्धा।

गौणी लक्षणा—जहाँ पर मुख्य अर्थ की बाधा होने पर सादृश्य संबंध के आधार पर अर्थात् समान रूप, गुण या धर्म के द्वारा, अन्य अर्थ ग्रहण किया जाय वहाँ पर **गौणी लक्षणा** होती है। इस लक्षणा में उपमा, रूपक जैसे सादृश्यमूलक अलंकारों की विशेषता आ जाती है। उदाहरण—

उदित उदय गिरि मंच पर, रघुवर बाल पतंग।
बिकसे संत सरोज सब, हरषे लोचन भृंग॥

यहाँ पर मंच को उदयाचल, राम को सूर्य कहना वाच्यार्थ को बाधित करना है परन्तु रूप और गुण के सादृश्य से ही इस प्रकार के साम्य द्वारा अर्थ की संगति बैठती है। अतः यहाँ पर गौणी लक्षणा है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण हैं :—

पग पग मग अगमन परति, चरन अरुन दुति झूलि।
ठौर ठौर लखियत उठे, दुपहरिया ये फूल॥

× × ×

अरुण अधरों की पल्लव-प्रात,
मोतियों सा हिलता हिम हास

इन्द्रधनुषी पट से ढँक गात
बाल विद्युत का पावस-लास;
हृदय में खिल उठता तत्काल
अधखिले अंगों का मधुमास।

शुद्धा लक्षणा—जहाँ पर मुख्य अर्थ की बाधा होने पर सादृश्य के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों के द्वारा उसे ग्रहण किया जाय, वहाँ पर शुद्धा लक्षणा होती है। ये अन्य सम्बन्ध अनेक होते हैं, जैसे सामीप्य, तात्कर्म्य, अंगांगि, आधाराधेय, कार्यकारण आदि। उदाहरण—

सामीप्य-सम्बन्ध—मेरे सिर पर क्यों बैठते हो ?
पानी में घर बनाया हैं, तो सर्दी लगेगी ही।

तात्कर्म्य-सम्बन्ध—वह मेरे लिए राजा है।
इस घर में नौकर मालिक है।
पितु सुरपुर सियराम लखन बन मुनि व्रत भरत गह्यो।
हौं रहि घर मसान पावक अब मरिबोइ मृतक दह्यो॥

अंगांगि सम्बन्ध—राखी सजी पर कलाई नहीं है।
ये चरण मेरे लिए कल्याणकारी हैं।

आधाराधेय-सम्बन्ध—जंगल में मचान बोलते हैं।
सारा घर तमाशा देखने गया है।
कौसल्या के बचन सुनि, भरत सहित रनिवास।
व्याकुल विलपत राजगृह, मानहुँ सोक निवास॥

कार्य-कारण-सम्बन्ध—सम्पत्ति ही सुख है।
घृत ही बल है।
सत्संगति ही मोक्ष है।

सारोपा साध्यवसाना लक्षणा

आरोप—एक वस्तु का दूसरी वस्तु में भेद-ज्ञापन आरोप कहलाता है। जिस वस्तु का आरोप किया जाता है, वह विषयी या आरोप्यमाण कहलाती है और जिस वस्तु पर आरोप किया जाता है वह विषय या आरोप-विषय है। मुखचन्द्र में मुख पर चन्द्रमा का आरोप है; अतः चन्द्र आरोप्यमाण या विषयी है और मुख है आरोप्य-विषय।

आरोप की स्थिति दो प्रकार की है। एक तो वह जिसमें आरोप्यमाण और आरोप-विषय दोनों ही कथित होते हैं और दूसरी वह जिसमें केवल आरोप्यमाण का ही कथन होता है, आरोप-विषय का नहीं। आरोप-विषय लुप्त रहता है। प्रथम स्थिति **सारोपा** है जिसमें दोनों ही का स्पष्ट कथन रहता है और द्वितीय स्थिति

साध्यवसाना है जिसमें एक लुप्त रहता है। अलंकार के विचार से ये दोनों स्थितियाँ **रूपक और रूपकातिशयोक्ति** अलंकारों की है। सारोपा-साध्यवसाना भेद, गौणी और शुद्धा दोनों ही लक्षणों के होते हैं।

सारोपा गौणी लक्षणा—मुखयार्थ के बाधित होने पर सादृश्य सम्बन्ध के आधार पर आरोप और आरोप्यमाण दोनों ही के कथन द्वारा जहाँ पर अन्यार्थ की प्रतीति होती है, **सारोपा-गोणी-लक्षणा** होती है। जैसे—

तेरा मुख सहास अरुणोदय
परछाई रजनी विषादमय
यह जागृति वह नींद स्वप्नमय
खेल-खेल थक-थक सोने दो
मैं समझूँगी सृष्टि प्रलय क्या !

मंगल विन्दु सुरंग, मुख ससि केसर आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत ॥

साध्यवसाना गौणी लक्षणा—मुख्यार्थ की बाधा होने पर जहाँ, सादृश्य संबंध के आधार से आरोप्यमाण के द्वारा अन्यार्थ की प्रतीति होती है, वहाँ पर **साध्य-वसाना गौणी लक्षणा** मानी जाती है। जैसे—

हिलते द्रुमदल कल किसलय देती गलबाँही डाली।
फूलों का चुम्बन छिड़ती मधुपों कीं तान निराली ॥

× × ×

बैरिन कहा बिछावती, फिरि फिरि सेज कृसान।
सुनो न मेरे प्राणधन, चहत आज कहुँ जान ॥

सारोपा शुद्धा लक्षणा—जहाँ पर मुख्यार्थ की बाधा होने पर सादृश्य को छोड़कर अन्य सम्बन्धों के सहारे आरोप और आरोप्यमाण दोनों के स्पष्ट कथन के द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है; जैसे—

अनियारे दीरघ नयनि, किती न न तरुनि समान।
यह चितवनि ओरै कछू, जेहि वस होत सुजान ॥

यहाँ पर सामान्य विशेष सम्बन्ध होने से शुद्धा, चितवन में और कुछ होने का आरोप है और दोनों का कथन है अतः सारोपा लक्षणा है।

नागर नगर अपार महामोह तम मित्र से।
तृष्णालता कुठार, लोभ समुद्र अगस्त्य से।

यहाँ पर तात्कर्म्य सम्बन्ध होने से शुद्धा लक्षणा है।

साध्यवसाना शुद्धा लक्षणा—मुख्यार्थ की बाधा होने पर, जहाँ सादृश्य को छोड़कर अन्य आधारों पर, केवल आरोप्यमाण के कथन द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वहाँ पर **साध्यवसाना शुद्धा लक्षणा** मानी जाती है; जैसे—

पेट में आग लगी है ।

यहाँ पर भूख-रूपी आग में केवल आग आरोप्यमाण का कथन है और तात्कर्म्य सम्बन्ध है ।

चाहे जितना अर्घ्य चढ़ाओ पत्थर पिघल नहीं सकता ।
चाहे जितना दूध पिलाओ अहि-विष निकल नहीं सकता ।।

—डॉ० भगीरथ मिश्र

यहाँ पर दुःखपूर्ण आँसूरूपी अर्घ्य में केवल अर्घ्य का कठोर हृदयरूपी पत्थर में केवल पत्थर का; सज्जनता के व्यवहाररूपी दूध में केवल दूध का और दुष्टता या अत्याचाररूपी अहि में केवल अहि के कथन से अध्यवसान है । यह आरोप सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों, जैसे––तात्कर्म्य सामान्य-विशेष के होने से साध्यवसाना शुद्धा लक्षणा है ।

गौणी लक्षणा के सारोपा-साध्यवसाना ही भेद माने गये हैं; क्योंकि सादृश्य सम्बन्ध के साथ मुख्यार्थ नितान्त छूट नहीं सकता । परन्तु शुद्धा के दो भेद हैं––उपादान और लक्षणा ।

उपादान लक्षणा (अजहत्स्वार्था)––जहाँ मुख्यार्थ की बाधा होने पर और वाक्यार्थ की संगति के लिए अन्य अर्थ लक्षित होने पर भी अपना निजी अर्थ न छूटे, वहाँ पर उपादान लक्षणा होती है, जैसे––

सारा घर तमाशा देखने गया है ।

यहाँ पर घर का अर्थ आधाराधेय भाव से घर के लोग हैं अतः शुद्धा लक्षणा है, परन्तु घर का अपना निजी अर्थ छूटा नहीं, अतएव उपादान लक्षणा है ।

'बिल्ली से दूध बचाना' । यहाँ पर बिल्ली में दूध पीने वाले अन्य जीवों का भी भाव छिपा हुआ हैं । यदि कुत्ता पीना चाहे तो उससे भी रक्षा की जाती है, जो अर्थ तात्कर्म्य सम्बन्ध से हुआ । इस कारण शुद्धा लक्षणा है । इसी प्रकार–

मैं हूँ बहिन किन्तु भाई नहीं है । राखी सजी पर कलाई नहीं है ।

यह घर अच्छा है । विवाह तै कर लो ।

लक्षण लक्षणा––(जहत्स्वार्था)–जहाँ पर मुख्यार्थ की बाधा होने पर वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए प्रसंगानुकूल मुख्यार्थ का नितान्त त्यागकर, सादृश्य के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों के सहारे भिन्न अर्थ ग्रहण किया जाता है, वहाँ पर लक्षण लक्षणा होती है, जैसे —

क्या कहना है, आप पूरे पण्डित हैं । यहाँ पर मूर्ख को पूरे पण्डित कहना वाच्यार्थ का तिरस्कार है । सम्बन्ध है वैपरीत्य ।

मोंहि दीन्ह सुख सुजस सुराजू । कीन्ह कैकेयी सबकर काजू ।
एहि ते मोर कहा अब नीका । तेहि पर देन चहहु तुम टीका ।।

× × ×

रोवे मारे लखन अकनि अनखौहीं बातैं
तुलसी विनीत बानी बिहँसि ऐसी कही।
सुजस तिहारो भरो भुवननि भृगुनाथ,
प्रगट प्रताप आपु कहौ सो सबै सही।।

इन भेदों के अतिरिक्त शुद्धा लक्षणा के चार सम्मिश्रित भेद हो जाते हैं जो हैं—सारोपा शुद्धा उपादान लक्षणा, सारोपा शुद्धा लक्षण लक्षणा, साध्यवसाना शुद्धा उपादान लक्षणा और साध्यवसाना शुद्ध लक्षण लक्षणा। इनका विवरण हम आगे दे रहे हैं।

सारोपा शुद्धा उपादान लक्षणा—जहाँ मुख्यार्थ की बाधा होने पर सादृश्य को छोड़ कर अन्य सम्बन्धों के आधार पर इस प्रकार आरोप हो कि आरोप-विषय और विषयी दोनों का स्पष्ट कथन हो, साथ ही शब्द का अपना मुख्यार्थ भी बना रहे, जैसे—'ये झंडे कहाँ जा रहे हैं'—यहाँ पर झंडा धारण करने वाले पुरुषों पर झण्डे का आरोप है और दोनों का कथन हैं अतः आरोपा, धार्य-धारक भाव से अर्थ की अभिव्यक्ति होती है अतः शुद्धा तथा झण्डे में अपना वास्तविक या मुख्य अर्थ बना रहता है इस कारण सारोपा लक्षणा है। इसी प्रकार के उदाहरण हैं :—

औरै भाँति कुंजन में गुंजरत भौंर भीर,
औरै भाँति बौरन के भौंरन के ह्वै गये।

× × ×

औरै भाँति विहग समाज में अवाज होति,
अबै ऋतु ऋतुराज के न आज दिन द्वै गये।
औरै रस औरै रीति औरै राग औरै रङ्ग,
औरै तन औरै मन औरै बन ह्वै गये।

सरोपा शुद्धा लक्षण लक्षणा—इस लक्षणा में आवश्यक बातें ये हैं—मुख्यार्थ की बाधा और सादृश्य को छोड़कर अन्य सम्बन्धों से अर्थव्यक्ति; आरोप के विषय और आरोप्यमाण दोनों का कथन; मुख्य अर्थ का पूर्ण त्याग। उदाहरण—

आलस्य ही मनुष्य का महान् शत्रु है। यहाँ पर आलस्य पर शत्रुता का आरोप है और दोनों का कथन है, अतः सारोषा शत्रुता का मुख्य अर्थ पूर्ण बाधित है अतः विशेष अर्थ लिया गया हानि पहुँचाने वाला। लक्षण और सामान्य-विशेष सम्बन्ध से यह अर्थ ग्रहण किया गया है अतः शुद्धा लक्षणा है। इसी प्रकार के उदाहरण हैं—

आज भुजंगों से बैठे हैं, वे कंचन के घड़े दबाये।
विनय हार कर रही है, ये विषधर हटते नहीं हटाये।।

'ये विषधर' में ये संकेत या प्रसंग से पूंजीपति के अर्थ में हैं। उस पर विषधर का आरोप है, दोनों कथित हैं अतः सारोपा, विषधर अपना अर्थ छोड़कर

पूँजीपति का अर्थ देता है अतः लक्षण लक्षणा। काटना, दुःख देना, दोनों का कर्म है, इसलिए तात्कर्म्य सम्बन्ध से शुद्धा लक्षणा है। और उदाहरण—

तृष्णा साँपिहि काहि न खाया। को जग जाहि न व्यापी माया।

× × ×

अरे लोभ का वृन्त समाज को खा रहा,
और स्वार्थ की जोंक व्यक्ति को चूसती।
यह चिन्ता का कीट जर्जरित कर रहा,
और रूढ़ि की चक्की उसको पीसती॥—डॉ० भगीरथ मिश्र

साध्यवसाना शुद्धा उपादान लक्षणा—लक्षण के इस भेद में ये बातें रहती हैं—मुख्यार्थ की बाधा और सादृश्य को छोड़कर अन्य सम्बन्ध से अर्थ का प्रकाशन; केवल आरोप्यमाण का कथन शब्द का मुख्यार्थ न छोड़ना। उदाहरण—

"घटनास्थल पर लाल पगड़ी ही दिखाई पड़ती है।" यहाँ पर सिपाही में लाल पगड़ी का आरोप है और केवल आरोप्यमाण का ही कथन है, अतः साध्यवसाना; धार्य-धारक भाव होने से शुद्धा; लाल पगड़ी में मुख्य अर्थ बना रहता है, अतः उपादान लक्षणा है। अन्य उदाहरण—

विद्युत की इस चकाचौंध में देख दीप की लौ रोती है।
अरी हृदय को थाम महल के लिए झोपड़ी बलि होती है॥

यहाँ पर 'महल' और 'झोपड़ी' में **साध्यवसाना शुद्धा उपादान लक्षणा** है।

साध्यवसाना शुद्धा लक्षण लक्षणा—लक्षणा के इस भेद में आवश्यक बातें ये हैं—मुख्यार्थ की बाधा और सादृश्य को छोड़कर अन्य सम्बन्धों से अर्थ का प्रकाशन शब्द के मुख्यार्थ का पूर्ण त्याग तथा आरोप होने पर भी केवल आरोप्यमाण का कथन। उदाहरण—

रक्त पीकर लाल हैं खटमल छिपे आरामगाहों में।
घृणा पर है भरी इनके लिए संसार की पीड़ित निगाहों में।
लगाकर वैर की होली खड़े जो तापते हैं दूर से उनको।
विदित हो, यह जला करते नहीं प्रह्लाद है अपवित्र ज्वाला में।
—डॉ० भागीरथ मिश्र

यहाँ पर 'खटमल' में पूँजीपतियों का अध्यवसान है; तात्कर्म्य सम्बन्ध से शुद्धा लक्षणा और खटमल में पूँजीपति का अर्थ देने से मुख्यार्थ का पूर्ण त्याग है अतः लक्षण लक्षणा है। इसी प्रकार 'प्रह्लाद' में सत्य और अहिंसाप्रिय व्यक्ति या भारत का अध्यवसान है; तात्कर्म्य सम्बन्ध और मुख्यार्थ का पूर्ण त्याग होने से शुद्धा लक्षण लक्षणा है। लक्षणा के ये ही प्रधान भेद हैं।

व्यंजना

व्यंजना का शब्दार्थ है विशेष रूप से स्पष्ट करना, खोलना या विकसित

करना। अभिधा और लक्षणा शक्तियों के अपना अर्थबोध कराने के बाद जिस शक्ति से अन्य अर्थ का बोध होता है, उसे **व्यंजना** कहते हैं। ऐसे शब्द को **व्यंजक** और अर्थ को **व्यंग्यार्थ** कहा जाता है।

इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण, 'गंगा में गाँव।' इसका अर्थ देने में अभिधा असमर्थ है; क्योंकि गंगा में गाँव नहीं हो सकता। लक्षणा से अर्थ निकला गंगा के समीप गाँव, परन्तु इसके बाद भी इसका 'पवित्र शीतल गाँव' यह अर्थ **व्यंजना** शक्ति के द्वारा ही संभव है। एक उदाहरण है—

मीत तिहारे बदन पर, मूरखता दरसात।
मम मुख दर्पण विमल है, आज विदित यह तात॥

मुख-दर्पण में अभिधा असमर्थ है। सारोपा लक्षणा से यह अर्थ हुआ कि मेरे मुख में तुम्हारा मुख दीखता है। इसके बाद भी वांछित अर्थ नहीं निकला, जो व्यंजना द्वारा ही निकलता है; वह यह कि मूर्खता जो तुम्हें दिखाई देती है, वह तुम्हारी ही है जो मेरे दर्पण के समान मुख में प्रतिबिम्बित होती है; क्योंकि तुम सामने खड़े हो। वास्तव में मैं मूर्ख नहीं, तुम मूर्ख हो।

यहाँ पर एक बात और स्मरण रखने की यह है कि यह व्यंजना द्वारा प्रकट अर्थ अभिधा शक्ति से अनेकार्थी शब्दों द्वारा निकलने वाले अर्थ से भिन्न है।

अभिधा और लक्षणा का सम्बन्ध केवल शब्द से है, परन्तु व्यंजना का सम्बन्ध केवल शब्द से ही नहीं, वरन् अर्थ से भी है। अर्थ से भी अर्थ निकलता है। अतः व्यंजना, शाब्दी और आर्थी-दोनों प्रकार की होती है। व्यंजना को समझने के लिए प्रतिभा की निर्मलता, चतुर व्यक्तियों का सत्संग तथा प्रसंगज्ञान आवश्यक है।

व्यंजना के भेद

शब्द और अर्थ दोनों ही का व्यापार व्यंजना में रहता है, इस कारण व्यंजना के दो रूप हैं—शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना। शब्द और अर्थगत ये दो भेद कहने को हैं; क्योंकि आर्थी में भी शब्द है और शाब्दी में भी अर्थ है। और जब दोनों में शब्द अर्थ है, तो फिर शाब्दी और आर्थी भेद क्या महत्व रखते हैं? वास्तव में ये भेद सुविधा के कारण किये गये हैं। जहाँ पर शब्द की प्रधानता है अर्थात् जहाँ पर शब्द विशेष के कारण व्यंग्यार्थ निकलता है और उस शब्द के स्थान पर अन्य शब्द रखने से अर्थ न निकले वहाँ पर **शाब्दी व्यंजना** माननी चाहिए। परन्तु जहाँ पर कोई भी शब्द क्यों न हो, अर्थ में अन्तर नहीं पड़ता, वहाँ पर **आर्थी व्यंजना** मानी जाती है। शाब्दी व्यंजना के दो भेद हैं—(१) अभिधामूला शाब्दी व्यंजना, (२) लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना।

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना—अभिधा शक्ति द्वारा अनेकार्थी शब्दों में एक अर्थ निश्चत हो जाने पर जिस शक्ति के द्वारा अन्यार्थ का ज्ञान होता है, उसे **अभिधामूला शाब्दी व्यंजना** कहते हैं; जैसे—

चिर जीवौ जोरी जुरै, क्यों न स्नेह गम्भीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर ॥

यहाँ पर वृषभानुजा और हलधर के वीर का अभिधा से राधा और कृष्ण अर्थ निश्चित हो जाता है, इसके बाद जो अर्थ निकलता है कि यह जोड़ी बिलकुल एक एक दूसरे के उपयुक्त है, यह शाब्दी व्यंजना का व्यापार है। इसमें जो हास्य व्यंग्य है, वह भी इन्हीं शब्दों के कारण है।

लक्षणा मूला शाब्दी व्यंजना—जहाँ पर मुख्यार्थ की बाधा होने पर लक्षणा शक्ति से अन्य अर्थ निकलता है, परन्तु उसके बाद भी दूसरा अर्थ प्राप्त होता है वहाँ पर **लक्षणा मूला शाब्दी व्यंजना** होती है; जैसे—

फलीं सकल मन कामना, लूट्यो अगणित चैन।
आजु अँचै हरि रूप सखि, भये प्रफुल्लित नैन ।।

यहाँ पर फली, लूट्यो, अँचै में लक्षणा से अर्थ निकलता है, पूरे का व्यंग्यार्थ हुआ कि दर्शन से हमें बड़ा आनन्द मिला। इसी प्रकार—

भयो अपत कै कोपुयत, कै बौरो यहि काल।
मालिन आजु कहै न क्यों, वा रसाल को हाल ॥

× × ×

कूकती क्वैलिया कानन लौं नहिं जात सह्यो जिनकी सु अवाजैं।
भूमि ते लैके अकाश लौं फूले पलास दवानल की छबि छाजैं ।।
आयो बसन्त नहीं घर कन्त, लगी सब अन्त की होन इलाजैं।
बैठि रही हमहूँ हिय हारि, कहाँ लगि टारिये हाथन गाजैं ।।

यहाँ पर 'हाथन गाजैं टारने' में विरह व्यथा के दूर करने वाले उपचारों का साध्यवसान है। शुद्धा साध्यवसान से लक्ष्यार्थ निकला, परन्तु व्यंग्यार्थ यह है कि वेदना अत्यधिक है जो प्रिय के भेंट के बिना दूर न होगी।

आर्थी व्यंजना

इस व्यंजना में अर्थ शब्द पर निर्भर नहीं होता अतः व्यंग्य आर्थ होता है, शब्द नहीं।

जो शब्द शक्ति वक्ता, बोद्धव्य, वाक्य, अन्यसन्निधि, वाच्य, प्रकरण, देश, काल, काकु, चेष्टा आदि की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराती है, वह आर्थी व्यंजना कही जाती है। इन विशेषताओं में से कुछ उदाहरण यहाँ पर दिये जाते हैं।

वक्ता की विशेषता से, जैसे

'सागर कूल मीन तड़पत है हुलसि होत जल पीन'—यह कथन सामान्यतः कोई महत्व नहीं रखता, परन्तु जब इस बात का पता चल जाता है कि इसको कहने वाली गोपिकाएँ हैं, तब इसका यह अर्थ निकलता है कि हम कृष्ण के समीप होते हुए भी, मछली के समान तड़प रही हैं। कृष्ण के दर्शन से हमें वैसा ही आनन्द प्राप्त होगा, जैसा कि मछली को पानी में जाने से होता है। इसी प्रकार के उदाहरण हैं—

वाच्यार्थ से— पति देवता सुतीय महं, मातु प्रथम तव रेख।
महिमा अमित न कहि सकहिं, सहस सारदा सेष ॥

इसमें सीता के कहने के कारण व्यंग्यार्थ महत्वपूर्ण है।

जिहि निदाघ दुपहर रहै, भई माघ की राति।
तिहि उसीर की रावटी, खरी आवटी जाति ॥

दूती कहने वाली है, अतः इसका महत्त्वपूर्ण व्यंग्यार्थ निकलता है। यहाँ पर व्यंग्यार्थ किसी शब्द पर निर्भर न होने से आर्थी व्यंजना है।

लक्ष्यार्थ से— पावक झर तें मेहझर, दाहक दुसह विसेषि।
दहै देह वाके परस, याहि दृगन हीं देखि ॥

यहाँ पर कहने वाली नायिका है, अतः व्यंग्यार्थ यह है कि सुखदायक वस्तुएँ भी विरह की दशा में दुःखदायी हैं। वर्षा के देखने में जलने का वाच्यार्थ बाधित है, अतः लक्ष्यार्थ है कि जलने के समान दुःखदायी है।

बोद्धव्य की विशेषता से, जैसे—

नन्द व्रज लीजै ठोंकि बजाय।
देहु बिदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहँ गोकुल के राय ॥

नन्द से कही गयी बात होने के कारण इसका व्यंग्यार्थ हुआ कि तुम्हें व्रज से बड़ा मोह है। यशोदा की झुँझलाहट भी व्यंग्य है।

काकु की विशेषता से, जैसे—

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुमहिं उचित तप मोंकहँ भोगू ॥
हम लखिहैं मधु चन्द्रिका, सुनिहैं कल धुनि कान।
रहिहैं मेरे प्राण तन, प्रीतम करौ प्रयान ॥

देश-काल-चेष्टा आदि से, जैसे—

खरी दुपहरी हरी-भरी कुंज मंजु, गूंज
अलि पुंजन की 'देव' हियो हरि जात
सीरे नदनीर तरु सीतल गहीर छाँह,
सौवैं परे पथिक पुकारैं पिकी करि जात।
ताही में किसोरी भोरी कोरी कुँभिलाने मुख।
पंकज से पाँय धरा धीरज सों धरि जात।
सोहैं घनश्याम मग हेरति हथेरी ओट,
ऊँचे धाम वाम चढ़ि आवति उतरि जात ॥

यहाँ पर कालसे निर्जनता, देश से मिलनोपयुक्तता, वाच्य (सोये पड़े होने) से तथा प्रकरण से सन्नाटा, पुकारैं पिकी करि जात से यह कि साधारण शोर से किसी का ध्यान आकृष्ट नहीं होता तथा चेष्टा से उत्कंठा आदि व्यंग्य है। यहाँ पर इस पद में अनेक विशेषताओं द्वारा व्यंग्यार्थ प्रकट होता है, अतः आर्थी व्यंजना का सुन्दर उदाहरण है।

———

अध्याय ५ | रीति गुण विवेचन

रीति

काव्य में रीति को सर्वाधिक महत्व देने वाले आचार्य वामन हैं। इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया है। 'रीति' शब्द 'रीङ' धातु से 'क्त्ति' प्रत्यय के मिलने से बना है, जिसका अर्थ है—प्रगति, पद्धति, प्रणाली मार्ग इत्यादि। आज जिसे 'शैली' कहते हैं, उसे ही भारतीय दृष्टि से 'रीति' कहते हैं। रीति की धारणा और महत्व के संबंध में विद्वानों में मतभेद हैं उत्तरी, पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी प्रदेशों की साहित्यिक शैली की विशेषताओं को भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने रीति या मार्ग के रूप में ग्रहण किया है।

रीति का स्वरूप—आचार्य वामन ने, रीति की सुदृढ़ स्थापना करते हुए उसे 'पदसङ घटना' अथवा 'विशिष्ट पद रचना' रीति है। पदसङ्घटना या पद रचना से तात्पर्य पदों के विन्यास से है। पद विन्यास विशिष्ट तब होता है जब उसमें गुण होते हैं, ये गुण काव्य के नित्यधर्म तथा उसकी शोभा के कर्त्ता होते हैं। काव्य प्रकाश में कहा गया है—"काव्य-शोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः।" इस प्रकार गुणात्मा पद सङ्घटना को काव्य की आत्मा के रूप में आचार्य वामन ने कहा था—"रीतिरात्मा काव्यस्य।" (काव्यालंकार-सूत्र-वृत्तिः) अर्थात् काव्य की आत्मा रीति है। बाद के आचार्यों ने रीति को काव्य की आत्मा नही माना। आचार्य विश्वनाथ ने उसे साहित्य दर्पण में अंग संस्थावत् दर्शाया[1] है और रीतियों को रस की उपकर्त्री माना है। इस प्रकार रीति को आचार्यों ने शैली के रूप में ही स्वीकार किया है।

रीति के भेद— आचार्य वामन ने रीति के तीन भेद किये हैं परन्तु लाटी को ही बाद में स्वीकार कर लिया गया है, इस प्रकार रीति के चार प्रकार होते हैं—(१) वैदर्भी, (२) गौड़ी, (३) पांचाली और (४) लाटी।

१. वैदर्भी—आचार्य विश्वनाथ ने वैदर्भी को काव्य की सर्वोत्तम रीति माना है और उसका स्वरूप विश्लेषण करते हुए यह व्याख्या दी है—

---

१. पदसङ्घटना रीतिरंग संस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम्॥

"माधुर्यव्यंजकवर्णै रचना ललितात्मिका ।
आवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरीष्यते ॥"
(सा० द०, पृ० ९, श्लोक २-३)

अर्थात् माधुर्य, व्यंजक वर्णों से युक्त समासहीन अथवा अत्यंत छोटे-छोटे समासों से युक्त ललित रचना को वैदर्भि रीति कहते हैं। वैदर्भी रीति में माधुर्य गुण की रचनायें होती हैं। इसके उदाहरण इस प्रकार हैं—

पतली काया उन्मुक्त और
चिन्तन में खोया मन होगा;
अन्तर में हो तूफान किन्तु
अधरों पर मधु-सिंचन होगा।
होगा ललाट पर चन्द्र और
भौंहों पर इन्द्रधनुष होगा,
आँखों में होगा आसमान
जिसका निमेष अकलुष होगा।
(लालधर त्रिपाठी : विहंग सन्देश से)

एक अन्य उदाहरण है— धीरे-धीरे उतर क्षितिज से
आ वसन्त रजनी।
शीशफूल कर शीश का नूतन
रश्मिवलय----सितघन — अवगुंठन
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे
चितवन से अपनी ! (महादेवी : आधुनिक कवि)

आचार्य रुद्रट ने उपर्युक्त परिभाषा में समासहीन पदों के साथ अल्प प्राण वर्णों की दशा और जोड़ी हैं। वैदर्भी रीति की प्रशंसा भामह तथा दण्डी दोनों से पहले हुई है। महाकवि हर्ष ने अपने नैषधीयचरित तथा विल्हण ने अपने विक्रमाङ्क देव-चरित में क्रमशः 'धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैः......'और 'अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वती-विभ्रमजन्मभूमिः कहकर इस रीति की प्रशंसा की है। महाकवि कालिदास की रचनाओं में भी इस रीति की प्रधानता पायी जाती है।

२. **गौड़ी**—आचार्य विश्वनाथ ने गौड़ी रीति उसे कहा है जिसमें ओज गुण के प्रकाशक वर्णों, लम्बे समास युक्त पदों का प्राचुर्य और बन्ध का विशेष आडम्बर हो, ऐसी उद्भट रचना को गौड़ी रीति कहते हैं। इसमें महाप्राण वर्णों की प्रधानता होती है।

१. ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः
समासबहुला गौडी । (सा० द०, पृ० ९. श्लोक ३-४)

संस्कृत साहित्य में भट्टनारायण, भवभूति, बाणभट्ट आदि महाकवियों की रचनाओं में गौड़ी रीति का बहुलता से दर्शन होता है। हिन्दी के महाकवियों में निराला, दिनकर, माखन लाल चतुर्वेदी, प्रवासी आदि की रचनाओं में वीर तथा रौद्र रस के चित्रण में इस रीति को देखा जा सकता है। निराला की राम की 'शक्तिपूजा' से एक उदाहरण दृष्टव्य है—

रवि हुआ अस्त, ज्योति के पत्र पर लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर
आज का; विधृत-क्षिप्र-कर वेग-प्रखर
शत शेल-संवरणशील नील-नभ-गर्जित-स्वर
प्रतिपल परिवर्तित व्यूह-भेद कौशल-समूह
राक्षस-विरुद्ध-प्रत्यूह क्रुद्ध कपि-विषम हूह
विच्छुरित वह्नि-राजीव-नयन-हत-लक्ष्य-बाण
लोहित-लोचन रावण-मद-मोचन महीयान।

(राम की शक्ति पूजा)

३. **पाँचाली**—यह वैदर्भी और गौड़ी रीतियों के बीच की शैली हैं। आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में इसकी परिभाषा देते हुए कहा है कि "वैदर्भी एवं गौड़ी में मुख्य रूप से प्रयुक्त होने वाले वर्णों से सङ्घटित, अधिक-से-अधिक पाँच छः पदों के समासों से युक्त रचना 'पांचाली' मानी जाती है; यथा—

"वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः।
समस्त-पंचषट्पदो बन्धः पांचालिका मता।'—सा० द०, प० ९, श्लोक ४

हिन्दी में निराला, दिनकर आदि कवियों ने इस प्रकार की शैली में काव्य रचना की है। निराला की तुलसीदास कविता में भारत के नभ का प्रभापूर्य आदि छन्द तथा दिनकर की रश्मिरथी कविता में इसके उदाहरण द्रष्टव्य हैं। एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है—

"दृग हों तो दृश्य अकाण्ड देख
मुझमें सारा ब्रह्माण्ड देख
चर-अचर जीव जग क्षर-अक्षर
नश्वर मनुष्य सुरजाति 'अमर
शतकोटि सूर्य, शतकोटि चन्द्र
शतकोटि सरित, शत सिंधु मन्द्र
शतकोटि विष्णु-ब्रह्मा-महेश
शतकोटि जिष्णु-जलपति-धनेश
शतकोटि रुद्र शतकोटि काल
शतकोटि दण्डधर लोकपाल

जंजीर बढ़ाकर साध इन्हें
हाँ, हाँ, दुर्योधन बाँध इन्हें ।"—दिनकर : रश्मिरथी

पाँचाली रीति के अंतर्गत संस्कृत काव्य में पाँच-छह पदों तक का समास माना गया है। हिन्दी में तीन-चार पदों तक ही यह उचित होगा। निराला की परिमल कविता के इस अंश को इसके अंतर्गत लिया जा सकता है—

मेरे गगन-मगन मन में, अयि
किरणमयी, विचरो—
तरु-तोरण-तृण तृण की कविता
छवि-मधु-सुरभि भरो ।।—परिमल

४. लाटी—लाटी वह रीति है जिसमें कोमल पदों वाली उचित समास से युक्त विश्लेषण प्रधान वर्णन शैली अपनायी जाती है। इसमें वैदर्भी और पांचाली रीतियाँ परस्पर घुली-मिली रहती हैं। लाटी की आचार्य रुद्रट ने ग्यारहवीं शताब्दी में उद्भावना की थी और वैदर्भी और गौड़ी रीतियों से आगे आने वाली पांचाली रीति की तुलना में इसे अधिक श्रेय दिया था। यह रीति रुद्रट के अनुसार पहले उग्र रसों के वर्णन के लिए उपयुक्त मानी गई थी परन्तु आचार्य विश्वनाथ ने इसे वैदर्भी और पांचाली के मध्य की रीति मानकर इसका महत्व स्थापित किया है। यथा—'लाटी तु रीतिर्वेदभीपांचाल्योरन्तरे स्थिता।' (सा० द० : ९ : ५)।

इसका उदाहरण कामायनी के आनन्दसर्ग से इस प्रकार दिया जा सकता है—

चिर मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन-पुरुष-पुरातन,
निज-शक्ति-तरङ्गायित था
आनन्द-अम्बुनिधि शोभन ।—कामायनी (आनन्द)

लाटी रीति को विशेष महत्व नहीं मिल सका। वास्तव में रीति-सिद्धान्त का यह विवेचन अधिक वैज्ञानिक और पूर्ण नहीं है। प्राचीन ग्रन्थों में ही विशेषकर राजशेखर की कर्पूरमंजरी में तीन अन्य रीतियों का उल्लेख भी मिलता है जिनके नाम माधवी, मैथिली और बच्छोमी हैं।

मागधी रीति को भोज ने खण्डरीति माना है। जहाँ अन्य रीतियों का अंशतः निर्वाह हो तो वहाँ मागधी रीति होती है। इस रीति का सर्वप्रथम उल्लेख राजशेखर ने अपने ग्रन्थ कर्पूरमंजरी में किया था। ऐसी भी सम्भावना की जाती है कि बाल रामायण में उल्लिखित मैथिली रीति का पर्याय या मागधी रीति है ऐसा श्रीपाद का मत भी माना गया है।

मैथिली नामक रीति का उल्लेख राजशेखर और श्रीपाद दोनों ही विद्वानों ने किया है परन्तु इस रीति में अर्थ की अतिशयता और स्वाभाविकता की विशेषताओं के साथ-साथ समग्र प्रबन्ध में सन्दर्भ तथा समास का अल्प प्रयोग तथा योग परम्परा

के अनुरूप उक्ति आदि विशेषताओं का होना आवश्यक माना गया है। कुछ विद्वानों ने इसे मागधी का ही एक रूप माना है।

वच्छोमी रीति का उल्लेख कर्पूरमंजरी में मिलता है इसे वत्सगुल्मी का प्राकृत रूप माना जाता है जो वैदर्भी से भिन्न नहीं है। इसलिए वच्छोमी रीति भी रस को उत्पन्न करने वाली और प्रसाद एवं माधुर्य गुणों से सम्पन्न होती है इस प्रकार रीति के इन समस्त प्रभेदों में चार ही अधिक बहुचर्चित हुए, शेष को या तो उनका पर्याय माना गया है अथवा उन्हें अप्रचलित घोषित किया गया है।

शैली या रीति काव्य रचना की ऐसी विशेषता है जिसमें कवि की प्रकृति उसका व्यक्तित्व, वर्ण योजना, शब्द संगठन, अलङ्कार प्रयोग, भाव सम्पत्ति तथा उक्ति वैचित्र्य आदि का प्रकाशन होता है। शैली का निश्चय व्यक्ति के साथ-साथ वर्ण विषय, पात्र, परिस्थिति, भाव, उद्देश्य आदि पर भी आश्रित रहता है। इन्हीं को ध्यान में रखकर शैली या रीति के निम्न भेद कर लिए गये हैं—सरस शैली, मधुर शैली, ललित शैली, क्लिष्ट या विदग्ध शैली, उदात्त शैली, व्यंग्य शैली या तीक्ष्ण शैली। पश्चिम के विद्वानों ने भी विभिन्न काव्य शैलियों को माना है, जैसे—अरिस्टाटिल की काव्य शैली, वाद शैली, डेमीट्रियस की सरस शैली, उदात्त शैली, ललित शैली, तीव्र शैली तथा इनके विकृत रूप में शिथिल शैली, कृत्रिम शैली, नीरस शैली, अरोचक शैली आदि।

गुण

गुण के अनेक अर्थ होते हैं जैसे विशेषता, शोभाकारी या आकर्षक धर्म, दोषाभाव, इत्यादि काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत आचार्यों ने गुण के इस प्रकार अर्थ लिए हैं जैसे वामन के अनुसार दोष का वैपरीत्य अथवा दोषाभाव अथवा काव्य की शोभा करने वाले धर्म को गुण कहते हैं। आनन्दवर्धन ने रस रूप अंगी के आश्रित रहने वाले को गुण माना है। मम्मट के अनुसार रस रूप अंगी के धर्म तथा रस के उत्कर्ष के कारण रूप धर्म को गुण कहा गया है। भरत ने सबसे पहले काव्य में दोष के विपर्यय को ही गुण के रूप में स्वीकार[1] किया है। इस प्रकार भरत ने गुण को अभावात्मक माना है। कुछ ही गुणों को छोड़कर भरत ने अन्य सभी को भावात्मक माना है।

वामन गुण के प्रतिष्ठाता आचार्य हैं। ये नवीं शताब्दी के मध्य में प्रतिष्ठित हुए थे इनके अनुसार गुण काव्यमूल शोभा (सौन्दर्य) के तत्व हैं तथा शब्द और अर्थ के धर्म हैं अतः काव्य के लिए अनिवार्य तत्व हैं। गुण के प्रसंग में अनेक आचार्यों के विभिन्न मत हैं। कुछ इन्हें रस के अंग रूप धर्म के रूप में मानते हैं।[2] तथा कुछ काव्य को रस की आत्मा मानते हुए उसे गुण शून्य कहते हैं।[3] कुछ भी हो इतना

---

१. 'एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।' नाट्य शास्त्र : १७-९५।
२. मम्मट आदि।
३. जगन्नाथ।

स्पष्ट है कि काव्य की शोभा को सम्पादित करने वाले अथवा उसकी आत्मा को प्रकाशित करने वाले तत्व अथवा विशेषता ही गुण है। ये गुण शब्द और अर्थ के धर्म हैं तथा वर्ण संघटन, शब्द योजना, शब्द चमत्कार, शब्द प्रभाव और अर्थ की दीप्ति पर आश्रित हैं। इस प्रकार गुण काव्य में विशेष महत्व रखते हैं।

गुणों की सख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। भरत ने दस गुण माने हैं, यथा—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पदसौकुमार्य, अर्थव्यक्ति उदारता और कान्ति। आचार्य दण्डी भी इसका समर्थन करते हैं। आचार्य वामन भी दस गुण मानते हैं परन्तु उन्होंने प्रत्येक गुण के शब्द और गुण अर्थ गुण के रूप में दो भेद किये हैं। भोज ने यद्यपि गुणों की संख्या चौबीस मानी है फिर भी उनके बाह्य, आभ्यंतर और वैशेषिक भेदों के हिसाब से बहत्तर प्रकार बता दिये हैं। बाह्य के अन्तर्गत शब्द गुण, आभ्यंतर में अर्थगुण तथा वैशेषिक में उन दोषों का वर्णन है जो विशेष प्रसंग में गुण बन जाते हैं। भोज ने कुछ नये भेद भी किये हैं जैसे—उदाहरण, ओजत्व, प्रेयस, सुशब्दता, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, विस्तार, संक्षेप, सम्मितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति, प्रौढि। इसी प्रकार अग्निपुराण में भी अठारह गुणों की चर्चा की गई है। आगे के आचार्यों ने गुणों की संख्या में कमी की। आचार्य कुन्तक ने दो अनिवार्य सामान्य गुण-औचित्य और सौभाग्य तथा चार विशिष्ट गुण-माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य माने। आनन्दवर्धनाचार्य ने गुणों का अस्तित्व रस के धर्म के रूप में माना और चित्त की तीन अवस्थाओं द्रुति, दीप्ति, और व्यापकत्व के आधार पर माधुर्य, ओज और प्रसाद को स्वीकार किया। मम्मट और वामन ने भी तीन गुणों का समर्थन किया। इसे हिन्दी के आचार्यों ने मान्यता प्रदान की है। चिन्तामणि का कवि कुल कल्पतरु, कुलपति का रस रहस्य इन्हीं तीन गुणों का समर्थन करते हैं। देव ने अपनी काव्य रसायन में दस गुणों को स्वीकार किया है और उनमें यमक तथा अनुप्रास को मिलाकर उनकी संख्या बारह कर दी है। आधुनिक युग में कन्हैयालाल पोद्दार, रामदहिन मिश्र, पण्डित रामचन्द्र शुक्ल आदि के विचार गुण को महत्व देने वाले हैं, अन्तर केवल इतना है कि शुक्ल जी गुण को जहाँ पर रसाश्रित मानते हैं अन्य विद्वान् संस्कृत की परम्परा का अनुसरण करते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में गुण की संख्या अधिक मानी गई पर बाद के आचार्यों ने तीन गुणों को ही प्रधान माना। जिन गुणों की चर्चा सभी आचार्यों ने की है उनकी संख्या दस है इसलिए यहाँ पर उनका विवेचन निम्न क्रम में दिया जा रहा है—माधुर्य, ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, सुकुमारता, अभिव्यक्ति, उदारता, कान्ति, समाधि।

१. माधुर्य—इसका शब्दार्थ है मधुर होने की विशेषता, मिठास, अथवा रोचकता आदि। काव्य के सन्दर्भ में माधुर्य शब्द का अर्थ आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूप से ग्रहण किया है। भरत उसे श्रुति मधुर दण्डी, रसमयता अथवा रस से सम्पन्नता, वामन दीर्घसमास का निषेध आदि मानते हैं। इनमें सबसे अच्छा मत मम्मट का है,

उन्होंने अपने काव्य प्रकाश में आह्लादकता और श्रृंगार रस में द्रवित करने की विशेषता को माधुर्य की संज्ञा दी है। साहित्यदर्पणकार ने यह माना है कि ट, ठ, ड, ढ आदि वर्णों को छोड़कर क से लेकर म तक के सभी वर्णों तथा मूर्धन्य वर्णों और अन्त्य वर्णों के प्रयोग से माधुर्य गुण का सम्पादन होता है। हिन्दी के आचार्यों में चिन्तामणि ने माधुर्य को चित्त की द्रुति माना है। इस प्रकार माधुर्य की परिभाषा उस पदावली के द्वारा की जा सकती है जिसमें श्रुति सुखदता, समास रहितता, उक्तिवैचित्र्य, आर्द्रता, चित्त को द्रवित करने की विशेषता, भावमयता और आह्लादकता होती है। इसका एक उदाहरण इस प्रकार है—

"निरख सखी, ये खंजन आये,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये !
फैला उनके तन का आतप, मन ने सर सरसाये,
घूमें वे इस ओर वहाँ, ये हँस यहाँ उड़ छाये !
करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये,
फूल उठे हैं कमल, अधर-से-ये बन्धूक सुहाये !
स्वागत, स्वागत, शरद भाग्य से मैंने दर्शन पाये,
नभ ने मोती वारे, तो ये अश्रु अर्घ्य भर लाये।" (साकेत—पृ० २९९)

२. ओज—इसका शब्दार्थ है तेज, प्रताप, दीप्ति, आदि। जिस गुण से काव्य को सुनने वाले के मन में उत्साह, वीरता, आवेश आदि जाग्रत करने की क्षमता हो वह ओज कहलाता है। ओज चित्त का विस्तारक एवं दीप्ति कारक होता है। वीभत्स और रौद्र में यह क्रमशः प्रकर्ष प्राप्त करता है। दण्डी ने समासयुक्त पदों की बहुलता ने ओजगुण को निष्पन्न माना है। वामन के अनुसार रचना का गाढ़त्व अर्थात् अवयवों या अक्षर विन्यास का संश्लिष्टत्व, संयुक्ताक्षरों का संयोग ओजगुण के लिए आवश्यक होता है। ओज गुण के रूप में अर्थ की प्रौढ़ता अर्थात् संयत, संक्षिप्त शब्दों में अधिक भाव या अर्थ की अभिव्यक्ति ओज गुण का लक्षण है। ध्वनि मत के अनुयायी आचार्यों ने चित्त के विस्तारक या चित्त के दीप्तिकारक गुण को ओज माना है। इसके निमित्त वर्गों के आद्य और तृतीय वर्णों की संयुक्ताक्षरता, ट, ठ, ढ, श, ष आदि का प्रयोग दीर्घ समास और उद्यत पद संघटना आवश्यक होती है। साहित्य में वीर रस में इसका प्रयोग हुआ है। हिन्दी का वीर काव्य इस गुण से विशेष सम्पन्न है। ओज के उदाहरण महाकाव्यों तथा वीर रस की कविताओं में विपुलता से मिलते हैं।

"वजा लोहे के दन्त कठोर, नाचती हिंसा जिह्वा लोल ।
भृकुटि के कुण्डल वक्र मरोड़, फुहुँकता अंधरोष फन खोल !
बहा नर-शोणित मूसलाधार रुण्ड मुण्डों की कर बौछार
प्रलय घन सा घिर भीमाकार गरजता है दिगंत संहार।
छेड़कर शस्त्रों की झनकार महाभारत गाता संसार।।—(पंत : पल्लविनी)

३. प्रसाद—इसका शाब्दिक अर्थ प्रसन्नता, खिल जाना या विकसित हो जाना है। प्रसाद गुण के लिए स्वच्छता, सरलता और सहज ग्राह्यता अत्यन्त आवश्यक है, अर्थात् सुनते ही समझ में आने पर प्रसाद गुण होता है। भरत और दण्डी के मतों में समानता है, परन्तु वामन ने प्रसाद में शैथिल्य की विशेषता मानी है और यह बन्ध गाढ़त्व रूप ओज गुण का विरोधी है, इसका समर्थन किया है। ध्वनि मत के मानने वालों ने इसे सभी रसों और रचनाओं में ऐसा धर्म माना है जो कि सामाजिक के हृदय में भाव या अर्थ की शीघ्र व्याप्ति कर देता है। इस प्रकार सूखें ईंधन में अग्नि तथा स्वच्छ वस्त्र में जल शीघ्र ही फैल जाता है। उसी प्रकार चित्त को रसों में तथा रचना में तुरन्त व्याप्त कर देने वाला गुण प्रसाद होता है। यह गुण अपनी निर्मलता या स्वच्छता के कारण सभी रसों में व्याप्त रहता है।

हिन्दी के सभी विद्वानों ने प्रायः मम्मट और विश्वनाथ का अनुसरण किया है। चिन्तामणि, कुलपति तथा देव आदि ने इस पर विचार किया है। प्रसाद ऐसा गुण है जिसका प्रयोग सभी युगों के श्रेष्ठ कवियों ने किया है, उदाहरण के लिए निराला की ये पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुठ्ठी भर दाने को-भूख मिटाने को
मुँह फटी-पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता। (निराला : अपरा)

४. श्लेष—इसका शब्दार्थ है मेल या जोड़। अनेक शब्दों, अर्थों या वर्णों का एक में संघटन होना विश्लेषक इस काव्य गुण को दण्डी वामन आदि ने ही माना है। अनन्दवर्धन और मम्मट ने इसे पृथक् काव्य गुण न मानकर ओज के अंतर्गत समाविष्ट किया है। लक्षण की दृष्टि से दण्डी और वामन की परिभाषा में मिलता है। दण्डी रचना के सघन संघटन को श्लेष मानते हैं और वामन सघन संघटन को ओज का गुण मानते हैं। श्लेष में उनके अनुसार घटना की विशेषता होती है। घटना की परिभाषा इस प्रकार दी जाती है क्रम अर्थात् अनेक क्रियाओं की परम्परा, कौटिल्य, अनुल्वणत्व या प्रसिद्ध वर्णन शैली और युक्तिविन्यास का योग घटना कहलाता है। श्लेष गुण में अनेक पद एक पद के समान भाषित होते हैं ऐसे आभा-युक्त रचना की विशेषता श्लेष कहलाती है।

श्लेष गुण श्लेष अलंकार से भिन्न होता है। हिन्दी के प्रमुख आचार्यों में देव और भिखारीदास ने इस गुण को स्वीकार किया है। आधुनिक काल की तुलना में मध्ययुग के सूर तुलसी जायसी आदि कवियों ने इस गुण का प्रयोग विपुलता से किया है। भिखारीदास से एक उदाहरण प्रस्तुत है—

लखि-लखि सखि सारस नयन, इन्दु वदन घनस्याम।
बिज्जु हास दारिम दसन बिंबाधर अभिराम। (काव्य निर्णय)

५. **समता**—इसका शब्दार्थ है समान, तुल्य या एक से होने का भाव समता कहलाता है। भरत की मान्यता है कि जहाँ रचना में अधिक असमस्त कठिन तथा व्यर्थ पद न हो वहाँ समता का भाव होता है। दण्डी के मत में बन्धों या रचनाओं की एकरूपता ही समता है। बन्ध तीन प्रकार के होते हैं—मृदु बन्ध (जिसमें अल्पप्राण अक्षर प्रचुरता से होते हैं), स्फुट बन्ध (जिसमें कर्कश वर्णों की विपुलता होती है), मध्यम बन्ध (जिसमें दोनों प्रकार के वर्णों का मिश्रण रहता है)। समता में दोनों का सम्मिश्रण होता है। समता अवैषम्य है इस गुण में रचना को जिस शैली में प्रारम्भ किया जाता है अन्त तक उसी का निर्वाह किया जाता है। वामन ने इसे अर्थ गुण माना है तथा ध्वनि के आचार्यों ने समता का गुण प्रसाद के अन्तर्गत समाहित बताया है। हिन्दी में देव और दास ने इसका वर्णन किया है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

"मेरे दृग कुवलयन को, होत निसा सानन्द।
सदा रहैं ब्रज देस पै, उदित साँवरो चन्द।"—(काव्य निर्णय)

६. **सुकुमारता**—इसका शाब्दिक अर्थ कोमलता है। यह गुण काव्य में वहाँ आता है जहाँ किसी रचना के अन्तर्गत कर्ण कटु या परुष वर्णों का परिहार और कोमल वर्णों की योजना होती है। कोमलता के साथ सुकुमार भावों की अभिव्यंजना इस गुण का अभिप्राय होती है। दण्डी ने लिखा है कि अनिष्ठु-राक्षर प्रायं सुकुमार मिहेष्यते' अर्थात् अपरुष वर्णों की योजना में सुकुमारता होती है। इसी प्रकार वामन ने भी रचना की अजरठता को सुकुमार माना है। इस प्रकार सुकुमारता परुषता के विपरीत है। इसी संदर्भ में ध्वनिवादियों ने इसे माधुर्य में समाविष्ट कर लिया है। हिन्दी के आचार्य अधिकांश में इसे स्वतन्त्र गुण की संज्ञा नहीं देते हैं। इस गुण का उदाहरण इस प्रकार है—

नव-नव सुमनों से चुन-चुनकर
धूलि सुरभि मधुरस हिमकण,
मेरे उर की मृदु कलिका में,
भर दे कर दे विकसित मन।—'पन्त'

छायावादी कवियों ने इस गुण का विपुल प्रयोग किया है। यही कारण है कि छायावादी काव्य के अन्तर्गत माधुर्य और सुकुमारता का विशेष योग मिलता है।

७. **अर्थ व्यक्ति**—इसका शाब्दिक अर्थ–'अर्थ प्रकाशन' से है। भरत के अनुसार जहाँ पर शब्दों और पदों के द्वारा समग्र अर्थ की (लोक घटना) पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाये, वहाँ पर अर्थ व्यक्ति का गुण माना गया है। दण्डी इस सम्बन्ध में यह कहते हैं कि जिन पदों के द्वारा अर्थ उद्दिष्ट अभिप्राय से अन्यत्र न जा सके, वहाँ अर्थ व्यक्ति गुण होता है। वैदर्भ और गौड़ दोनों मार्गों की विशेषता के रूप प्रस्तुत करते हुए दण्डी शब्दों के नपे तुले प्रयोग पर बल देते हैं। वामन का विचार भिन्न है। वे शब्द

गुण के रूप में अर्थ की स्पष्ट प्रतीति के हेतु स्वल्प तथा अर्थ गुण के रूप में वस्तु और भावों के स्वभाव की स्फुटता अर्थ व्यक्ति होती है। अर्थ व्यक्ति को ध्वनिवादी आचार्य प्रसाद गुण में मानते हैं। दास के अनुसार लक्षण और उदाहरण इस प्रकार है :

लक्षण— जासु अरथ अति ही प्रघट, वह नहिं समास अधिकाइ।
अर्थ 'व्यक्तगुन' बात ज्यों, बोलैं सहज सुभाइ॥

उदाहरण— इकटक हरि राधे लखैं, राधे हरि की ओर।
दोऊ आँनन इन्दु औ, चार्यौं नैन चकोर॥

देव ने भी दण्डी के मत का अनुसरण किया है।

८. **उदारता**—इसके अनेक अर्थ होते हैं जैसे व्यापकता, उत्कर्ष, असंकीर्णता, प्रभावात्मकता। जिस गुण की उपस्थिति से प्रतिपाद्य अर्थ में उत्कर्ष की प्रतीति हो, वह औदार्य कहलाता है। भरत का मत है कि किसी रचना में अलौकिक चरित्रों का श्रृंङ्गार तथा अद्भुत रस का उनसे सम्बद्ध अनेक अवस्थाओं में वर्णन होने पर यह गुण आता है। दण्डी ने अपने काव्यादर्श में उक्ति विशेष को दिखलाने वाले गुण के रूप में औदार्य की परिभाषा दी है। वामन के विचार से रचना का विकटत्व, जिसमें पदावली नाचती सी जान पड़ती है, शब्दगत उदारता और जिसमें ग्राम्यत्व का अभाव हो, वह अर्थगत उदारता है। हिन्दी के आचार्यों में देव ने इसका लक्षण—

जाहि सुनत ही ओज को दूर होत उत्कर्ष (शब्द रसायन) दिया है। ये दण्डी से प्रभावित हैं। दास ने इसे भिन्न रूप में माना है। उनके अनुसार जो, औरों को समझने में कठिन होते हुए भी केवल चतुरों की समझ में सरलता से आ जाये, उसे उदारता माना है।

उदाहरण— कदन अनेकन विघन के, एक रदन गनराइ।
बन्दन जुत बन्दन करो, पुसकर-पुसकर पाइ॥—(काव्य निर्णय)

९. **कान्ति**—इसका शाब्दिक अर्थ है आभा, उज्ज्वलता और कमनीयता। भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में कान्ति के अन्तर्गत श्रुति मधुर तथा मन को प्रसन्न करने वाली क्रीड़ा शालिता का वर्णन किया है। दण्डी का कथन है कि जहाँ लौकिक अर्थ का अतिक्रमण नहीं किया जाता और ऐसा स्वाभाविक वर्णन किया जाता है कि कान्त जगत् की कमनीयता व्यक्त हो तब यह गुण होता है। वामन ने कान्ति को दो रूपों में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार रचना की उज्ज्वलता या नवीनता होने पर कान्ति शब्द गुण के रूप में आती है और जिस रचना में श्रृंगार आदि रस दीप्त होते हैं वहाँ कान्ति अर्थ गुण के रूप में आती है। मम्मट तथा अन्य लोगों ने कान्ति का अन्तर्भाव ओज गुण में माना है। इसी परम्परा में देव ने 'शब्द-रसायन' में "अधिक लोक मर्जादते, सुनत परम सुख जाहि। चारु बचन पै कान्ति रुचि, कान्ति बखानत ताहि।" दास ऐसी रचना को कान्तिमय मानते हैं जिसके रुचिर शब्दों का अर्थ 'न गूढ़ न प्रघट' हो, नागरिक हो तथा सुमति जनों के द्वारा समझी जाने वाली हो। उदाहरणार्थ—

ये मूरत ध्यान में लावन को सुर सिद्ध समूहन साधमरे।

बड़ भामिनी गोपी मयंकमुखी अपनी-अपनी दिसि अंक भरे। (का० नि० : १९)

१०. **समाधि**—समाधि का अर्थ है सम्यक रूप से आधान या उपचार अर्थात् एक वस्तु के धर्म का दूसरी वस्तु में ठीक ढंग से आरोपित करना। रचना का विशिष्ट अर्थ जिसे प्रतिभा संपन्न व्यक्ति प्राप्त करते हैं। भरत के इस मत से किंचित् भिन्न दण्डी का मत है। दण्डी के विचार से जहाँ पर लोक सीमा के अनुरोध से अन्य के धर्म का अन्यत्र आरोप किया जाता है, वहाँ समाधि गुण होता है। वामन के कथनानुसार जहाँ अचानक नहीं, वरन् क्रम के साथ आरोह के बाद अवरोह हो, वहाँ समाधि गुण होता है। वामन समाधि को अर्थ गुण और शब्द गुण दोनों रूप में मानते हैं। ध्वनिवादी एवं अन्य कुछ आचार्य इसे गुण ही नहीं मानते हैं, मम्मट का नाम द्रष्टव्य है। हिन्दी में देव ने दण्डी का और दास ने वामन का अनुकरण किया है। उदाहरण इस प्रकार है :

बर तरुनिन के बैन सुनि, चीनी चकित सुभाइ।
दुखित दाख मिसरी मुरी, सुधा रही सकुचाइ।
(का० नि० : १९)

प्राचीन आचार्यों ने तीन गुणों का विवेचन विशेष किया है। पंडितराज द्वारा वर्णित दसों गुणों का महत्व आधुनिक काव्य की विविधता को देखते हुए अब स्पष्ट है। छायावादोत्तर काव्य में इन दसों गुणों के उदाहरणों को सरलता से खोजा जा सकता है, इसलिए केवल तीन गुण मानने का सिद्धान्त अब अव्यावहारिक हो गया है। कुल मिलाकर, हम कह सकते हैं कि आधुनिक काव्य अपनी विविधता और सूक्ष्म अभिव्यक्ति के कारण इन सभी उपर्युक्त गुणों की विवेचना की अपेक्षा करता है।

———

पंचम अध्याय | ध्वनि-विवेचन

ध्वनि-सिद्धान्त का आधार अर्थ-ध्वनि को माना गया है तथा अर्थ-ध्वनि को समझने के लिए शब्दों के भिन्न-भिन्न रूपों, उनके भिन्न-भिन्न अर्थों, और उन अर्थों का बोध कराने वाले अर्थ व्यापारों को समझना आवश्यक है। ये अर्थ व्यापार ही शब्द-शक्तियाँ कहलाते हैं। शब्द मुख्यत: ३ प्रकार के माने जाते हैं—वाचक शब्द, लक्षक शब्द और व्यंजक शब्द। इन शब्दों के अनुसार ही इनके अर्थ होते हैं जैसे वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ। शब्द-शक्तियों के सम्बन्ध में विस्तार से पृथक् अध्याय में विवेचन किया गया है। यहाँ हम केवल इतना ही बता देना चाहते हैं कि ध्वनि-सिद्धान्त शब्द-शक्तियों के आधार पर ही निर्मित हैं।

ध्वनि—का सामान्य अर्थ है 'आवाज'। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार हुई है 'ध्वन्यते अनेन इति ध्वनि:' अर्थात् जिससे ध्वनि उत्पन्न हो उसे ध्वनि कहते हैं। इस अर्थ में ध्वनि और व्यंजना दोनों पर्यायवाची होते हैं। 'ध्वननं ध्वनि:' के आधार पर ध्वनित होना ही ध्वनि है। रस, अलंकार, वस्तु आदि काव्यार्थ ध्वनित होते हैं इसलिए ये सब ध्वनि हैं।

ध्वनि का प्रयोग पहले-पहले भाषा-शास्त्र में हुआ था। भाषा के अन्तर्गत वर्णों के विस्फोट को ध्वनि कहा जाता है। इसी के अनुसार वाद में शब्दों और वाक्यों के अर्थ-व्यंजना को ध्वनि कहा गया है। वैयाकरण विस्फोट का सम्बन्ध भाषा की अभिधा-शक्ति से सम्बन्धित मानते हैं, परन्तु काव्य-शास्त्रियों में वह ध्वनि-व्यंजना पर आधारित होता है। ध्वनि की व्याख्या करते हुए ध्वनिकार ने लिखा है—

यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थमुप सर्जनी कृत स्वार्थो।
व्यंक्त: काव्यविशेष: स ध्वनिरिति सूरिभि कथित:॥

अर्थात् जहाँ अर्थ या शब्द अपने अभिधात्मक अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ को ध्वनित करता है, उस विशेष प्रकार के काव्य को विद्वान् ध्वनि कहते हैं। इस प्रकार ध्वनिकार ने व्यंग्यार्थ को ही ध्वनि कहा है। आनन्दवर्धन जैसे विद्वानों ने भी ध्वन्यालोक में लिखा है कि महाकवि की वाणी में वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान (अर्थ) कुछ और ही वस्तु है जो प्रसिद्ध अलंकारों अथवा प्रतीत होने वाले अन्य गुणादि तत्वों से भिन्न, सुन्दरियों के लावण्य के समान (अलंकार आदि से अलग ही) प्रकाशित होता है। सुन्दरियों का सौन्दर्य समस्त अंगों से पृथक् दिखाई देता है और सहृदय

नेत्रों के लिए अमृत-सा कुछ और ही होता है उसी प्रकार यह प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही प्रतीत होता है।

ध्वनि की प्रतिष्ठा का श्रेय आनन्दवर्धन को है, वे इस प्रतीयमान अर्थ को ही काव्य का सारभूत आत्मतत्व मानते हैं। उनका कथन है कि विद्वान् काव्य के जिस आत्मभूत तत्व को ध्वनि कहते आये हैं, कुछ लोग उसकी स्थिति अभावात्मक मानते हैं, कुछ लोग उसे लक्षणा में ही अन्तर्भूत करना चाहते हैं तथा कुछ ने उसके रहस्य को अनिर्वचनीय कहकर वाणी से परे अर्थात् अविवेच्य कह डाला है।

जो लोग ध्वनि का अस्तित्व नहीं मानते हैं, उनका कथन है कि काव्य शब्दार्थ शरीर वाला है, उसमें शब्दगत चारुत्व के लिए अनुप्रासादि शब्दालंकार और अर्थगत चारुत्व के लिए उपमा आदि अर्थालंकार प्रसिद्ध हैं। इनके सिवाय वर्ण संघटनादि धर्म जो माधुर्य आदि गुण होते है वे भी चारुत्व प्रतीति का विषय होते हैं। इन्हीं से सम्बन्धित वृत्तियाँ और रीतियाँ भी श्रवण गोचर होती हैं इसीलिए इन तत्वों से भिन्न ध्वनि कौन सा चारुत्व हेतु पदार्थ है ? उनका कहना है कि यदि वह कोई पदार्थ हो भी तो गुण, अलंकार आदि चारुत्व हेतुओं में ही उसका अन्तर्भाव हो जायेगा। ध्वनि वादियों ने इस धारणा का खण्डन किया है, उनका कहना है कि जहाँ काव्य में अलंकार आदि नहीं होते हैं वहाँ भी प्रतीयमान अर्थ की विशिष्टता काव्य में होती है। काव्य में रस, भाव आदि अर्थ ध्वनित होते हैं कथित नहीं। प्रतीयमान अर्थ अलंकार आदि से भिन्न कुछ अन्य ही विलक्षण तत्व है। आनन्दवर्धन के पूर्व रस, अलंकार और रीति-सिद्धान्त स्थापित हो चुके थे अतः यह माना जा सकता है कि ध्वनि की कुछ-न-कुछ मान्यता अवश्य रही होगी। यह आनन्द वर्धन के शब्दों से ही प्रभावित होता है जिससे उन्होंने अपने से पूर्व परम्परा में विद्वानों द्वारा ध्वनि को काव्य का आत्मतत्व मानने की बात कही है–'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः'।

आनन्दवर्धन के पश्चात् अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक पर 'लोचन' टीका लिखकर ध्वनि-सिद्धान्त का प्रबल समर्थन किया। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त दोनों ने रस और ध्वनि का अटूट सम्बन्ध दिखाकर रस मत का ही समर्थन किया था। आनन्दवर्धन ने रस-ध्वनि को सर्वश्रेष्ठ ध्वनि माना है जबकि अभिनवगुप्त रस को ध्वनित या अभिव्यंजित मानते हैं।

ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध प्रायः सभी सम्प्रदायवादियों ने किया है। अलंकार-वादी प्रतिहारेन्दुराज ने ध्वनि का खण्डन किया और उसे अलंकारों में ही अन्तर्भूत करना चाहा। वक्रोक्तिकार कुन्तक ने ध्वनि और रस को भी वक्रोक्ति में शामिल कर लिया। इसी प्रकार महिम भट्ट ने ध्वनि का निषेध करके प्रतीयमानार्थ अनुमान अश्रित माना। रस वादी भट्ट नायक ने भी रस प्रक्रिया में भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों को मानकर व्यंजना व्यापार का निषेध किया। चूँकि मम्मट ने सभी मतों

का समन्वय करके ध्वनि और रस-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की थी, इसीलिए उन्हें ध्वनि प्रस्थापना परमाचार्य कहा गया।

ध्वनि का महत्व

आनन्दवर्धन ने ध्वनि को दो रूपों में ग्रहण किया है—एक समग्र काव्यार्थ या समग्र काव्य ध्वनि के रूप में दूसरे अभिव्यंजना के विशिष्ट प्रकार अर्थात् व्यंजना के रूप में। पहले रूप का सम्बन्ध कवि कथ्य से है, दूसरे का सम्बन्ध कथन की शैली से है। इस प्रकार आनन्दवर्धन का ध्वनि-सिद्धान्त काव्य के रस, भाव, विषय और शैली पक्ष दोनों को समाहित कर लेने वाला पूर्ण सिद्धान्त है। प्रकारान्तर से उन्होंने रस को ही काव्यात्मा घोषित किया है। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ध्वनि को काव्य की आत्मा कहना सामान्य कथन मात्र है। प्रधानता के कारण वस्तुतः रस ही काव्य की आत्मा है। वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि का रस ध्वनि में ही सर्वथा पर्यवसान हो जाता है। उन दोनों की उत्कृष्टता तो वाच्य से ही होती है—

तेन रस एव वस्तुतः आत्मा। वस्त्वलंकार ध्वनि तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्यते इति वाच्यात् उत्कृष्टौ तौ, इत्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मा इति सामान्येन उक्तम्। (लोचन)

रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत ध्वनि-सिद्धान्त के समन्वय के कारण इस प्रकार थे—

(१) रस से अभिप्राय केवल विभावादि से परिपुष्ट परिनिष्ठित रस न होकर सब प्रकार का रुचिकर कवि कथ्य—भाव, भावाभास, वस्तु-चित्रण, अलंकार आदि सब रस के अन्तर्गत समाहित हो गये। इस प्रकार रस-सिद्धान्त को व्यापक बनाया गया।

(२) ध्वनि को रस निरूपण की एक प्रक्रिया माना गया इससे रस-निष्पत्ति सम्बन्धी सही दृष्टिकोण सामने आया और रस के ध्वनित होने का रहस्य खुला।

(३) रस और ध्वनि का समन्वय इस प्रकार से भी घटित हुआ कि ध्वनि के भाषा-शैलीगत रूप याने व्यंजना की गणना भाषा-शैली के प्रसाधन के रूप में की गयी। इस प्रकार काव्य कला की कसौटी भाषा में सूक्ष्मता के साथ रमणीय व्यंजना शक्ति उत्पन्न करने की हुई।

ध्वनि के भेद

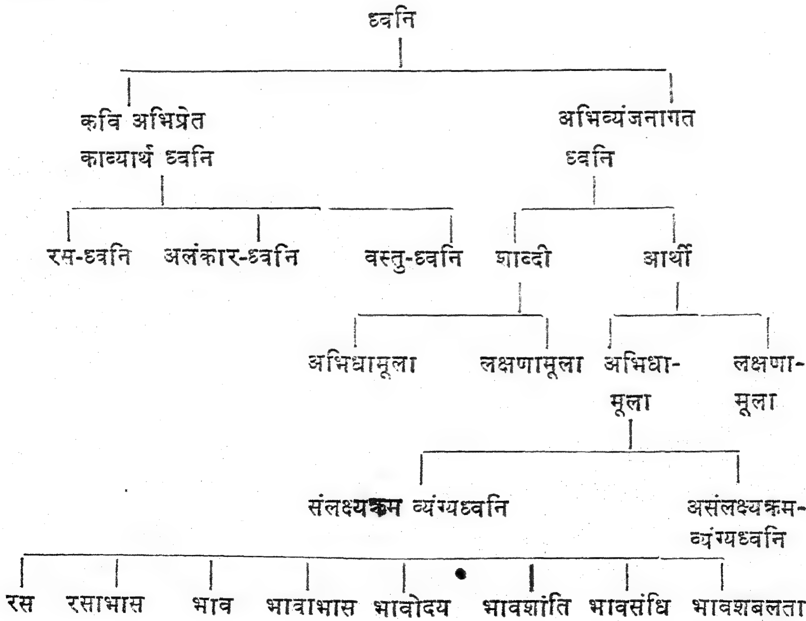
आनन्दवर्धन ने रस-ध्वनि को ही प्रधान माना है तथा उसके ही उपलक्षण से दो भेद किये हैं—अलंकार-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि। रस-ध्वनि में विभावादि से रस की अभिव्यंजना होती है अतः रस की प्रधानता के कारण वह रस-ध्वनि है।

अलंकार-ध्वनि वहाँ होती है जहाँ प्रतीयमान रस, भाव आदि अलंकार रूप में इस रूप में प्रकट होते हैं कि आलंकारिक चमत्कार अधिक महत्वपूर्ण ध्वनि प्रकट करता है।

वस्तु-ध्वनि वह होती है जहाँ किसी वस्तु का वास्तविक तथा मार्मिक चित्रण होता है। इसमें प्रकृति आदि का आलम्बनगत मनोरम चित्रण आता है। ऊपर दर्शाये गये तीनों भेद विषय-तत्व और रमणीयता का बोध कराते हैं। यह समग्र काव्य प्रसंग के व्यंग्यार्थ = कवितात्पर्य को उद्घाटित करती है। ध्वनि को आनन्दवर्धन ने व्यंजना शक्ति का पर्याय ही माना है। व्यंजना के स्थूल रूप में दो भेद माने गये हैं—(१) शाब्दी व्यंजना और (२) आर्थी व्यंजना। इनमें से प्रत्येक के भी दो भेद हैं—(१) अभिधा मूला ध्वनि या व्यंजना, (२) लक्षणामूला ध्वनि या व्यंजना।

अभिधामूला ध्वनि में वाच्यार्थ की सहायता से ही व्यंग्यार्थ की सम्प्राप्ति हो जाती है और लक्षणा मूला ध्वनि, लक्षणा शब्द शक्ति पर आधारित रहती है।[1] व्यंजना के जितने भी भेदोंपभेद हैं वे ध्वनि के भेदोपभेद माने जाते हैं। इनको संक्षेप में नीचे विवेचन किया जा रहा है। व्यंजना की प्रधानता के आधार पर ध्वनि-सिद्धान्त के अर्न्तगत काव्य के ३ भेद किये गये—(१) ध्वनि काव्य, (२) गुणीभूत व्यंग्य, (३) अवर काव्य।

ध्वनि के भेदोपभेदों को तालिका के माध्यम से इस प्रकार समझा जा सकता है—



१. लक्षणामूला ध्वनि अविवक्षित वाच्यध्वनि और अभिधाध्वनि विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनि भी कहलाती है।

व्यंजना की प्रधानता के आधार पर काव्य के जिन भेदों को प्रस्तुत किया गया है उनमें **ध्वनि-काव्य** सर्वोत्तम माना जाता है क्योंकि इस काव्य में वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ होता है। परन्तु जहाँ पर वाच्यार्थ की तुलना में व्यंग्यार्थ गौण या कम चमत्कार प्रधान होता है वहाँ गुणीभूत काव्य होता है इसे मध्यम श्रेणी का काव्य माना जाता है। इसी प्रकार जहाँ पर व्यंग्यार्थ नहीं होता है वह काव्य साधारण या अवर श्रेणी का माना जाता है। यह वर्गीकरण प्रायः सभी ध्वनिवादी आचार्यों ने माना है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ध्वनि व्यंग्यार्थ पर ही निर्भर रहती है।

व्यंग्यार्थ क्योंकि वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ पर आश्रित रहता है अतः ध्वनि भी अभिधा और लक्षणा पर आधारित है। ध्वनि के मुख्य दो भेद माने गये है—लक्षणा मूला ध्वनि और अभिधा मूलाध्वनि। इनमें से प्रत्येक का परिचय इस प्रकार दिया जा रहा है। यह ध्वनिकाव्य के अन्तर्गत ही आता है।

लक्षणा मूला ध्वनि या अविवक्षित वाच्य ध्वनि—अधिक चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ में जब वाच्यार्थ की विवक्षा अर्थात् प्रयोजन शीलता नहीं रहती है तब अविवक्षित वाच्य ध्वनि होती है, यहाँ पर व्यंग्यार्थ लक्ष्यार्थ पर आश्रित रहता है इसलिए यह लक्षणा मूला ध्वनि कहलाती है। इसके दो भेद माने गये हैं—

(१) **अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि**—जिस ध्वनि में वाच्यार्थ अपना पूर्णतः तिरोभाव नहीं करता है तथा अपना अर्थ रखते हुए अन्य अर्थ में संक्रमण करता है वहाँ ध्वनि यह होती है जैसे—

तुमको ही कहता हूँ मैं—
विद्वान यहाँ बैठे वर।
और बैठना चाह रहे तो
बैठो सोच-समझ कर।।

यहाँ पर वाच्यार्थ अनुपयुक्त होने के कारण ये पद एक दूसरे ही अर्थ का बोध करा रहे हैं जैसे—'तुमको ही एवं मैं कहता हूँ,' वास्तव में वह यह कहना चाहता है कि तुम मेरे मित्र हो और मैं तुम्हारी प्रतिष्ठा चाहता हूँ इसलिए ऐसा कह रहा हूँ।

(२) **अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि**—यह ऐसा ध्वनि काव्य है जिसमें वाच्यार्थ ऊपर से तो सार्थक प्रतीत होता है पर मूलतः अपने आप में असंगत होकर सर्वथा तिरस्कृत होता मालूम पड़े और विपरीत अर्थ (जो व्यंग्यार्थ होता है।) की सिद्धि करे—

अवसि हौं आयसु पाय रहौंगो।।
जनमि कैकेयी कोखि कृपानिधि ! क्यों कछु चपरि कहौंगो।
भरत भूप सिय राम लखन बन, सुनि सानंद सहौंगो।
पुर परिजन अवलोकि मातु सब, सुख सन्तोष लहौंगो।।

यहाँ पर भरत का सानन्द सहना और सुख सन्तोष लहना पूर्णतः बाधित है। व्यंग्यार्थ यहाँ पर यह है कि मुझे इन सभी कार्यों से बड़ा दुख होगा फिर भी आपकी आज्ञा है तो मैं इसे भी झेलूँगा।

अभिधामूला (विवक्षिता न्यपरवाच्य) ध्वनि—इससे तात्पर्य उस ध्वनि काव्य से है जिसमें वाच्यार्थ अपने आप में 'विवक्षित' या संगत तो रहता है पर स्वयं तक ही सीमित न रहकर व्यंग्यार्थ रूप में परिणत होकर पूर्णता प्राप्त करता है। इसके दो भेद किये गये हैं।

(१) **संलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि**—वाच्यार्थ का स्पष्ट बोध होने पर जहाँ उसके बाद व्यंग्यार्थ के प्रकट होने का क्रम रहता है वहाँ पर यह ध्वनि होती है। व्यंजक और व्यंग्य के बीच यह क्रम सम्बन्ध कुछ वैसा ही रहता है जैसा 'रणन' (घण्टानाद) के बाद 'अनुरणन' (उसकी गूँजती रहने वाली ध्वनि) का क्रम। इसके प्रधान ३ भेद माने जाते हैं—

१. **शब्द शक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि**—इस तरह के काव्य में व्यंग्यार्थ का जो चमत्कार सन्निहित रहता है उसका कारण उसमें प्रयुक्त शब्दों की विशेष व्यंजना ही होता है, उसके अन्य पर्यायवाची शब्द में नहीं। यह अधिकांश में समासोक्ति के रूप में होती है, उदाहरणार्थ—

चाहे फटा-फटा हो मेरा अम्बर अशून्य है आली।
आकर किसी अनिल ने यहाँ धूलि तो डाली॥

यहाँ पर अम्बर और अशून्य दो शब्दों के कारण वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ निकलता है। अम्बर और अशून्य पदों के पर्यायों से ये अर्थ नहीं निकलते। शब्द शक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि के ४ भेद हैं—पदगत वस्तु ध्वनि, वाक्यगत वस्तु ध्वनि, पदगत अलंकार ध्वनि और वाक्यगत अलंकार ध्वनि।

२. **अर्थ शक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि**—इस तरह के काव्य में व्यंग्यार्थ का जो चमत्कार सन्निहित होता है उसका कारण उसमें निहित अर्थ की विशेष व्यंजना ही होता है। इसके ३ भेद माने गये हैं—स्वतःसंभवी, कवि प्रौढ़ौक्ति सिद्ध, कवि निबद्धमान—पात्र प्रौढ़ौक्ति सिद्धि। इनमें से प्रत्येक के ४ भेद होते हैं—वस्तु से वस्तु अलंकार, अलंकार से वस्तु और अलंकार से अलंकार। इनमें से प्रत्येक के पदगत, वाक्यगत तथा प्रबन्धगत—ये ३ भेद और किये गये हैं। कुछ के उदाहरण यहाँ पर द्रष्टव्य हैं।"

१. स्वतः संभवी—वस्तु रूप व्यंजक अर्थ से वस्तुरूप व्यंग्यार्थ की निष्पत्ति—

बेटी ! तुम चाह रही हो, जिसको वरना
वह धनी, साथ ही छली, चपल मन वाला।
कुछ करना धरना नहीं चाहता है फिर,
सुनकर मुसकाती थी वह गोरी बाला॥

इसमें कोई माँ अपनी बेटी को समझा रही है जिसे सुनकर बेटी मुस्कराने लगती है, इससे सहृदयों के हृदय में एक नये व्यंग्यार्थ का प्रकाश हो रहा है (कि हे माँ अपने रूप और यौवन से मैं उसे रास्ते पर ले आऊँगी।)

(ख) स्वत: संभवी पदगत अलंकार से वस्तु ध्वनि—

दमकत दरपन दरप दरि, दीप सिखा दुति देह।
वह दृढ़ इक दिसि दिपति, यह मृदु दस दिसनि सनेह ।।

इसमें प्रथम पंक्ति के दीप सिखा दुति देह'—पद में उपमा अलंकार तथा इसके बाद इसके सहारे तीसरे-चौथे पद में व्यतिरेक अलंकार और प्रथम में प्रतीप अलंकार है। इन अलंकारों से सौन्दर्य व्यंग्य है अत: यह ध्वनि सिद्ध हुई।

(ग) कवि प्रौढ़ौक्ति द्वारा पदगत वस्तु से वस्तु ध्वनि—

सिय वियोग दुख केहि विधि, कहौं बखानि।
फूल बान से मनसिज, बेधत आनि ।।

फूलवान पद से कवि प्रौढ़ोक्ति द्वारा विरह की दशा और प्रेम का आधिक्य व्यंग्य है अत: यह ध्वनि सिद्धि हुई।

(घ) प्रबन्धगत वस्तु से वस्तु ध्वनि—

फागु की भीर अभीरन की गहि गोविन्द लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पदमाकर ऊपर नाइ अबीर की झोरी।
छोरि पितम्बर कम्मर से सु विदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसुकाइ लला फिरि आइयो खेलन होरी।

यहाँ पर पूरे प्रबन्ध से यह ध्वनि मिलती है कि कृष्ण को इस प्रकार रख दिया गया है कि फिर कभी वे होली खेलने के लिए आने का नाम नहीं लेंगे।

(ङ) कवि निवद्ध पात्र प्रौढ़ौक्ति सिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य ध्वनि—

कनकाम आम्रमंजरियों को ले मधु ने
विरहीजन के हिंसन हित तीर बनाये।
उन पर, मुग्धाओं पर शर-वर्षण करते
कुसुमित धनु ले स्मर ने निज चरण बढ़ाये ।।

यहाँ पर मधु का तीर निर्माण करना और स्मर का मुग्धाओं पर शर-वर्षण करना काल्पनिक है अत: व्यंजक अर्थ अलंकार हीन होने के कारण जहाँ वस्तु रूप है वहाँ उपर्युक्त कारण से कवि प्रौढ़ौक्ति सिद्ध भी है।

इसी प्रकार अन्य व्यंग्य रूपों के उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। वास्तव में ये भेद कुल मिलाकर १२ होते हैं। प्रमुख के उदाहरण ऊपर दिये गये हैं।

असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि या रस ध्वनि—जहाँ पर वाच्यार्थ ग्रहण करने का क्रम लक्षित नहीं होता तथा हम यह अनुभव नहीं करते कि यह वाच्यार्थ हैं और उसके बाद यह व्यंग्यार्थ है वहाँ यह ध्वनि होती है। इस प्रकार इसमें वाच्यार्थ—व्यंग्यार्थ के आगे-पीछे का ज्ञान नहीं रहता है। हम वाच्यार्थ के ग्रहण करते ही

व्यंग्यार्थ से अभिभूत हो जाते हैं। इस प्रकार असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि में हम भाव या रस से आक्रान्त हो जाते हैं। इस ध्वनि की यह विशेषता है कि हम यह लक्षित नहीं कर पाते कि कौन-सा वाच्यार्थ है और कौन-सा व्यंग्यार्थ। नैयायिकों के शत पत्र भेदन न्याय से इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जाता है कि एक ही सुई से हम कमल की सौ पंखुड़ियों को वेध सकते हैं। परन्तु हम यह नहीं जान पाते कि कब ६०वीं या ७१वीं पंखुड़ी को वेधा गया।

भावभेद से असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि के ८ प्रकार माने गये हैं—रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसंधि, भावशान्ति और भावशबलता।

(१) **रसध्वनि**—जहाँ वर्णन से रस व्यंग्य होता है वहाँ रसध्वनि होती है। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है- -

पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन पग अवनि कठोरा॥
जियन मूरि जिमि जोगवत रहेऊँ। दीप बाति नहीं टारन कहेऊँ॥
सो वन बसिहि तात केहि भाँती। चित्र लिखित कपि देखि डेराती॥
जो सिय भवन रहै कह अम्बा। मो कहँ होय बहुत अवलम्बा॥

इस उदाहरण में करुण रस की अभिव्यक्ति है। वाच्यार्थ के साथ ही व्यंग्यार्थ रूप रस का प्रभाव यहाँ प्रकट है। आलम्बन सीता है, उद्दीपन उनकी सुकुमारता, स्निग्धता, भीरुता आदि हैं। स्थायी, प्रिय के अनिष्ट के कारण शोक है, संचारी भाव, चिन्ता, मोह, स्मरण, तर्क, दैन्य आदि हैं। अनुभाव, आशंका, दैव निन्दा कथन आदि हैं।

(२) **भावध्वनि**—यह वहाँ होती है जहाँ पर अपुष्ट स्थायी अथवा प्रमुखता से प्रकट संचारी का भाव प्रकाशन होता है, उदाहरणार्थ—

सटपटाति सी ससिमुखी, मुख घूँघट पट ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखे झाँकि॥

यहाँ पर आलम्बनगत 'लज्जा' संचारी का तथा आश्रयगत 'स्मरण' संचारी का प्रमुखता से वर्णन है।

(३) **रसाभास**—जब रस के परिपाक होते हुए भी सहृदयजनों की दृष्टि से उसमें किसी प्रकार का अनौचित्य हो वहाँ पर रसाभास होता है। जैसे शृंगार में पर-स्त्री प्रेम, पर-पुरुष प्रेम, बहुनायक में प्रेम एकांगी प्रेम आदि का वर्णन। यह रसदोष है परन्तु आभास रूप में भी आनन्द दायक होने के कारण इसे ध्वनि के अन्तर्गत रखा जाता है। वीर रसाभास का एक उदाहरण इस प्रकार है—

उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जहँ तहँ गाल बजावन लागे॥
लेहु छुड़ाय सीय कह कोऊ। धरि बाँधौ नृप बालक दोऊ॥
तोरे धनुष काज नहि सरई। जीवत हमहिं कुँवरि को वरई॥
जो विदेह कछु करहिं सहाई। जीतहु समर सहित दोऊ भाई॥

यहाँ पर धनुष न उठा सकने में शक्तिहीन राजाओं का राम के प्रति युद्ध करने का उत्साह अनुचित है, अतः रसाभास है।

(४) **भावाभास**—भाव में अनौचित्य होने पर भावाभास माना जाता है। जैसे—

दर्पण में लखकर अपने प्रीतम की-हँसती छाया।
आँखें लाल हुई उसकी शंका ने चरण बढ़ाया॥

यहाँ दोनों के सहास्य अनुराग वर्णन ही स्वाभाविक होता पर बिना किसी कारण के नायिका के मन में जग उठे क्रोध तथा शंका भाव के कारण 'रति' भाव का 'आभास' मात्र प्रतीत होता है।

(५) **भावोदय**—जहाँ एक भाव की शान्ति के उपरान्त दूसरे भाव का उदय इस प्रकार वर्णित हो कि वह सहृदयों के हृदय को चमत्कृत करने वाला बन जाय तो भावोदय माना जाता है।

"हाथ जोड़ बोला साश्रु नयन महीप यों
मातृभूमि ! इस तुच्छ जन को क्षमा करो।
आज तक खेयी तरी मैंने पाप-सिन्धु में
अब खेऊँगा उसे धार में कृपाण की॥ (वियोगी : आर्यावर्त)

यहाँ प्रथम दो पंक्तियों में जयचन्द द्वारा ग्लानि एवं विषाद भावों की शान्ति बताई गई है इसके उपरान्त वीर भाव का उदय होने से वह सहृदयों के लिए आह्लादक बन गया है।

(६) **भावसन्धि**—जहाँ पर दो भावों के सम्मिलन के कारण चमत्कार आता है, वहाँ सन्धि होती है :—

नई लगनि कुल की सकुच, बिकल भई अकुलाई।
दुहूँ ओर ऐंची फिरति, फिरकी लौं दिनु जाई॥

नायिका में विद्यमान 'नई प्रीति' एवं कुल की मर्यादा की भाँति—ये दोनों भाव समान बल वाले तथा औत्सुक्य का चित्रण करने वाले हैं अतः इस चमत्कार के कारण 'भावसन्धि के अन्तर्गत आयेंगे।

(७) **भावशान्ति**—जहाँ पर किसी उठे हुए भाव की समाप्ति में विशेषता देखी जाती है, वहाँ पर भाव-शान्ति होती है, यथा—

अतीव उत्कंठित ग्वाल बाल हो,
सवेग आते रथ के समीप थे।
परन्तु होते अवि ही मलीन थे,
न देखते थे जब वे मुकुन्द को। (हरिऔध)

यहाँ पर उद्धव को आते देखकर ब्रज के निवासियों में उदित हर्ष का भाव विषाद भाव में (कृष्ण को न पाने पर) शान्त हो जाता है।

(८) **भाव शबलता**—जहाँ पर एक के बाद अनेक भावों के आने से एक ही

साथ अनेक भावों के सम्मिलन का सौन्दर्य हो, वहाँ 'भावशवलता' होती है। उदाहरणार्थ—

जब ते कुँवर कान्ह रावरी, कला निधान
कान परी वाके कछु सुजस कहानी सी।
तब ही ते देव देखी देवता सी हँसाति सी,
रीझति सी खीझति सी रूठति रिसानी सी।
छोही सी छली सी, छीन लीनी सी, छकी सी छिन,
जकी सी ठकी सी लगी थकी थहरानी सी।
बींधी सी, बँधी सी विष बूड़ति विमोहति सी,
बैठी बाल बकति विलोकति विकानी सी॥
(देव : रीतिशृंगार)

यहाँ पर एक ही आश्रय (श्रीकृष्ण को हृदय सौंप बैठी गोपी) में दो से अधिक भावों की चमत्कार पूर्ण स्थिति का वर्णन है, अतः भाव-शबलता है।

गुणी भूत व्यंग्य

यह वहाँ होता है जहाँ पर वाच्यार्थ की तुलना में व्यंग्यार्थ प्रधान अथवा अधिक महत्वपूर्ण न होकर गौण होता है। पंडितराज जगन्नाथ ने इसे उत्तम काव्य के अन्तर्गत माना है, क्योंकि व्यंग्यार्थ का अस्तित्व इस काव्य में है। मध्यम काव्य व्यंग्य निष्ठा रहता तथा अवरकाव्य व्यंग्यार्थ शून्य होने के कारण चित्रकाव्य मात्र रहता है। गुणीभूत व्यंग्य के आठ भेद माने गये हैं—(१) अगूढ़, (२) अपरांग व्यंग्य, (३) वाच्य सिद्धयंग व्यंग्य, (४) अस्फुट व्यंग्य, (५) संदिग्ध प्राधान्य व्यंग्य, (६) तुल्य प्राधान्य व्यंग्य, (७) काक्वाक्षिप्त व्यंग्य, (८) असुन्दर व्यंग्य। इनमें से प्रत्येक का उदाहरण इस प्रकार है।

अगूढ़ व्यंग्य—जब व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के समान स्पष्ट प्रतीत हो तो अगूढ़ व्यंग्य होता है। यथा—

गोधन गजधन वाजिधन, और रतन धन खान।
जब आवत संतोष धन, सब धन धूरि समान॥

इसमें 'सब धन धूरि समान' में मुख्यार्थ की बाधा है परन्तु ऐसा अर्थ निकलता है कि सन्तोष के आ जाने पर सब धनों का महत्व समाप्त हो जाता है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ से सन्तोष सबसे बड़ा धन है।

अपरांग व्यंग्य—जब रस, भाव, भावाभास आदि एक दूसरे के अंग हो जाते हैं तब अपरांग व्यंग्य होता है। यथा—

डिगत पानि डिगुलात गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल।
कंप किसोरी दरसि कै, खरे लजाने लाल॥

इसमें सात्विक भाव 'कँप' द्वारा व्यंजित रति स्थायी या शृंगार रस 'लज्जा' संचारी का अंग हो गया है एतदर्थ अपरांग व्यंग्य है।

वाच्यसिद्धयंग—जहाँ पर निकलने वाले व्यंग्यार्थ से ही पूरे पद की वाच्यार्थ की सिद्धि होती है, वहाँ पर वाच्य सिद्धयंग व्यंग्य होता है।

पँखुड़ियों में ही छिपी रहकर न बातें व्यर्थ।
ढूँढ़ कोषों में न प्रियतम नाथ का तू अर्थ।
हटा घूँघट पट न मुख से मत उझक कर झाँक।
बैठ पर्दे में दिवा निसि मोल अपनी आँक।
कर कमी मत किसी सुन्दर का निवेदन ध्यान।
री सजनि वन की कली नादान।

कली से मुग्धा नायिका का व्यंग्य है। इस व्यंग्यार्थ के स्पष्ट होने पर ही वाच्य की सिद्धि होती है अतः वाच्य सिद्धयंग व्यंग्य हुआ।

अस्फुट व्यंग्य—जब व्यंग्य को बहुत यत्न करने पर ही समझा जावे तो उसके गूढ़ रहने के कारण उसे अस्फुट व्यंग्य कहा जाता है। यथा—

खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगन्ध के
प्रथम वसन्त में गुच्छ-गुच्छ।

प्रकृति के इस वर्णन में युवावस्था के आगमन का व्यंग्यार्थ बड़ी कठिनाई से निकलता है।

संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य—जब यह सन्देह बना रहे कि अर्थ में वाच्यार्थ प्रधान है अथवा व्यंग्यार्थ, तब संदिग्ध-प्राधान्य व्यंग्य होता है; जैसे—

मानहुँ यहि तन अच्छ को, स्वच्छ राखिबे काज।
दृग पग पोंछन को 'कियो, भूषन पायंदाज॥

वाच्यार्थ की दृष्टि से यह उत्प्रेक्षा अलंकार है कि आभूषण मानों नेत्र के पैरों को पोंछने के लिए पायंदाज हैं और व्यंग्यार्थ यह है कि आभूषण उनके शरीर रूपी भवन में पायंदाज के समान हैं अर्थात् आभूषण की शोभा शरीर की शोभा के सामने नगण्य है। यहाँ इस प्रकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों चमत्कार पूर्ण हैं। कौन प्रधान है, यह कहना कठिन है। सन्देह बने रहने के कारण संदिग्ध प्राधान्य व्यंग्य हुआ।

असुन्दर व्यंग्य—जहाँ पर वाच्यार्थ से निकलने वाले व्यंग्यार्थ में कोई चमत्कार न हो, वहाँ पर असुन्दर व्यंग्य होता है। यथा—

यथा— विहँग सोर सुनि-सुनि समुझि, पछवारे की बाग।
जाति परी पियरी खरी, प्रिया भरी अनुराग॥

इस वाच्यार्थ से व्यंग्य है कि प्रिय से मिलने के लिये प्रिया अत्यन्त व्याकुल है जो वाच्यार्थ से भी स्पष्ट है अतः यहाँ कोई चमत्कार नहीं दिखता।

तुल्य प्राधान्य व्यंग्य—जहाँ पर वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों ही समान चमत्कार के हों, वहाँ पर तुल्य प्राधान्य व्यंग्य होता है।

उदाहरणार्थ—आज बचपन का कोमल गात। जरा का पीला-पीला पात॥
चार दिन सुखद चाँदनी रात। और फिर अंधकार अज्ञात॥

यहाँ वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ यह हुआ कि सभी के दिन एक समान नहीं जाते। यह वाच्यार्थ के समान ही चमत्कारपूर्ण है, अतः तुल्य प्राधान्य व्यंग्य है।

काक्वाक्षिप्त व्यंग्य—जहाँ पर काकु (कण्ठगत विशेष ध्वनि) के द्वारा व्यंग्य प्रकट होता है, वहाँ काक्वाक्षिप्त व्यंग्य होता है, जैसे—

हैं दस सीस मनुज रघुनायक।
जिनके हनुमान से पायक ॥

यहाँ पर काकु से यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि राम मनुज नहीं हैं, अतः काक्वाक्षित व्यंग्य है।

इस प्रकार ध्वनि के अन्तर्गत गुणीभूत व्यंग्य का विशेष महत्व है। ध्वनि काव्य के बाद गुणीभूत व्यंग्य तथा अवर या चित्रकाव्य काव्य की श्रेणियाँ आचार्यों ने मानी हैं। अवर-काव्य को अधम काव्य भी कहा जाता है।

अवर काव्य या चित्रकाव्य—इसमें व्यंग्यार्थ नहीं रहता है। अलंकार शब्द योजना आदि का ही सौन्दर्य ऐसी रचना में प्रधान होता है। ध्वनि की दृष्टि से इस काव्य का सबसे कम महत्व माना जाता है। इसकी परिभाषा इस प्रकार है—'जहाँ केवल शब्दार्थ चमत्कार अर्थात् वाच्यार्थ में चमत्कार हो, प्रतीयमान अर्थ (व्यंग्यार्थ) का अभाव ही हो, तब वहाँ चित्र काव्य या अवर काव्य होता है। 'अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है कि आरंभ में काव्य का अभ्यासी कवि भले ही चित्रकाव्य का व्यवहार करें परन्तु परिपक्व अथवा सिद्ध कवियो का उपजीव्य तो ध्वनि काव्य ही होता है। नीचे सांगरूपक और वर्णवृत्ति चमत्कार के दो उदाहरण दिये जा रहे हैं—

१. सांगरूपक— रनित भृंग घंटावली, झरत दान मद नीर
मंद-मंद आवत चल्यो, कुंजर कंज समीर

२. वर्णवृत्ति चमत्कार--- विघन-विदारण विरदवर, वारन वदन विकास।
वर दे बहु बाढ़े बिसद, वाणी वुद्धि विलास ॥

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि ध्वनि सिद्धान्त ने अपने अन्तर्गत रस, अलंकार, वक्रोक्ति रीति आदि समस्त काव्य सिद्धान्तों के मूल तत्वों का समावेश कर लिया था।

षष्टम अध्याय | # वक्रोक्ति

'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग अलंकार और सिद्धान्त दोनों के लिए हुआ है। अलंकार के रूप में इसके दो भेद हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। इस सन्दर्भ में विभिन्न आचार्यों के विविध मत हैं। कुछ ने इसे अलंकार के रूप में माना है और अन्यों ने नहीं माना। रीतिकालीन कवियों ने इस अलंकार का विशेष प्रयोग किया है। जहाँ तक सम्प्रदाय या सिद्धान्त की बात है, वक्रोक्ति का प्रबल समर्थन आचार्य कुन्तक (नवीं सदी) ने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्ति-जीवित में किया है।

वक्रोक्ति का स्वरूप एवं इतिहास

आचार्य कुन्तक ने अपनी मौलिक प्रतिभा से इसे एक महत्वपूर्ण काव्य सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया। भारतीय काव्य सिद्धान्तों में रस का आधार अनुभूति है जबकि अलंकार कवि कल्पना पर आश्रित है। वक्रोक्ति सिद्धान्त का विशेष सम्बन्ध अलंकार सिद्धान्त से है। ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हो जाने पर तथा रीति-सिद्धान्त में बामन द्वारा गुण को काव्य-शोभा के कारण-स्वरूप धर्म के रूप में स्वीकार करने पर अलंकार को गौण पद ग्रहण करना पड़ा, ऐसे अवसर पर वक्रोक्ति की समन्वय शीलता से काव्य में एक नया सिद्धान्त उभर कर आया। कुन्तक के इस सिद्धान्त में कला पक्ष पर विशेष बल दिया गया है परन्तु व्याख्या के अन्तर्गत वस्तु पक्ष और भाव-पक्ष दोनों के समाहार का प्रयत्न है। कुन्तक ने वक्रोक्ति को 'काव्य की आत्मा' के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रयत्न में उन्होंने काव्य के अन्य सभी सिद्धान्तों तथा काव्यांगों (वर्ण चमत्कार, शब्द सौन्दर्य, विषय वस्तु की रमणीयता, अप्रस्तुत विधान, प्रबन्ध कल्पना) को वक्रोक्ति के अन्तर्गत माना है। कुन्तक की धारणा है कि वाक् चातुर्य या उक्ति चमत्कार को ही वक्रोक्ति नहीं कहा जा सकता है, वह कवि व्यापार अथवा कवि कौशल हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति अलंकृति है। यही कथन की भंगिमा है जो उक्ति को शोभा प्रदान करती है। उक्ति में चमत्कार और चारुता का सम्पादन वक्रोक्ति के द्वारा ही होता है अत: वक्रोक्ति काव्य का जीवन है जैसा कि कुन्तक का मत हैं।

वक्रोक्ति के भेद

आचार्य कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति के छः भेद हैं। ये भेद काव्य के लघुतम

अवयव वर्ण से प्रारम्भ होते हैं और महत्तम रूप महाकाव्य तक विकसित होते जाते हैं। इन भेदों के प्रभेद भी हैं इनके आधार पर कुन्तक ने वक्रोक्ति के व्यापक स्वरूप को प्रस्तुत किया है, वे इस प्रकार हैं—

(१) वर्ण-विन्यास-वक्रता, (२) पदपूर्वार्ध-वक्रता, (३) पदपरार्ध-वक्रता (४) वाक्य-वक्रता (५) प्रकरण-वक्रता (६) प्रबन्ध-वक्रता।

१. वर्ण विन्यास वक्रता[1]—जिसमें एक दो या बहुत से वर्ण थोड़े-थोड़े अन्तर से बार-बार ग्रथित होते हैं तो वर्ण विन्यास वक्रता अर्थात् वर्ण रचना सम्बन्धी वक्रता होती है। वक्रोक्ति-जीवन में व्यंजन को वक्र का पर्याय माना गया है यथा—

एको द्वौ बहवो वर्णाः मध्यमानाः पुनः-पुनः।
स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यास वक्रता॥

(वक्रोक्ति-जीवित २, १)

कुन्तक के अनुसार यह वक्रता तीन प्रकार की होती है—यथा—एक वर्ण की आवृत्ति, दो वर्ण की आवृत्ति, तीन और अनेक वर्णों की आवृत्ति आदि। इन तीनों भेदों को और भी विस्तार से वर्णित करते हुए वर्ण विन्यास वक्रता में उप-नागरिका, परुषा और कोमला का अन्तर्भाव कर लिया गया है।

वर्ण-विन्यास कौशल को ध्यान में रखते हुए कुन्तक ने कतिपय आवश्यक तथ्य इस प्रकार माने हैं। इन्हें प्रतिबन्ध के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) वर्ण योजना सदा प्रस्तुत विषय के अनुकूल होना चाहिए।
(२) वर्ण विन्यास वक्रता साग्रह न हो तथा उसमें असुन्दर वर्ण न हो।
(३) उसमें वैचित्र्य होना चाहिए अर्थात् पहले आये हुए वर्णों को छोड़कर। उसे नवीन वर्णों से मनोहर बनाना चाहिए।
(४) यमक आदि की वर्ण योजना के लिए विशेष तथा सामान्य रूप में प्रसाद गुण की योजना होनी चाहिए।
(५) श्रुति पेशलता—इसके अन्तर्गत प्रस्तुत रस आदि के अनुकूल वर्ण-विन्यास में अन्य चाहे कोई भी चमत्कार वर्तमान हो परन्तु इसे श्रुति-सुखद होना चाहिए।

इस प्रकार कुन्तक ने वर्ण-विन्यास वक्रता को काव्य के प्रथम आधार वर्ण के अनुसार चित्रित किया है।

२. पदपूर्वार्द्ध वक्रता—काव्य का दूसरा अवयव 'पद' है। यह अनेक वर्णों का समुच्चय होता है। पद के दो अंग होते हैं—पदपूर्वार्द्ध और पदपरार्ध। इन दोनों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है।

पदपूर्वार्द्ध वक्रता के मुख्य आठ भेद माने गये हैं—(१) रूढ़ि वैचित्र्य-वक्रता, (२) पर्याय-वक्रता, (३) उपचार-वक्रता, (४) विशेषण-वक्रता, (५) संवृति-वक्रता, (६) वृति-वक्रता, (७) लिंग वैचित्र्य-वक्रता, (८) क्रिया वैचित्र्य-वक्रता।

---

1. डॉ० नगेन्द्र : वक्रोक्ति के भेद निबन्ध।

(१) **रूढ़ि वैचित्र्य-वक्रता** में कवि अपनी प्रतिभा के द्वारा शब्द के रूढ़ अर्थ पर किसी ऐसे सुन्दर असंभव अर्थ का आरोप करता है जो विचित्र सौन्दर्य या चमत्कार उत्पन्न करता है। यहाँ पर कोई लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न करने के लिए रूढ़ अर्थ का अन्य किसी अर्थ में संक्रमण कर दिया जाता है। ध्वनिवादियों ने अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि के अन्तर्गत इसे माना है। तुलसीदास ने इसका सुन्दर प्रयोग किया है—

सीताहरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।
जो मैं राम तो कुलसहित कहहि दशानन आइ ॥

राम के रूढ़ अर्थ का चमत्कारपूर्ण विस्तार यहाँ द्रष्टव्य है।

(२) **पर्याय-वक्रता में** समानार्थक शब्द के कशल प्रयोग से उत्पन्न चमत्कार मुख्य होता है। समस्त पर्याय-वक्रता में प्रयोग का कौशल ही प्रमुख है। वक्रोक्ति-जीवित मे पर्याय-वक्रता को वाच्य का मूल, उसके अतिशय का पोषक और सुन्दर शोभान्तर के स्पर्श से उसे सुशोभित करने में समर्थ माना है। इस प्रकार पर्याय शब्द कहीं वाच्य अर्थ के अन्तर्तम रहस्य को प्रकट करता है कहीं वह अतिशय की रंजना करता है, कहीं पर उसमें अलंकार होता है तथा कहीं पर अलंकार की शोभा उसके आश्रित रहती है। पर्याय-वक्रता का बादल कविता में सुन्दर उदाहरण मिलता है—

कृषक बालिका के जलधर। (पंत : बादल)

हाँ जलधर कृषक के साहचर्य से विशेष चमत्कार पूर्ण बन गया है।

(३) **उपचार-वक्रता**—के अंतर्गत सर्वथा भिन्न स्वभाव की वस्तु पर अप्रस्तुत वस्तु के सामान्य धर्म का लेशमात्र संबंध से आरोप किया जाता है वहाँ आरोप होता है। उपचार-वक्रता में अमूर्त पर मूर्त का आरोप अचेतन पर चेतन का आरोप विशेष रूप में होता है। उपचार-वक्रता में मानवीकरण भी आता है। छायावादी काव्य में मानवीकरण का विशेष एवं प्रचुर प्रयोग है।

नीरव संध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम प्रान्त।

अथवा

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से
आ वसन्त रजनी।

(४) **विशेषण-वक्रता** में विशेषण का अर्थ भेदक धर्म से होता है। इसका कहीं पर संबंध कारक से तथा कहीं पर क्रिया से होता है। कुन्तक ने विशेषण वक्रता के अनेक भेद बतलाये हैं परन्तु सभी ने औचित्य पर बल दिया है। विशेषण प्रस्तुत प्रसंग के अनुकूल होना चाहिए तथा उसे रस, वस्तु स्वभाव तथा अलंकार का पोषक होना चाहिए तभी उसकी सार्थकता होती है। विशेषण, क्रिया के सिवाय चित्रमय, भावमय तथा विचारगर्भित भी होता है। विशेषण-वक्रता काव्य का एक उपयोगी

उपकरण है। आधुनिक काव्य में इसके उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। निराला ने 'राम की शक्तिपूजा' में भावमय विशेषण का बहुत ही सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है यथा—

खिच गये सामने सीता के राममय नयन।

उपचार-वक्रता के संयोग से इस प्रकार के विशेषणों का महत्व और भी बढ़ जाता है :

(५) **संवृत्ति-वक्रता**—में वैचित्र्य कथन की इच्छा से किन्हीं सर्वनाम आदि के द्वारा वस्तु का संवरण अर्थात् गोपन किया जाता है। अभिव्यंजना के इस प्रकार विशेष का कुन्तक ने अत्यंत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। गोपन या संवृति सौन्दर्य को सीमित नहीं करती है। अनिर्वचनीय सौन्दर्य को कुशल कवि सर्वनाम के द्वारा संवृत करके व्यक्त कर देता है। कभी-कभी सुकुमार वस्तु अपने कार्य के अतिशय के कथन के बिना ही संवृत्ति से रमणीय हो जाती है। अनुभवगम्य वस्तु संवरण कला से चमत्कारपूर्ण बन जाती है। अन्य की अनुभव संवेद्य वस्तु का वर्णन संवरण क्रिया से सुलभ हो जाता है। इस प्रकार वक्रता गोपन कला के चमत्कार पर आश्रित होती है।

उदाहरण— अनियारे दीरघ नयन, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू, जेहि बस होत सुजान॥

(६) **वृत्ति-वक्रता**—वृत्ति का यहाँ भिन्न अर्थ है। समास, तद्धित, सुब्धातु आदि पर आश्रित चमत्कार वृत्ति-वक्रता के अंतर्गत आता है। कुन्तक ने लिखा है कि जिसमें अव्ययी भाव आदि (समास, तद्धित, कृत् आदि) वृत्तियों का सौन्दर्य प्रकाशित होता है उसको वृत्तिवैचित्र्य-वक्रता समझना चाहिए। समास-वक्रता में चमत्कार पूर्ण समस्त शब्दों का महत्व होता है, कवि नये-नये शब्दों का निर्माण करता है, जैसे पन्त द्वारा प्रयुक्त कुसुम-विहग आदि। समास-वक्रता में समास की पदरचना पर आश्रित सौन्दर्य होता है। 'राम की शक्तिपूजा' में समस्त पदावली से ही युद्ध का वातावरण प्रस्तुत किया गया है।

आज का तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्र कर, वेग-प्रखर,
शतशेलसंवरणशील, नीलनभ-गर्जित-स्वर,
× × ×
विच्छुरितवह्नि-राजीवनयन-हत-लक्ष्य-बाण
लोहितलोचन-रावण-मद-मोचन-महीयान।

(७) **लिंग वैचित्र्य वक्रता**—में सौन्दर्य इसके प्रयोग पर आश्रित रहता है। इसमें विभिन्न लिंगों का समानाधिकरण, स्त्रीलिंग का प्रयोग तथा विशिष्ट लिंग का प्रयोग महत्वपूर्ण होता है। हिन्दी में इस प्रकार के प्रयोग प्रचुरता से मिलते हैं जिनमें शोभा, औचित्य आदि का विशेष ध्यान दिया जाता है। पंत के काव्य में इसके उदाहरण द्रष्टव्य हैं। संस्कृत में तीनों लिंगों का प्रयोग अनेक शब्दों में पाया जाता है परन्तु कवि भावना की पेशलता के अनुसार उनका प्रयोग करता है। जैसे—

सिखा दो ना हे मधुप-कुमारि !
मुझे भी अपने मीठे गान। (पंत : वीणा)

यहाँ मधुप-कुमार उपयुक्त हो सकता था, परन्तु कवि ने भावना औचित्य के लिए स्त्रीलिंग का प्रयोग किया है। हिन्दी भाषा में अचेतन पदार्थों की लिंग संबंधी कल्पना इसी भावना के आधार पर होती है।

(८) **क्रिया वैचित्र्य-वक्रता** में निम्नलिखित बातें आती हैं—

(१) क्रिया कर्ता की अत्यंत अंतरंग होती है।

(२) क्रिया द्वारा किसी कर्त्ता की विचित्रता का प्रतिपादन होता है।

(३) कहीं-कहीं क्रिया के अपने विशेषण के वैचित्य पर ही चमत्कार आश्रित होता है।

(४) उपचार के कारण भी क्रिया में मनोज्ञता उत्पन्न हो जाती है

(५) क्रिया के कर्म आदि के संवरण द्वारा चमत्कार की सृष्टि की जाती है।

इस वक्रता के अंतर्गत क्रिया का ही सिद्ध रूप महत्वपूर्ण होता है, जैसे—

कालाकाँकर का राजभवन, सोया जल में निश्चिन्त प्रमन
पलकों मे वैभव-स्वप्न सघन। (पंत)

३. पद परार्ध-वक्रता—इसके अंतर्गत प्रत्यय रूप अर्थात् पदों के उत्तरार्द्ध पर विचार किया जाता है इसे प्रत्यय वक्रता भी कहते हैं। इसके छह भेद हैं—

(१) **कालवैचित्र्य वक्रता**—इसमें काल का वक्र प्रयोग प्रसंग एवं परिस्थिति के अनुकूल तथा सार्थक होना चाहिए। बिहारी के काव्य में 'काँटे सी कसकति हियें गड़ी कँटीली भौंह।' जैसे प्रयोग इस वक्रता के उदाहरण हैं।

(२) **कारक-वक्रता**—वैचित्य, का आधार यहाँ पर कारक का प्रयोग होता है जैसे निराला की निम्नलिखित पंक्ति में करण कारक के स्थान पर कर्त्ता कारक का प्रयोग मिलता है—'हर धनुर्भंग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त।'

(३) **संख्या वक्रता या वचन वक्रता**–कुन्तक के अनुसार काव्य में वैचित्य उत्पन्न करने के जिए कवि लोग संख्या या वचन का विपर्यास करते हैं वहाँ यह वक्रता होती है जैसे—'ये ऊजड़ ग्राम देश का हृदय चिरंतन।

(४) **पुरुष-वक्रता**—जहाँ पर सौन्दर्य के लिए उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष का विपरीत ढंग से प्रयोग होता है वहाँ पर यह विद्यमान होती है। मैथिलीशरण गुप्त ने साकेत में इसके विपुल प्रयोग किये हैं जैसे—

करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुस्काये
फूल उठे हैं "कमल, अधर-से ये बंधूक सुहाये।

(५) **उपग्रह-वक्रता**– उपग्रह से तात्पर्य धातु पद से है। संस्कृत में धातुओं के दो पद होते हैं—परस्मैपद और आत्मने पद। काव्य की शोभा के लिए औचित्य के निमित्त जब दोनों पदों में से किसी एक का प्रयोग किया जाता है तब उपग्रह-वक्रता होती है—'मैं जभी तौलने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हूँ।' (प्रसाद)

(६) **प्रत्यय वक्रता**—यह उन प्रयोगों में मिलती है जहाँ पर उपर्युक्त प्रत्यय प्रयोगों से भिन्न एक प्रत्यय में दूसरा प्रत्यय लगाकर कवि एक अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न कर देता है, उदाहरण के लिए रहीम की ये दो पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

आगि लागि घर जरिगा, विधि भल कीन्ह ।
पिय के हाथ घइलवा भरि भरि दीन्ह ।। (रहीम)

पद के मुख्य दो भेद उपसर्ग वक्रता और निपात-वकता भी माने जाते हैं जिनमें क्रमश: उपसर्ग का चमत्कारपूर्ण प्रयोग तथा अव्युत्पन्न पद (निपात) का प्रयोग रसोत्सर्ग के लिए नियोजित किया जाता है ।

४. वाक्य-वक्रता और वस्तु-वक्रता—अनेक पद संयोजन को वाक्य कहते हैं वाक्य की वक्रता सामान्यत: पदार्थ या अर्थ की वक्रता होती है । वाक्य अथवा वाच्य अथवा वस्तु की वक्रता सामान्यत: एक ही बात है । इसके दो भेद माने जाते हैं—सहजा और आहार्या । (अ) सहज का अर्थ स्वाभाविक होता है, कवि को ऐसी वस्तुओं का वर्णन करना चाहिए जो अपने सहज रूप में ही उल्लास भर देती हैं जैसे प्रकृति की छटा या नारी अंगों का सौन्दर्य । (ब) आहार्य का अर्थ निपुणता तथा शिक्षाभ्यास द्वारा सम्पादित माना जाता है । इसे सामान्य सत्ता मात्र से प्रतिभासित अर्थ में देखा जा सकता है; जैसे लता से स्वर्णलता आदि । इसमें सामान्य से लोकोत्तर रूप की ओर प्रस्थान होता है ।

समस्त काव्य वस्तु को वक्रोक्ति सिद्धान्त में तीन भेद प्रकारों में रखा गया है—स्वभाव प्रधान, रस प्रधान और नीति प्रधान । जो पदार्थ अपनी स्वाभाविक शोभा के कारण वर्णन योग्य होते हैं वे स्वभाव प्रधान के अन्तर्गत आते हैं । मानव हृदय की वृत्तियों का वर्णन दूसरे वर्ग में किया जाता है तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नीति वर्णन तीसरे वर्ग में होता है । आधुनिक काव्य शास्त्र के अनुसार यही विषय-वस्तु के तीन मूल तत्व माने जाते हैं ।

५. प्रकरण-वक्रता—प्रबन्ध से कुन्तक ने 'प्रबन्धस्यैकदेशानां' के अनुसार कथा के प्रसंग का अर्थ लिया है । समस्त कथा विधान यदि एक प्रबन्ध है तो उसका एक अंग अथवा प्रसंग प्रकरण होता है । इसमें निहित अथवा इस पर आश्रित काव्य चमत्कार का नाम प्रकरण-वक्रता होता है । इसके बिभिन्न भेद इस प्रकार हैं—

(१) भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना जैसे लक्ष्मण को शक्ति लगने के बाद राम का शोक दशा में युद्ध मे प्रलय मचाना ।

(२) उत्पाद्य लावण्य—इतिहास में वर्णित कथा में कल्पना से सौन्दर्य लाना । इसमें दो रूप मिलते हैं—अविद्यमान की कल्पना और विद्यमान का संशोधन ।

(३) प्रधान कार्य से सम्बद्ध प्रकरणों का उपकार्य-उपकारक भाव-प्रत्येक प्रकरण की सार्थकता वास्तव में यह होनी चाहिए कि वह अन्य प्रकरणों से सम्बद्ध हो तथा अन्त में प्रधान कार्य का उपकारक हो ।

सिखा दो ना हे मधुप-कुमारि !
मुझे भी अपने मीठे गान। (पंत : वीणा)

यहाँ मधुप-कुमार उपयुक्त हो सकता था, परन्तु कवि ने भावना औचित्य के लिए स्त्रीलिंग का प्रयोग किया है। हिन्दी भाषा में अचेतन पदार्थों की लिंग संबंधी कल्पना इसी भावना के आधार पर होती है।

(८) **क्रिया वैचित्र्य-वक्रता** में निम्नलिखित बातें आती हैं—

(१) क्रिया कर्ता की अत्यंत अंतरंग होती है।

(२) क्रिया द्वारा किसी कर्त्ता की विचित्रता का प्रतिपादन होता है।

(३) कहीं-कहीं क्रिया के अपने विशेषण के वैचित्र्य पर ही चमत्कार आश्रित होता है।

(४) उपचार के कारण भी क्रिया में मनोज्ञता उत्पन्न हो जाती है

(५) क्रिया के कर्म आदि के संवरण द्वारा चमत्कार की सृष्टि की जाती है।

इस वक्रता के अंतर्गत क्रिया का ही सिद्ध रूप महत्वपूर्ण होता है, जैसे—

कालाकाँकर का राजभवन, सोया जल में निश्चिन्त प्रमन
पलकों मे वैभव-स्वप्न सघन। (पंत)

३. पद परार्ध-वक्रता—इसके अंतर्गत प्रत्यय रूप अर्थात् पदों के उत्तरार्द्ध पर विचार किया जाता है इसे प्रत्यय वक्रता भी कहते हैं। इसके छह भेद हैं—

(१) **कालवैचित्र्य वक्रता**—इसमें काल का वक्र प्रयोग प्रसंग एवं परिस्थिति के अनुकूल तथा सार्थक होना चाहिए। बिहारी के काव्य में 'काँटे सी कसकति हियें गड़ी कँटीली भौंह।' जैसे प्रयोग इस वक्रता के उदाहरण हैं।

(२) **कारक-वक्रता**—वैचित्र्य, का आधार यहाँ पर कारक का प्रयोग होता है जैसे निराला की निम्नलिखित पंक्ति में करण कारक के स्थान पर कर्त्ता कारक का प्रयोग मिलता है—'हर धनुर्भंग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त।'

(३) **संख्या वक्रता या वचन वक्रता**–कुन्तक के अनुसार काव्य में वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिए कवि लोग संख्या या वचन का विपर्यास करते हैं वहाँ यह वक्रता होती है जैसे—'ये ऊजड़ ग्राम देश का हृदय चिरंतन।

(४) **पुरुष-वक्रता**—जहाँ पर सौन्दर्य के लिए उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष का विपरीत ढंग से प्रयोग होता है वहाँ पर यह विद्यमान होती है। मैथिलीशरण गुप्त ने साकेत में इसके विपुल प्रयोग किये हैं जैसे—

करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुस्काये
फूल उठे हैं कमल, अधर-से ये बंधूक सुहाये।

(५) **उपग्रह-वक्रता**— उपग्रह से तात्पर्य धातु पद से है। संस्कृत में धातुओं के दो पद होते हैं—परस्मैपद और आत्मने पद। काव्य की शोभा के लिए औचित्य के निमित्त जब दोनों पदों में से किसी एक का प्रयोग किया जाता है तब उपग्रह-वक्रता होती है—'मैं जभी तौलने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हूँ।' (प्रसाद)

(६) **प्रत्यय वक्रता**—यह उन प्रयोगों में मिलती है जहाँ पर उपर्युक्त प्रत्यय प्रयोगों से भिन्न एक प्रत्यय में दूसरा प्रत्यय लगाकर कवि एक अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न कर देता है, उदाहरण के लिए रहीम की ये दो पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

आगि लागि घर जरिगा, विधि भल कीन्ह ।
पिय के हाथ घइलवा भरि भरि दीन्ह ।। (रहीम)

पद के मुख्य दो भेद उपसर्ग वक्रता और निपात-वक्रता भी माने जाते हैं जिनमें क्रमशः उपसर्ग का चमत्कारपूर्ण प्रयोग तथा अव्युत्पन्न पद (निपात) का प्रयोग रसोत्सर्ग के लिए नियोजित किया जाता है ।

४. **वाक्य-वक्रता और वस्तु-वक्रता**—अनेक पद संयोजन को वाक्य कहते हैं वाक्य की वक्रता सामान्यतः पदार्थ या अर्थ की वक्रता होती है । वाक्य अथवा वाच्य अथवा वस्तु की वक्रता सामान्यतः एक ही बात है । इसके दो भेद माने जाते हैं—सहजा और आहार्या । (अ) सहज का अर्थ स्वाभाविक होता है, कवि को ऐसी वस्तुओं का वर्णन करना चाहिए जो अपने सहज रूप में ही उल्लास भर देती हैं जैसे प्रकृति की छटा या नारी अंगों का सौन्दर्य । (ब) आहार्य का अर्थ निपुणता तथा शिक्षाभ्यास द्वारा सम्पादित माना जाता है । इसे सामान्य सत्ता मात्र से प्रतिभासित अर्थ में देखा जा सकता है; जैसे लता से स्वर्णलता आदि । इसमें सामान्य से लोकोत्तर रूप की ओर प्रस्थान होता है ।

समस्त काव्य वस्तु को वक्रोक्ति सिद्धान्त में तीन भेद प्रकारों में रखा गया है—स्वभाव प्रधान, रस प्रधान और नीति प्रधान । जो पदार्थ अपनी स्वाभाविक शोभा के कारण वर्णन योग्य होते हैं वे स्वभाव प्रधान के अन्तर्गत आते हैं । मानव हृदय की वृत्तियों का वर्णन दूसरे वर्ग में किया जाता है तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नीति वर्णन तीसरे वर्ग में होता है । आधुनिक काव्य शास्त्र के अनुसार यही विषय-वस्तु के तीन मूल तत्व माने जाते हैं ।

५. **प्रकरण-वक्रता**—प्रबन्ध से कुन्तक ने 'प्रबन्धस्यैकदेशानां' के अनुसार कथा के प्रसंग का अर्थ लिया है । समस्त कथा विधान यदि एक प्रबन्ध है तो उसका एक अंग अथवा प्रसंग प्रकरण होता है । इसमें निहित अथवा इस पर आश्रित काव्य चमत्कार का नाम प्रकरण-वक्रता होता है । इसके बिभिन्न भेद इस प्रकार हैं—

(१) भावपूर्ण स्थिति की उद्‌भावना जैसे लक्ष्मण को शक्ति लगने के बाद राम का शोक दशा में युद्ध मे प्रलय मचाना ।

(२) उत्पाद्य लावण्य—इतिहास में वर्णित कथा में कल्पना से सौन्दर्य लाना । इसमें दो रूप मिलते हैं—अविद्यमान की कल्पना और विद्यमान का संशोधन ।

(३) प्रधान कार्य से सम्बद्ध प्रकरणों का उपकार्य-उपकारक भाव-प्रत्येक प्रकरण की सार्थकता वास्तव में यह होनी चाहिए कि वह अन्य प्रकरणों से सम्बद्ध हो तथा अन्त में प्रधान कार्य का उपकारक हो ।

(४) विशिष्ट प्रकरण की अतिरंजना-कामायनी में वर्णित लज्जा प्रसंग।

(५) जल क्रीड़ा उत्सव आदि रोचक प्रसंगों का विशेष विस्तार से वर्णन।

(५) प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए सुन्दर अप्रधान प्रसंग की उद्भावना—जासूसी उपन्यासों में इसकी प्रचुरता होती है।

(७) गर्भांक एक नाटक के भीतर दूसरा नाटक प्रसंगवश प्रयुक्त किया जाये।

(८) प्रकरणों का पूर्वा पर अन्विति-क्रम-मुख, प्रतिमुख आदि सन्धियों के संविधान से मनोहर उत्तरवर्ती अंगों का समावेश इसमें आवश्यक होता हैं।

हिन्दी के सभी प्रबन्ध काव्यों में इस प्रकरण वक्रता का सौन्दर्य द्रष्टव्य है।

६. प्रबन्ध-वक्रता[1]—इसके अन्तर्गत समग्र प्रबन्धकाव्य, महाकाव्य, नाटक आदि का वस्तु कौशल आता है। प्रबन्ध वक्रता को विद्वानों ने प्रबन्ध कल्पना के समग्र सौन्दर्य का पयार्य माना है। कुन्तक के अनुसार इसके छह भेद हैं।

(१) मूल रस परिवर्तन—इसमें कवि किसी प्रसिद्ध कथा के मूल रस में परिवर्तन करने के लिए कथा विधान को ही आमूल परिवर्तित कर देता है। ऐसा करने से एक नवीन प्रबन्ध कल्पना का उदय होता है। संस्कृत में इस परम्परा का निर्वाह विशेष है पर हिन्दी में रामचरित मानस, साकेत आदि ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

(२) नायक के चरित्र का उत्कर्ष करने वाली चरम घटना पर कथा का उपसंहार—इसमें इतिवृत्त की नीरसता का परिहार किया जाता है। कवि नायक को समर्थन देने वाली इतिहास प्रसिद्ध कथा पर ही प्रकरण को समाप्त कर देता है। ऐसा हिन्दी के काव्य साहित्य में कम, नाटक साहित्य में अधिक द्रष्टव्य है। प्रसाद का चन्द्रगुप्त नाटक इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

(३) कथा के मध्य में ही किसी अन्य कार्य द्वारा प्रधान कार्य की सिद्धि—जहाँ कवि किसी अन्य घटना को उत्कर्ष देने के निमित्त कथा के स्वाभाविक विकास को रोक कर काव्यकौशल से अपने प्रधान कार्य की सिद्धि कर देता है। माघ का शिशुपाल वध इसका उदाहरण है।

(४) नायक द्वारा अनेक फलों की प्राप्ति—नायक एक कार्य की सिद्धि में तत्पर होते हैं किन्तु उन्हें अनेक फल मिल जाते हैं। इसके सर्वोत्तम उदाहरण चित्रांगद (अनूदित) और हिडिम्बा हैं।

(५) प्रधान कथा का द्योतक नाम—कामायनी, साकेत आदि नामों में यह स्पष्ट है।

(६) एक ही मूल कथा पर आश्रित प्रबन्धों का वैचित्र्य-वैविध्य—प्रबन्ध कथा एक ही रहती है परन्तु प्रतिभाशाली कवि अपनी प्रतिभा के चमत्कार से एक दूसरे से भिन्न प्रबन्ध की सृष्टि करते हैं। रामायण, रामचरित मानस और साकेत इसके उत्तम उदाहरण हैं। इनमें रामकथा एक ही है परन्तु प्रतिभा की विलक्षणता पृथक्-पृथक् है।

---

१. डॉ० नगेन्द्र, वक्रोति के भेद पृ० १८९।

प्रबन्धवक्रता के माध्यम से कुन्तक ने प्रवन्ध को काव्य का श्रेष्ठ रूप वताया है। उसका सौन्दर्य इतिवृत्त पर आश्रित न होकर कवि की संयोजक कल्पना या प्रसंग विधान-कौशल पर निर्भर करता है। कुन्तक ने प्रवन्ध विधान के कई प्रकार माने हैं। प्रकरण नियोजन ही उसका मूलाधार है। इस प्रकार भारतीय काव्य शास्त्र में सर्वप्रथम प्रवन्ध कौशल का सांगोपांग विवेचन हुआ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वक्रोक्ति सिद्धान्त में काव्य के अन्तर्गत आने वाला समस्त चमत्कार निरूपित होता है। वर्ण सम्बन्धी सूक्ष्म एवं वाह्य सौन्दर्य से लेकर प्रकरण और प्रबन्ध वक्रता तक का विवेचन इसके परिक्षेत्र में आता है।

———

सप्तम अध्याय

औचित्य विवेचन

परिभाषा एवं स्वरूप—काव्य की समस्त प्रक्रिया में विभिन्न तत्वों (भाव, रस, अलंकार, रीति आदि) में उचित सामरस्य 'औचित्य' कहलाता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने इसे इस प्रकार माना है—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते ॥

अर्थात् उचित का भाव ही औचित्य है। जैसे किसी सुन्दरी को औचित्य के साथ आभूषण धारण कराये जाते हैं तो उसकी शोभा और बढ़ जाती है। उसी प्रकार काव्य में उचित अलंकार योजना एवं अन्य तत्वों के समायोजन से वह अत्यधिक शोभा कारक होता है। श्रेष्ठ काव्य में इसी की अपेक्षा की जाती है। औचित्य से हटने पर गुण भी अवगुण हो जाते हैं :—

उचित स्थान–विन्यासाद लंकृतिः।
औचित्याद च्युता नित्यं भवन्स्येव गुणागुणाः ॥

इस प्रकार औचित्य वह दृष्टि है जिससे वस्तुओं का सौन्दर्य निखरता है। इसे ऐसी विवेक बुद्धि कहा जा सकता है जिससे कला-अकला, असत्-सत, भले-बुरे आदि में परख लाती है।

इतिहास एवं सिद्धान्त—भारतीय काव्यशास्त्र में 'औचित्य' को एक काव्य-सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठा देने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को है। वैसे इनके पूर्व भी आचार्य भरत, आनन्द वर्धन, अभिनव गुप्त आदि ने औचित्य के महत्व का प्रतिपादन किया है। अन्तर केवल इतना है कि भरत ने औचित्य का नाम न लेते हुए नाट्य अङ्गों की औचित्य पूर्ण अनुरूपता पर बल दिया है। अलंकार सिद्धान्त के उद्भावक आचार्य भामह ने भी दोष दर्शन में प्रकारान्तर से उसके महत्व को स्वीकार किया है। दोषों का कारण अनौचित्य होता है, उनके परिहार से औचित्य उत्पन्न होता है। भामह ने औचित्य के स्थान पर "सन्निवेश विशेष" शब्द का प्रयोग किया है। दण्डी का दोष परिहार भी औचित्य पर आधारित है। वे गुण शब्द का अर्थ औचित्य बताते हैं— अत्रत्यंगुणपदम् औचित्य परम्। औचित्य का प्रस्तुत संदर्भ में उचित प्रयोग कन्नौज के महीपाल यशोवर्मन ने किया है। वे भरत के समान नाट्य विधान में औचित्य की अनिवार्यता पर प्रकाश डालते हैं और वचनौचित्य, पात्रानुकूल रस, अतिक्रम शून्य कथामार्ग की चर्चा करते हैं।

आलंकारिकों में रुद्रट प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में औचित्य का प्रयोग किया है। सिद्धान्त रूप में औचित्य इसी ग्रन्थ से आया है। दण्डी ने केवल दोषौचित्य पर विचार किया है परन्तु रुद्रट रसौचित्य, अलंकारौचित्य, वृत्ति औचित्य आदि विभिन्न काव्यांगों पर भी विचार करते हैं। क्षेमेन्द्र के पहले औचित्य की व्यापक मीमांसा आनन्दवर्धन ने ही की है। ९वीं-१०वीं शताब्दी में औचित्य की प्रतिष्ठा इतनी बढ़ गई कि विद्वान रस-ध्वनि को विस्मृत कर औचित्य को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार करने लगे। इस समय अभिनव गुप्त ने 'औचित्य' के वास्तविक आशय को स्पष्ट किया और रस, भाव, अलंकार, शैली आदि के साथ औचित्य की सत्ता बताई। उन्होंने औचित्य की स्वतन्त्र सत्ता मानने से इन्कार किया। रस, ध्वनि और औचित्य को काव्य के नित्य तत्व बताकर अभिनवगुप्त ने काव्य की आतमा 'रस' की प्रतिष्ठा औचित्य के साथ की।

कुन्तक यद्यपि वक्रोक्ति के समर्थक हैं परन्तु विभिन्न वक्रताओं के बीच औचित्य का विधान करने से वे चूके नहीं हैं जैसे प्रबंधौचित्य, प्रकरणौचित्य, पदौचित्य, प्रत्ययौचित्य, लिंगौचित्य, स्वभावौचित्य आदि। वक्रोक्ति जीवित में कुन्तक ने स्वयं पद वक्रता को औचित्य कह कर स्वीकार, किया है, यथा—तत्र पदस्य तावत् औचित्यं बहुविध भेद भिन्नो वक्रभावः। रसवादी आचार्य महिमभट्ट ने रसात्मक काव्य में अनौचित्य का संस्पर्श सम्भव नहीं माना है। वे सभी प्रकार के दोषों का कारण अनौचित्य ही मानते हैं। उनके अनुसार अनौचित्य अर्थ विषयक और शब्द विषयक दो प्रकार के होते हैं। अर्थ विषयक अनौचित्य का सम्बन्ध रसभाव से है, शब्द विषयक अनौचित्य उनकी दृष्टि में गौण है। इस प्रकार 'औचित्य' के सदर्भ में विद्वानों ने प्रकारान्तर से अथवा सीधे ही विभिन्न प्रसंगों में विचार किया है। औचित्य सम्बन्धी धारणा उत्तरोत्तर व्यापक होती गई है।

क्षेमेन्द्र का औचित्य-सिद्धान्त

औचित्य की धारणा के इतिहास से स्पष्ट है कि क्षेमेन्द्र के पूर्व नाट्य अंगों के संदर्भ में इस पर पर्याप्त विचार हो चुका था, परन्तु उसके व्यवस्थापन का अभाव था। आनन्दवर्धन ने उसे व्यापक बनाया था, क्षेमेन्द्र ने उनसे ही प्रेरणा ग्रहण की और उसे स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया। क्षेमेन्द्र ने सारे प्रकरण को विभिन्न प्रश्नों के साथ देखा और मूल प्रश्न का पता लगाया। "काव्य में कमनीयता का रहस्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में ही औचित्य का महत्व ज्ञापित होता है। वास्तव में कवि कर्म अनौचित्य के परिहार करके समाप्त नहीं हो जाता है। वह औचित्य के प्रतिष्ठापन में प्रारम्भ होता है। इसलिए औचित्य विधायक है, नकारात्मक नहीं।

क्षेमेन्द्र का सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ "औचित्य विचार-चर्चा है"। इसमें अपने गुरु अभिनवगुप्त एवं आनन्द वर्धन द्वारा औचित्य तत्व विवेचन को ध्यान में रखकर क्षेमेन्द्र ने उसके व्यापक साम्राज्य का उद्घाटन किया है। उन्होने काव्य के प्रत्येक

अंग, उपांग, शब्द, पद, वर्ण, रीति, वृत्ति, गुण, लिंग, वचन, कारक, वाक्य, रस, भाव, अलंकार, प्रबन्ध, प्रसंग, व्यवहार, विचार, विषय आदि सब में औचित्य की स्थिति को महत्वपूर्ण बनाया है।

क्षेमेन्द्र ने रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है इसके उपरान्त ही औचित्य को रस का जीवित अथवा रससिद्ध काव्य का जीवित कहा है। इस सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र का यह कथन द्रष्टव्य है :—

औचित्यस्य चमत्कार कारिणश्चारु चर्वणे।
रस जीवित भूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥—औचित्य विचार चर्चा ॥

यहाँ पर क्षेमेन्द्र ने औचित्य को रसानुभूति में चमत्कार उत्पन्न करने वाला रस का जीवन बताया है। आगे उन्होंने कहा है कि यदि काव्य में ढूढ़ने पर भी औचित्य न दिखाई दे तो उसके अलंकारों से कोई लाभ नहीं हैं। गुणों की मिथ्या गणना भी ठीक नहीं है। अलंकार सौन्दर्य प्रसाधन के लिए होते हैं, और गुण-गुण ही है इसलिए रससिद्ध काव्य का स्थायी जीवन तो औचित्य ही है। इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य सिद्धि का अविनश्वर तत्व माना है। अपने समर्थन में उन्होंने लिखा है कि काव्य शृंगारादि रसों से उसी प्रकार सिद्ध-प्रसिद्ध या पुष्ट होता है जिस प्रकार पारद रसों के सेवन से व्यक्ति। व्यक्ति के लिए सेवनीय रसों की मात्रा में औचित्य का ध्यान रखा जाता है, उसी प्रकार शृंगार आदि रसों में भी जीवन स्थिरता के लिए औचित्य आवश्यक है। कुल मिलाकर रस और औचित्य दोनों का अटूट सम्बन्ध है।

क्षेमेन्द्र का औचित्य-भेद-विवेचन

क्षेमेन्द्र के समक्ष कोई व्यवस्थित वर्गीकरण नहीं था इसलिए उन्होंने विभिन्न काव्यांगों में औचित्य की स्थितियों की चर्चा की है। प्रस्तुत श्लोक में औचित्य के २७ प्रकारों का निर्देश किया गया है—

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलंकरणे रसे।
क्रियायां कारके लिंग वचने च विशेषणे ॥
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते।
तत्वे सत्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे ॥
प्रतिभायाम् अवस्थायां विचारे नाम्नि अथाऽशिषि।
काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुर् औचित्यं व्यापि जीवितम् ॥

क्षेमेन्द्र ने औचित्य के उपर्युक्त भेदों तक स्वयं को सीमित नहीं रखा हैं। अपनी रचना के अन्त में उन्होंने यह कहा है कि अन्य अनन्त काव्यांगों में भी इसी प्रकार औचित्य का विचार करना चाहिए। इन सभी औचित्य भेदों को निम्नलिखित वर्गों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—

(१) भाषा शैलीगत औचित्य—इसके अन्तर्गत ये १७ औचित्य सम्मिलित किये जा सकते हैं जो व्याकरण में शास्त्र पर आधारित हैं—क्रियौचित्य, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल आदि का औचित्य, पदौचित्य, वाक्यौचित्य, वृत्त (छन्द) औचित्य, गुणौचित्य, अलंकारौचित्य, स्वभावौचित्य, नामौचित्य (शब्दौचित्य), आशीषवचनौचित्य (अर्थौचित्य)।

(२) रचनाविधानौचित्य—इसके अन्तर्गत प्रबन्धौचित्य आता है।

(३) विषयौचित्य—इसके ३ भेद हैं— (१) रसौचित्य, (२) विचारौचित्य—इसके अन्तर्गत तत्वौचित्य, विचारौचित्य सारसंग्रहौचित्य आते हैं। (३) व्यवहारौचित्य-विषयौचित्य का ही एक भेद व्यवहारौचित्य है। विचारौचित्य में जीवन-तथ्यों का उचित प्रकाशन होता है तो व्यवहारौचित्य में, जीवना-दर्शों या तथ्यों पर आधारित, पात्रों या रीतियों का उचित व्यवहार आता है। क्षेमेन्द्र के देशौचित्य, कुलौचित्य, व्रतौचित्य, सत्वौचित्य, अवस्थौचित्य-ये ५ भेद व्यवहारौचित्य के भिन्न-भिन्न रूप हैं।

(४) कल्पनौचित्य-इसमें क्षेमेन्द्र द्वारा निर्दिष्ट प्रतिभौचित्य आता है। क्षेमेन्द्र ने कतिपय ऐसे औचित्यों का भी विवरण दिया हैं जो वास्तव में प्रथक् सत्ता नहीं रखते हैं और उन्हें किसी एक के अन्तर्गत रखा जा सकता है जैसे वृत्तौचित्य, अवस्थौचित्य, वास्तव में व्यवहारौचित्य ही हैं।

औचित्य का महत्व और व्याप्ति

औचित्य हमारे क्रियाकलाप एवं दैनिक जीवन का अविभाज्य अंग है जिसके विना कोई लोक व्यवहार नही सधता है। औचित्य के अभाव में जीवन का विकास रुक सकता है और कलात्मकता का ह्रास संभव है। इसकी शून्यता में सौन्दर्य बोध से ही मानव वंचित हो सकता है। चूँकि औचित्य बुद्धि मानव की सहज प्रवृत्ति है इसलिए यह उसके स्वभाव का नैसर्गिक लक्षण हैं। संसार में सौन्दर्य की कल्पना औचित्य पर आश्रित होती है। काव्य में भी सभी अंगों एवं तत्वों में औचित्य आवश्यक है। आलोचक भी वही सफल होता है जिसके पास औचित्य विवेक होता है। जो यह नहीं जान पाता कि क्या उचित है और क्या अनुचित है वह न तो कलाकार या कवि बन सकता है और न ही कला पारखी या साहित्यालोचक। इस प्रकार औचित्य का काव्य और जीवन दोनों में विशेष महत्व है।

औचित्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। वह सभी काव्य-रूपों, काव्यांगों, काव्यात्मा, कवि मानस तथा समालोचक की दृष्टि में परिव्याप्त होता है। काव्यांगों में औचित्य को विषय पक्ष और शैली पक्ष की दृष्टि से इस प्रकार समझा जा सकता है।

(१) **विषय पक्ष**—इसके अन्तर्गत रसौचित्य, विचारौचित्य और व्यवहारौचित्य आते हैं—

(क) रसौचित्य—काव्य की सम्पूर्ण सिद्धि रससिद्धि है इसलिए काव्य के सभी तत्व और समस्त विधान रस पूर्ण और रसानुकूल होना चाहिए। उदात्त रसानुभूति की

सिद्धि के लिए हमने स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव आदि रस सामग्री को वांछनीय रूप में ग्रहण करने का दृष्टिकोण रस सिद्धान्त में प्रस्तुत किया है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि रसौचित्य की सिद्धि विभावादि के औचित्य से सिद्ध होती है।

(ख) **विचारौचित्य**— रसौचित्य के साथ विचारौचित्य जुड़ा हुआ है। विचार प्रतिपादन रस भाव रूप में होना चाहिए। यदि विचारों में जीवन की गहराई है, प्रगतिशीलता है, युगानुरूपता है तो वे समाज और जीवन को गति और प्रेरणा प्रदान करते हैं। सम्पूर्ण रूढ़ परम्परागत विचारों के प्रतिपादन से काव्य में अनौचित्य उत्पन्न होता है।

(ग) **व्यवहारौचित्य**— काव्य की विषय सामग्री में कोई वर्णन, प्रसंग या व्यवहार ऐसा नहीं होना चाहिए जो अनुचित, असंभाव्य या लोक व्यवहार के विपरीत प्रतीत होता हो। औचित्यपूर्ण पात्रों का चित्रण, देशकाल आदि का निर्वाह पात्रों के आचरण, व्यवसाय आदि सब बातें व्यवहारौचित्य के ही विषय हैं। काव्य मे अतिशय अलौकिकता आदि का समावेश यदि बुद्धिवादी पाठक को ग्राह्य नहीं है तो अनौचित्य उत्पन्न करता है।

(२) भाषा शैलीगत औचित्य

(क) **भाषागत औचित्य**—कवि को प्रत्येक पद और वाक्य की अनुरूपता का ध्यान रखना चाहिए। भावाभिव्यक्ति में समर्थ उचित शब्दों का प्रयोग करने में उसे कोई संकोच नहीं होना चाहिए। आनन्दवर्धन ने लिखा है कि यदि सुप्, तिङ्, वचन, कारक आदि रस-अभिव्यंजक हों तो औचित्य रहता है। इसी के आधार पर क्षेमेन्द्र ने क्रिया, कारक, वचन, लिंग, समास आदि के औचित्य की कल्पना की है। भाषा संबंधी औचित्य उसकी सरलता, सुबोधता, प्रवाहात्मकता, स्वाभाविकता, प्रभावशीलता, प्रसंगानुरूपता, भावानुरूपता आदि गुणों से सिद्ध होता है।

(ख) **संघटनौचित्य या पद रचना औचित्य**— इसमें पदरचना रीति या शैली ही प्रमुख है। रीति की गुणाश्रित एवं रसों का अभिव्यंजन करने वाली होने में औचित्य आता है। रसोचित्य के साथ रीति पात्रानुरूप होनी चाहिए तथा विषयानुरूप होने से वह प्रभावशाली होती है। जहाँ तक काव्य रूप की बात है, काव्य भेदों के अनुसार ही रीति प्रयुक्त करनी चाहिए। कुन्तक ने रीति पर विचार करते हुए औचित्य को उसका आवश्यक साधारण गुण माना है।

(ग) **अलंकारौचित्य** — अलंकार रस के सहायक होते हैं। यदि अलंकार का रस के साथ सामरस्य नहीं होता है तो वह कभी भी शोभा नहीं प्राप्त करता। अलंकारौचित्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य अभिनव गुप्त ने काव्य में अलंकार की उपयोगिता पर विशेष विचार किया है। जैसे व्यर्थ आभूषणों से वनिता का सौन्दर्य विकृत होने लगता है उसी प्रकार अनावश्यक अलंकार भरती भी औचित्य के विपरीत मानी जाती है।

(घ) **वर्ण-वृत्ति-औचित्य**—वर्णों का अपना विशिष्ट प्रभाव होता है औ वर्ण योजना से श्रुति पेशलता आती है। वृत्यौचित्य से रस पोषण में सहायत होता है इसलिए इसका भी ध्यान रखा जाना चाहिए।

(ङ) **वृत्तौचित्य (छन्दौचित्य)**—भाषा शैलीगत औचित्य के साथ काव्य विषय और रसानुसार छन्दों की योजना वांछनीय है।

रचनाशिल्पगत औचित्य

कथा या घटनौचित्य-प्रबन्धौचित्य—नाटक में औचित्यपूर्ण कथा संगठन होना चाहिए जिससे कि जीवन की सरस घटनाओं और प्रसंगों का प्रतिनिधित्व हो। काव्य और नाटक में अनावश्यक विस्तार कथा में वांछनीय नहीं है। कथा में रसमयता का गुण आवश्यक माना गया है। ऐतिहासिक वृत्तों में यह अत्यन्त आवश्यक है। यदि प्रबन्ध में औचित्य का भंग हो जाय तो अनेक दोष आ सकते हैं जैसे काव्यांग का अत्यन्त विस्तृत होना, अंगीकथा या प्रधान व्यक्ति का विस्मृत हो जाना, प्रकृति विपरीत क्रिया कलाप आदि का होना प्रबन्धौचित्य के अन्तर्गत कथा संगठन के अतिरिक्त चरित्र-चित्रण संवाद, देशकाल, वातावरण आदि का औचित्य महत्वपूर्ण है।

दोषौचित्य—भोज के अनुसार दोषौचित्य को दोषपूर्ण कहा गया है। काव्य आदि में दोषों पर विचार करके उनके परिहार की व्यवस्था की जानी चाहिए।

अनौचित्य दोष—दण्डी, भामह, भोज इत्यादि अनेक आचार्यों ने औचित्य का सीधा विवेचन न करके दोष दर्शन के रूप में उसका प्रतिपादन किया है। भोज वक्ता के अनुरूप पद का प्रयोग न होने पर दोष मानते हैं। विरुद्ध नामक दोष के अन्तर्गत देश विरोध, काल विरोध, लोक विरोध, अनुमान विरोध आदि कई प्रकार के शब्द अनौचित्य माने गये हैं।

———

अष्टम अध्याय | # रस विवेचन

रस

काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर माना गया है। ब्रह्मानन्द जहाँ पर शाश्वत, नित्य और स्थायी है, काव्यानन्द क्षणस्थायी और अनित्य है। यह अन्तर होते हुए भी दोनों की प्रवृत्ति एक सी है। निर्विकल्प समाधि में परात्पर ब्रह्म का ध्यान करके योगी परमानन्द का अनुभव करता है, ऐसे ही काव्यानन्द पाने वाला व्यक्ति स्वयं को पूर्ण संसार से विरत करते हुए रस का आस्वाद करता है। भारतीय आचार्यों ने इसी काव्यानन्द को रस के रूप में स्वीकार किया है।

रस शब्द का प्रयोग वेदों में तीन अर्थों में हुआ है। निघण्टुकार इसे वाक्, उदक और अन्न के रूप में मानता है। उपनिषदों में आनन्द स्वरूप ब्रह्म को रस कहा गया है। रस का सर्वप्रथम विवेचन भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में किया है। ऐसी मान्यता है कि नाट्य वेद के निर्माण क्रम में ब्रह्मा ने रसों को अथर्ववेद से ग्रहण किया था—

"पाठ्यं जग्राह ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।"

यह बात अलग है कि अथर्ववेद की वर्तमान समय में उपलब्ध शाखाओं में रसों का वर्णन कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है। नाटकीय रस की गरिमा बताते हुए अभिनय दर्पण के कर्त्ता नन्दिकेश्वर का कथन है—

'अपि ब्रह्मपरानन्दादिदमभ्यधिकं मतम्।"

अर्थात "इस नाट्यरस से प्राप्त होने वाला आनन्द ब्रह्मानन्द से भी श्रेष्ठतर होता है।" रस की धारणा बड़ी प्राचीन है और रस की महिमा बड़ी व्यापक। रस की आवश्यकता और महत्ता के सम्बन्ध में चाहे हम जागरूक न हों, पर जीवन की गति यह प्रकट करती है कि रस जीवन का सार है और जीवन रस के लिए है। जितने भी क्रिया-कलाप हैं उनकी प्रेरणा और लक्ष्य, उनका प्रारम्भ और अन्त रस में ही है, चाहे उसके मध्य में हम बहक भले ही जायँ और हमें, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास ने कहा कि "डासत ही गई बीति निसा सब, कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो" अपने लक्ष्य पूर्ति के साधन जुटाने ही में हम समस्त जीवन नष्ट करते हैं और लक्ष्य का आनन्द प्राप्त नहीं कर पाते। साधनावस्था भी रस की अवस्था है इसमें सन्देह नहीं, यदि हम उसको इस रस-रूप में परिणत कर सकें। परन्तु इसमें अनेक मत नहीं हैं कि रस

जीवन में आवश्यक है। भरत मुनि ने तो यहाँ तक कहा है कि 'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।' वास्तव में यह तथ्य है कि जीवन को जीवन बनाने के लिए रस अनिवार्य है। इसको छोड़कर जीवन का कोई उद्देश्य नहीं चलता है।

रसों की संख्या

प्रारम्भ में रसों की संख्या नौ ही मानी गयी थी। भरत ने तो नाटक में आठ ही रस माने हैं, पर काव्य में नौ रस माने गये। आगे चलकर दस रस हुए और फिर ग्यारह। आचार्य मम्मट ने जिन्हें "रतिर्देवादिविषये" सूत्र में भाव कहकर टाल दिया था वे हिन्दी साहित्य की भक्ति-काव्यधारा के प्रवाह से सरसित होकर वात्सल्य और भक्ति रस के रूप में प्रतिष्ठित हुए। यों वात्सल्य और भक्ति रस के रूप साहित्य-दर्पणकार को भी मान्य हैं, पर मध्ययुग में जो अजस्र गम्भीरधारा ब्रजभूमि में प्रकट हुई उसे भक्ति रस की कालिन्दी के रूप में स्वीकार करना पड़ा और इस प्रकार शृंगार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, भयानक, वीभत्स, रौद्र और शान्त के साथ वात्सल्य और भक्ति रस की एकादशी प्रतिष्ठित हो गयी। फिर भी प्रमुखतया शास्त्रीय विधि से मान्य पूर्वोक्त नव रस ही हैं। इन नव रसों के सोदाहरण विश्लेषण के साथ हम वात्सल्य और भक्ति रस का भी विवेचन करेंगे।

रस तत्व

रस की परिभाषा करते हुए भरतमुनि ने उसके निम्न तत्त्व माने हैं—

"विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्ति :।"

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव का संयोग होने पर रस की निष्पत्ति होती है। इस परिभाषा में भाव, विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव को रस के तत्त्व के रूप में माना गया है अतः इनको विस्तार से समझना आवश्यक है।

भाव—जो नाटक के अर्थ को वाचिक, आंगिक और सात्त्विक (अनुभावों) के प्रदर्शन द्वारा विभावित करते हैं उन्हें भाव कहा जाता है। मूल भाव को ही स्थायी भाव कहा जाता है, इनकी संख्या आचार्य विश्वनाथ ने दस मानी है। वैसे मूल रूप में इन्हें नौ ही माना गया है—

"रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ता शमोऽपि च।"

अर्थात् रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय एवं शाम—ये नौ स्थायी भाव हैं। बाद में 'वत्सलता' को भी दसवें स्थायी भाव के रूप में उन्होंने मान्यता दी है। इनमें से प्रत्येक की परिभाषा नीचे दी जाती है।

रति—प्रियवस्तु में अथवा मनोनुकूल अर्थ में मन के प्रेम पूर्ण उन्मुखी भाव को कहते हैं।

हास—वाणी आदि के विकारों को देखकर चित्त का विकसित या प्रफुल्लित होना ही हास है।

शोक—इष्ट नाश आदि के कारण चित्त की व्याकुलता शोक कही जाती है।

क्रोध—विपरीत कार्य या शत्रु के विषय में तीव्रता के उन्मेष को क्रोध कहते हैं।

उत्साह—किसी कठिन कार्य में उत्कट आवेश ही उत्साह है।

भय—भयंकर व्यक्ति या वस्तु की शक्ति से उत्पन्न चित्त की व्याकुलता को प्रस्तुत करने वाला भाव भय कहलाता है।

जुगुप्सा—वस्तु या व्यक्ति को देखकर या स्मरण कर जहाँ घृणा की वृत्ति जागृत होती है वहाँ जुगुप्सा का भाव उत्पन्न होता है।

विस्मय—लोक सीमा से परे अलौकिक रूप, सामर्थ्य वाली वस्तु या व्यक्ति के दर्शन से उत्पन्न चित्त का विस्तार विस्मय कहलाता है।

शम—निःस्पृहता की अवस्था में आत्मा या अन्तःकरण के विश्राम से उत्पन्न सुख का नाम शम है।

वत्सलता—स्नेह-शिशु अथवा बालक की मनहर चेष्टाओं से उत्पन्न होने वाले सहज अनुराग भाव का नाम वत्सलता-स्नेह है।

विभाव—स्थायी भावों के उद्बोधक तत्त्वों को काव्य एवं नाटक के अन्तर्गत विभाव की संज्ञा दी जाती है। साहित्यदर्पणकार ने लिखा है—

"रत्याद्युद्बोधकाः लोके विभावाः काव्यनाट्ययो।"

स्थायी भावों के उद्बोधक व्यक्ति या दृश्य विभाव हैं।

विभाव के दो भेद हैं—आलम्बन एवं उद्दीपन। आलम्बन के अन्तर्गत वे नायक एवं नायिका आदि आते हैं जिनका आलम्बन करके रस का उद्रेक होता है। आलम्बन विभाव में आलम्बन और आश्रय दो भेद किये गये हैं। जिसका अवलम्बन कर रस का उद्रेक होता है उसे आलम्बन तथा जिसमें रस का उद्रेक होता है उसे आश्रय कहते हैं। उदाहरण के लिए दुष्यन्त के व्यापारों को देखकर शकुन्तला के मन में रति नामक स्थायी भाव का उद्रेक होता है, इसमें दुष्यन्त आलम्बन तथा शकुन्तला आश्रय हैं।

उद्दीपन विभाव वे वस्तुएँ हैं जिनके देखने से जगा हुआ स्थायी भाव अधिक प्रबल होता हैं जैसे रति को जागृत करने में ये वस्तुएँ अधिक सहायक होती हैं : चाँदनी, त्रिविध समीर, कोकिल या चातक की बोली भ्रमर-गुंजार, रमणीय प्रदेश आदि। विभाव के अन्तर्गत ही नायक-नायिका आदि पर विचार किया जाता है। आचार्य भरत ने नायक के चार भेद किये हैं—(१) धीरोदात्त, (२) धीरोद्धत, (३) धीरललित और (४) धीर प्रशान्त।[1] सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर नायक के तीन भेद किये जाते हैं—पति, उपपति और वैशिक आदि। कतिपय आचार्यों ने नायक के उत्तम,

---

१. **धीरोदात्तो धीरोद्धतस्थता धीरललितश्च।**
धीर प्रशान्त इत्ययमुक्तः प्रथमश्चतुर्भेदः॥

मध्यम और अधम भेद किये हैं तथा नायक सहायकों (पीठमर्द, विट, चेट, विदूषक, माली, धोबी, तमोली, गन्धी इत्यादि) का भी उल्लेख किया है। नायक के साहित्य दर्पणकार ने आठ गुण माने हैं तथा—शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, धैर्य, तेज, ललित एवं औदार्य।

नायिका का सामान्य अर्थ नायक की पत्नी व प्रेमिका से लिया जाता है। वह नायक के अनुरूप ही त्यागी, कृती, कुलीन, रूपवान, युवा, उत्साही, दक्ष, अनुरागी, तेजस्वी विदग्ध और शीलवान आदि होती है। नायिका के तीन भेद माने गये हैं—स्वकीया (विवाहिता पत्नी) परकीया (अपने पति को छोड़ दूसरे नायक के साथ प्रेम सम्बन्ध रखने वाली), सामान्या (पैसे के लोभ में प्रेम का अभिनय करने वाली)। काम भावना के उद्‌भव, विकास एवं व्यापकत्व की दृष्टि से इनके तीन भेद किये जाते हैं यथा—मुग्धा, मध्या एवं प्रौढ़ा अथवा प्रगल्भा। आचार्यों ने इनमें से प्रत्येक के अनेक भेद किये हैं जिनकी चर्चा यहाँ पर अभीष्ट नहीं है। आचार्य भरत ने जिन नायिकाओं का वर्णन किया है वे इस प्रकार हैं—(१) स्वाधीनपतिका या स्वाधीन-भर्तृका, खण्डिता, (३) कलहान्तरिता (४) विप्रलब्धा, (५) प्रोषित-पतिका या प्रोषितभर्तृका, (६) अभिसारिका, (७) विरहोत्कण्ठिता या उत्कण्ठिता, एवं (८) वासक सज्जा।

उद्दीपन विभाव में आलम्बन की विभिन्न चेष्टाएँ तथा देशकाल आदि आते हैं। इनसे रस की उद्दीप्ति होती है। उद्दीपक होने के कारण ही ये उद्दीपन विभाव माने जाते हैं—

"उद्दीपन विभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये।
आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा॥

अनुभाव—अनुभाव की परिभाषा देते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि "आलम्बन, उद्दीपन आदि कारणों से उत्पन्न काव्य नाटक के अन्तर्गत विभिन्न भावों को बाहर प्रकाशित करने वाले कार्य अनुभाव हैं। अनुभावों की संख्या देना एक कठिन कार्य है परन्तु उन्हें निम्न वर्गों में बाँटा जा सकता है—(१) कायिक, (२) वाचिक, (३) मानसिक, (४) आहार्य, (५) सात्त्विक। शरीर की क्रियाओं द्वारा अन्तःकरण के भावों की सूचना देने वाले भाव **कायिक** कहलाते है। इसी कार्य को वाणी के माध्यम से सम्पन्न करने पर **वाचिक** तथा हर्ष, विषाद के उद्वेलन के अनुसार मन की भावना को व्यक्त करने वाले अनुभाव **मानसिक** होते हैं। मन की भावना के अनुसार कृत्रिम वेशभूषा की रचना का विचार आहार्य अनुभाव के अन्तर्गत होता है। रस को प्रकाशित करने वाले आन्तर सहज क्रियाओं से सम्बन्धित सात्त्विक अनुभाव होते हैं, ये संख्या में आठ होते हैं— स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वर-भंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु एवं प्रलय। साहित्य दर्पणकार ने सात्त्विक अनुभावों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

स्तम्भ—भय, हर्ष, रुग्णता आदि के कारण हाथ-पैर की चेष्टाओं के रुकने को कहते हैं।

स्वेद—सम्भोग, धूप, श्रम आदि के कारण शरीर के छिद्रों से निकलने वाले जल को कहते हैं।

रोमांच—हर्ष, आश्चर्य, भय इत्यादि के कारण शरीर के रोंगटे खड़े होने को कहते हैं।

स्वरभंग—नशा, हर्ष, पीड़ा इत्यादि के कारण गला भर आने से गद्‌गद् वचन को कहते हैं।

वेपथु—रोग, द्वेष, श्रम इत्यादि से उत्पन्न शरीर कम्प को कहते हैं।

वैवर्ण्य—विषाद, मद, क्रोध इत्यादि के कारण उत्पन्न वर्ण-विकार को वैवर्ण्य या विवर्णता कहते हैं।

अश्रु—क्रोध, दुख या हर्ष से उत्पन्न नेत्रजल को अश्रु, कहते हैं।

प्रलय—सुख अथवा दुख की अधिकता के कारण चेष्टा तथा ज्ञान आदि के नष्ट हो जाने से जो विस्मृति प्राप्त होती है उसे प्रलय कहते हैं।

संचारी-भाव—विशेष रीति से मुख्य रस के निमित्त स्थायी भावों की सहायता में संचरण करने के कारण ये संचारी भाव कहलाते हैं। इन्हें व्यभिचारी भाव भी कहते हैं। संचारी भावों की संख्या ३० मानी गई है यथा—

(१) **निर्वेद**—तत्व ज्ञान, संकट और ईर्ष्या के कारण स्वयं को धिक्कारने अथवा संसार से विरक्ति का नाम निर्वेद है।

(२) **आवेग**—किसी प्रकार के सम्भ्रम को आवेग कहते हैं।

(३) **दैन्य**—दुर्गति से उत्पन्न कान्तिहीनता या विवशता को दैन्य कहते हैं।

(४) **श्रम**—सम्भोग तथा शारीरिक श्रम से उत्पन्न स्वेद को श्रम कहते हैं।

(५) **मद**—आनन्द और बेहोशी के अनोखे मिश्रण को मद कहते हैं।

(६) **जड़ता**—इष्ट और अनिष्ट के दर्शन से या उसके श्रवण से आने वाली किंकर्त्तव्यविमूढ़ता जड़ता है।

(७) **उग्रता**—शूरता, अपराध से उत्पन्न प्रचण्डता का नाम है।

(८) **मोह**—भय, दुख, घबराहट और चिन्ता से उत्पन्न चित्त विकलता का नाम है।

(९) **विबोध**—निद्रा दूर करने वाली क्रियाओं से उत्पन्न चैतन्य लाभ को कहते हैं।

(१०) **स्वप्न**—नींद में निमग्न पुरुष के साथ विषयानुभव करने का नाम स्वप्न है।

(११) **अपस्मार**—ग्रह आदि के प्रभाव तथा अन्य कारणों से उत्पन्न आवेशपूर्ण चित्त विक्षोभ को कहते हैं।

(१२) **गर्व** —अपने प्रभाव, ऐश्वर्य, विद्या, कुलीनता आदि के कारण उत्पन्न घमण्ड का नाम गर्व हैं।

(१३) **मरण**—शस्त्र आदि के लगने से प्राण त्याग या देह पतन का नाम मरण है।

(१४) **आलस्य**—श्रान्ति और गर्भ आदि से उत्पन्न जड़ता का नाम आलस्य है।

(१५) **अमर्ष**—निन्दा, आक्षेप, अपमान आदि से चित्त में उत्पन्न संक्षोभ का नाम अमर्ष है।

(१६) **निद्रा**—परिश्रम, ग्लानि तथा मद आदि से उत्पन्न चित्त की बाह्य विषयों से निवृत्ति मूलक दशा का नाम निद्रा है।

(१७) **अवहित्था**—गौरव, भय, लज्जा आदि के कारण हर्ष तथा अन्य मनोभावों को छिपाने का नाम अवहित्था है।

(१८) **औत्सुक्य**—अभीष्ट की प्राप्ति में विलम्ब का सह्य होना औत्सुक्य कहलाता है।

(१९) **उन्माद**—काम, शोक, भय आदि से चित्त के व्यामोह का नाम उन्माद है।

(२०) **शंका**—दूसरे की क्रूरता तथा अपने दोष से अनिष्ट की संभावना करने का नाम शंका है।

(२१) **स्मृति**—समान वस्तु के देखने तथा चिन्तन करने से पूर्वानुभूत वस्तु के स्मरण को स्मृति कहते हैं।

(२२) **मति**—नीति के अनुसरण आदि वस्तु तत्व के निर्धारण करने में अथवा बात की तह तक पहुँचने का नाम मति है।

(२३) **व्याधि**—वात, पित्त, कफ आदि से उत्पन्न ज्वर आदि को व्याधि कहते हैं।

(२४) **त्रास**—वज्र का गिरना, बिजली का टूटना, तारा का गिरना चित्त की जिस व्यग्रता को प्रस्तुत करता है उसे त्रास कहते हैं।

(२५) **व्रीड़ा**—निकृष्ट आचार-विचार आदि से उत्पन्न धृष्टता के अभाव का नाम व्रीड़ा है।

(२६) **हर्ष**—इष्ट की प्राप्ति से मन की प्रसन्नता का नाम हर्ष है।

(२७) **असूया**—औद्धत्य के कारण दूसरे की गुण समृद्धि को न सहन कर सकने का नाम असूया है।

(२८) **विषाद**—उपाय के अभाव से उत्पन्न पुरुषार्थ की हीनता का नाम विषाद है।

(२९) **धृति**—तत्वज्ञान तथा इष्ट प्राप्ति आदि के कारण इच्छाओं का पूर्ण होना धृति कहलाता है।

(३०) **चपलता**—मत्सर, द्वेष, राग आदि से उत्पन्न अवस्था का नाम चपलता है।

(३१) **ग्लानि**—रति, परिश्रम, मनस्ताप, भूख आदि से उत्पन्न निष्प्राणता को कहते हैं।

(३२) **चिन्ता**—हित की अप्राप्ति के कारण उत्पन्न ध्यान को चिन्ता कहते हैं।

(३३) **वितर्क**—सन्देह के कारण उत्पन्न विचार का नाम वितर्क है।

इस प्रकार ३३ संचारी भाव रस निष्पत्ति में सहायक होते हैं इसलिए इनका विशेष महत्व है।

रस निष्पत्ति

आचार्य भरत ने रस निष्पत्ति के सम्बन्ध में नाट्य शास्त्र में जो सूत्र दिया था उसको विभिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न व्याख्या की। आचार्य भरत का सूत्र है, "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" (६-३२)। अर्थात् विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव के 'संयोग' से रस-निष्पत्ति होती है। आचार्य भरत ने इस सूत्र में स्थायी भाव का उल्लेख नहीं किया है परन्तु उनकी बाद की व्याख्या से स्पष्ट है कि वे विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारि भाव का स्थायी भाव से 'संयोग' होने पर ही रस की निष्पत्ति मानते हैं।[1] यहाँ पर एक उपमा दी जाती है कि जैसे अनेक प्रकार के व्यंजन, औषधि और द्रव्य आदि के व्यंजनों और औषधियों के मिलने पर मधुर, लवण, तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल इत्यादि विभिन्न प्रकार के नाना भावों को प्राप्त स्थायी भाव भी रस बन जाते हैं। रस हम उसे कहते हैं जो आस्वाद्य होता है जैसे विभिन्न व्यंजनों से युक्त भोजन को प्राप्त करने पर सुमनस पुरुष हर्ष आदि को प्राप्त करते हैं वैसे ही वाणी, अंग आदि से स्वाभाविक रूप में सूचित होने वाली क्रियाओं से उत्पन्न नाना प्रकार के भावों तथा अभिनय से व्यंजित स्थायी भावों का सहृदय आस्वादन करता है और इस प्रकार हर्ष आदि को प्राप्त करता है।

इस व्याख्या के अन्तर्गत संयोग और निष्पत्ति शब्दों का प्रयोग हुआ है परन्तु उनका स्पष्ट आशय आचार्य भरत ने नहीं दिया है, इसलिए बाद के आचार्यों के मतों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है—

१. भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद
२. भट्टशंकुक का अनुमितिवाद
३. भट्ट नायक का मुक्तिवाद
४. अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद

सभी आचार्यों ने आचार्य भरत के इस सूत्र की अपने-अपने ढंग की व्याख्या की है। सबसे प्रथम आचार्य भट्ट लोल्लट की व्याख्या पर हम विचार करेंगे। इनके

---

१. यथा हि नाना व्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति, यथा ही गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनौषधि भिश्च षाड्वादयो रसा निवर्तन्ते, तथा नानाभावोगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति। अत्राह—रस इति कः पदार्थ ? उच्यते-आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः ! यथा हि नाना-व्यजनसंस्कृतमन्नं भुंजानां रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधि-गच्छन्ति, तथा नाना भावाभिनयव्यंजितान् वागङ्ग सत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।

मत से 'संयोग' का अर्थ कारण-कार्य सम्बन्ध का है और निष्पत्ति का तात्पर्य उत्पत्ति है। इनका मन्तव्य है कि विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है। अतः इनके मत का नाम उत्पत्तिवाद कहलाता है। इसका आशय यह है कि रस की स्थिति वास्तव में उन चरित्रों में थी जिनका अभिनेता अभिनय करता है परन्तु उपयुक्त वेशभूषा और कुशल अभिनय के माध्यम से नाटक के दर्शक अभिनेता में वास्तविक चरित्र का आरोप कर लेते हैं और इस आरोप के कारण दर्शकों को रस की अनुभूति होती है। भट्टलोल्लट मीमांसावादी थे अतः उनका विचार था कि जिस प्रकार यज्ञ आदि का फल पुरोहित के माध्यम से यजमान को प्राप्त होता है उसी प्रकार अभिनेता के माध्यम से दर्शकों को रस की प्रतीति होती है।

भरत सूत्र के दूसरे व्याख्याता भट्ट शंकुक हैं। उन्होंने अपना मत न्याय-शास्त्र के आधार पर निश्चित किया। उनका कहना है कि अभिनेता के अनुकरण से नायक आदि के स्थायीभाव का अनुमान सामाजिक करते हैं और अनुमान के द्वारा ही सामाजिकों को रस की प्रतीति होती है। आचार्य शंकुक ने अनुमान को एक प्रकार का ज्ञान सिद्ध किया है। वे कहते हैं कि चार प्रकार का जो ज्ञान होता है वह निश्चय ज्ञान, मिथ्या ज्ञान, संशय ज्ञान और सादृश्य ज्ञान है। इसके अतिरिक्त जब किसी वस्तु को देखकर हम कुछ अनुमान लगा लेते हैं तो ऐसा ज्ञान अनुमान कहलाता है; जैसे कहीं पर उठते हुए धुएँ को देखकर हम अनुमान लगा लेते हैं कि यहाँ पर अग्नि होगी, वैसे ही, अनुकर्त्ता के अभिनय से हम अनुकार्य के भावों का अनुमान लगा लेते हैं। इस मत के अनुसार अनुमान तत्व ही महत्व का है अतः इसे अनुमितिवाद भी कहते हैं। इसके अनुसार संयोग का अर्थ 'अनुमापक-अनुमाप्य' भाव और निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति है।

भरत सूत्र के तीसरे व्याख्याता भट्टनायक हैं। उन्होंने यह शंका उठाई कि अनुमान करने मात्र से हमें अनुभूति नहीं हो सकती, हम धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान कर लेते हैं पर हमें अग्नि की गर्मी का अनुभव नहीं होता। अनुमान वास्तव में बुद्धि का विषय है अनुभूति का विषय नहीं, जबकि रस अनुभूति का विषय है। इसके अतिरिक्त एक प्रश्न यह भी उठता है कि जिनका अभिनय किया जाता है वे पात्र अधिकांश हमारे पूज्यभाव के अधिकारी होते हैं अतः उनके बहुत से भाव हमारे भाव नहीं हो सकते। राम सीता या शंकर पार्वती हमारे आराध्य हैं। इनके प्रेम आदि भावों में हम सम्मिलित नही हो सकते तब फिर हमारी रसानुभूति किस प्रकार होती है ? यह शंका उत्पन्न होती है।

इन शंकाओं के समाधान में आचार्य भट्ट नायक का मत महत्वपूर्ण है। उन्होंने सांख्य सम्मत अपना मत प्रकट किया है। वे रस को अनुमेय नहीं मानते वरन् भोज्य मानते हैं। उनके विचार से संयोग का तात्पर्य 'भोज्य-भोजक' भाव है और निष्पत्ति' का तात्पर्य मुक्ति है। भट्टनायक के मत से रसानुभूति की तीन अवस्थायें होती हैं— १. अभिधा, २. भावकत्व, ३. भोजकत्व। अभिधा की स्थिति में प्रेक्षक शब्दों का अर्थ

ग्रहण करता है और प्रसंगों को समझता है। भावकत्व की अवस्था में विभावन व्यापार द्वारा विभाव आदि का साधारणीकरण हो जाता है और पात्रों की विशिष्टता समाप्त हो जाती है। चरित्र विशिष्ट न होकर सामान्य हो जाते है और दर्शक भी तम और रज से मुक्त होकर के सत् की स्थिति में आता है और उसे सत्वोद्रेक होता है। इस स्थिति में वैयक्तिक ईर्ष्या-द्वेष से वह मुक्त हो जाता है और तभी भोजकत्व की अवस्था में पहुँचता है यही रसानुभूति की स्थिति है। यह रस का आनंद पर-ब्रह्मास्वाद सहोदर होता है। भट्टनायक का मत मुक्तिवाद कहलाता है और इनके द्वारा भावकत्व की स्थिति में जो साधारणीकरण सिद्धान्त स्थापित किया गया है वह बड़े महत्व का सिद्धान्त है। साधारणीकरण के द्वारा उन सभी शंकाओं का परिहार हो जाता है जो पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों में उठ सकती थीं।

भट्टनायक अभिधावादी आचार्य थे। उन्होंने ध्वनि का विरोध किया था। अतएव ध्वनिवादी प्रसिद्ध आचार्य अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत का खंडन किया। उन्होंने भावकत्व और भोजकत्व को अशास्त्रीय माना। उनका कथन है कि भावकत्व तो भावों की विशेषता है और भोजकत्व तो रस का स्वभाव है अतः इनकी कल्पना, संगत नहीं है। उन्होंने अर्थाभिव्यक्ति और साधारणीकरण को व्यंजना का व्यापार माना, अभिधा का नहीं। उनके विचार से रस व्यंग्य है। व्यंजना के द्वारा ही रस सहृदय को प्रभावित करता है और विभावों का साधारणीकरण होता है। उनके विचार से व्यंजना का विभावन-व्यापार महत्वपूर्ण है। उसी से विभावों और स्थायी भावों का साधारणीकरण होता है। इस स्थिति में अनुकार्यों के भाव व्यक्तिगत न होकर सामान्य हो जाते हैं और सामाजिक के हृदय में वासना के रूप में स्थित भावों को जाग्रत करता है। अभिनव गुप्त पादाचार्य यह मानते हैं कि कोई भी मनुष्य वासना से रहित नहीं होता। यह वासना सुप्तावस्था में पड़ी रहती हैं और अभिनय आदि के द्वारा वह उसी प्रकार जाग्रत हो जाती है जिस प्रकार कि पानी बरसने पर मिट्टी के भीतर की गंध फूट पड़ती है। परन्तु वह पहले अनुभूत नहीं होती। इसी प्रकार विभाव आदि के अभिनय से मनुष्य के 'भीतर के वासना रूप भाव जग जाते है और वह रस का अनुभव करता है। इनके विचार से संयोग' का अर्थ आस्वाद्य-आस्वादक भाव है और निष्पत्ति का अर्थ 'अभिव्यक्ति' है। सहृदयों के हृदय में रस अभिव्यक्त होना है। इस प्रकार यह मत अभिव्यक्तिवाद कहलाता है। रसानुभूति की अवस्था में मनुष्य की चेतना विश्रान्ति प्राप्त करती है। यह तुष्टिकारक अनुभूति होती है और जीवन की अन्य अनुभूतियों की अपेक्षा विशिष्ट होने से अलौकिक कही जाती है। रस सहृदय सवैद्य है। विभाव आदि के साधारणीकरण से व्यक्ति संबन्ध टूट जाता है और अखंड रस का आनंद प्राप्त होता है। अभिनव गुप्त का मत शैवाद्वयवान पर आधारित है। मह मत मनोवैज्ञानिक धरातल पर होने के कारण प्रायः सर्वमान्य मत है।

रसानुभूति के प्रसंग में आगे चलकर आचार्य मम्मट आचार्य विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी विचार किया है। इन लोगों

के मत अधिकांशतः भट्टनायक अथवा अभिनव गुप्त के मतों पर आधारित हैं। वास्तव में, साधारणीकरण की प्रक्रिया और स्थिति के विश्लेषण से रसानुभूति की चिन्तना में एक बहुत बड़ी बाधा हट जाती है। साधारणीकरण का अर्थ है व्यक्ति विशेष अथवा पात्र-विशेष के भावों का सामान्य होना। साधारणीकरण विभाव, भाव दोनों का होता है। अभिनय के द्वारा विभाव अर्थात आश्रय, आलम्बन, उद्दीपन अपनी विशिष्टताओं से मुक्त होकर साधारण भूमिकाओं में आ जाते हैं जिससे सहृदय दर्शक उन्हें अपने भावों के साथ ग्रहण कर सकता है। दूसरी ओर इस अभिनय के द्वारा सहृदय की अपनी मन:स्थिति भी वैयक्तिकता के घेरे से मुक्त हो जाती है। यह मुक्तावस्था उसके लिये भी साधारणीकरण की अवस्था है। इस प्रकार काव्य या नाट्य व्यापार से विभावों और भावों का तो साधारणीकरण होता ही है, दर्शक के भावों का भी साधारणीकरण हो जाता है और वह अभिनीत भावों और रसों का निर्विशिष्ट रूप में आनन्दपूर्वक आस्वादन करता है। यही स्थिति रसानुभूति की स्थिति है। साधारणीकरण पर पूर्ववर्ती आचार्यों ने विचार नहीं किया था। आचार्य भट्टनायक और आचार्य अभिनव गुप्त ने इस पर विचार किया और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण पर विस्तार से अपना मत व्यक्त किया है। शुक्ल जी साधारणीकरण का सम्बन्ध आलम्बन धर्म से जोड़ते हैं परन्तु साधारणीकरण वास्तव में समस्त व्यापार का होता है क्योंकि विभावादि के निर्वैयक्तिक होने से आलम्बन और आश्रय दोनों ही साधारणीकृत होते हैं और उसका प्रभाव प्रेक्षक पर भी पड़ता है। तथा उसके भाव जाग्रत होकर रसानुभूति प्राप्त करते हैं। इस प्रकार रसानुभूति विवेचन में भारतीय आचार्यों ने महत्वपूर्ण योगदान किया है।

रसों की संख्या[1]

आचार्यों ने रसों की संख्या १० मानी है। भरत मुनि ने नाटकीय महत्व की दृष्टि से इन ८ रसों को महत्वपूर्ण बताया है—श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स एवं अद्भुत। आचार्य जगन्नाथ और मम्मट ने ९ रस माने हैं उन्होंने ९वाँ रस शान्त माना है, परन्तु आचार्य विश्वनाथ १० रस मानते हैं। इसमें वात्सल्य १० वाँ रस है। बहुत बाद में गौडी सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्य रूप गोस्वामी ने ११ वें रस मधुर की स्थापना की। इस प्रकार यही भक्ति रस के रूप में स्वीकृति हुआ। कुल मिलाकर ११ रस माने गये। इन रसों का परिचय आगे दिया जा रहा है।

(१) श्रृंगार रस—सहृदय के हृदय में रति नामक स्थायी भाव का जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से संयोग होता है तो वह श्रृंगार रस का रूप ग्रहण कर लेता है।

---

१. परिभाषाओं का आधार पं० राम दहिन मिश्र कृत काव्य दर्पण और डॉ० भगीरथ मिश्र कृत काव्य शास्त्र है।

इसके दो भेद होते हैं—(अ) संयोग श्रृङ्गार और (ब) विप्रलम्भ या वियोग श्रृङ्गार ।

स्थायी भाव—रति

आलम्बन—नायक और नायिका

उद्दीपन—त्रिविध समीर, वन, उपवन, चन्द्र, चन्द्रिका, सरिता-तट, पुष्प आदि ।

अनुभाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, कम्प, स्वर-भंग, अश्रु आदि ।

(अ) संयोग श्रृंगार—जिस रचना में नायक और नायिका के मिलन का वर्णन हो वहाँ संयोग श्रृङ्गार होता है ।

उदाहरण— एक पल मेरे प्रिया के दृग-पलक,
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे ।
चपलता ने इस विकंपित पुलक से,
दृढ़ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था ॥—सुमित्रानन्दन पंत: ग्रंथि

स्थायी भाव—रति

आलम्बन—नायक और नायिका

उद्दीपन—नायिका के दृग-पलकों का ऊपर उठना और नीचे गिरना

अनुभाव—नायक का पुलक और कम्प

संचारी भाव—चपलता लज्जा आदि ।

इस प्रकार सहृदय के हृदय में रति नामक स्थायी भाव इन सब विभाव आदि के संयोग से श्रृङ्गार रस के रूप में अभिव्यक्त हुआ है ।

(ब) वियोग श्रृंगार—जिस रचना में नायक और नायिका का विरह-वर्णन हो वहाँ वियोग श्रृंगार होता है ।

उदाहरण—उनका यह कुंज-कुटीर वही झड़ता उड़ अंशु-अबीर जहाँ,
अलि कोकिल, कीर, शिखी सब है सुन चातक की रट 'पीव कहाँ ?
अब भी सब साज-समाज वही तब भी सब आज अनाथ यहाँ,
सखि, जा पहुँचे सुधि-संग कहीं यह अन्ध सुगन्ध समीर वहाँ !
—मैथिलीशरण गुप्त : यशोधरा

उपर्युक्त छन्द में विरहिणी यशोधरा की विरह-दशा का वर्णन किया गया है, जिससे प्रतीत होता है कि पूर्ववर्ती सब साज-समाज ज्यों का त्यों होने पर भी उसे वह सुख नहीं देता, वरन् दुःख को उत्पन्न करने वाला है ।

स्थायी भाव—रति

आलम्बन—लक्ष्मण

उद्दीपन—कुंज-कुटीर तथा उसमें प्रकट होने वाली रंग-बिरंगी किरणें, कोकिल, भौंरों और पपीहों की ध्वनियाँ

अनुभाव—सखी से विषाद-भरे स्वर में कथन

संचारी भाव—स्मृति, विषाद, धृति आदि।

(२) हास्य रस—(सहृदय के हृदय में स्थित) हास नामक स्थायी भाव का जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से संयोग हो जाता है तो वह हास्य रस का रूप ग्रहण कर लेता है।

उदाहरण— सब यानन ते श्रेष्ठ अति, द्रुत गति गामिनि कार।
धनिक जनन के जिय बसी, निसि-दिन करति विहार॥
'पौं पौं' करति सुहावनि कैसे, मुनि मख-संख बजावहिं जैसे।
मग बिच कीच उलीचत कैसे, फागुन फाग रचहिं जन जैसे॥
विद्युत दीप करहिं उजियारी, जनु 'हरि'-चन्द उगेउ तम हारी।
चारु चक्रधारिनि मन-भावन, कलरव करति विनोद बढ़ावन॥
—हरिशंकर शर्मा

स्थायी भाव—हास

आलम्बन—कार

उद्दीपन—मुनियों की शंख-ध्वनि के सामने कार की 'पौं पौं', रास्ते में फाग जैसे कीचड़ उलीचना।

अनुभाव—ओठ का स्फुरित होना

संचारी भाव—हर्ष, चपलता आदि।

(३) करुण रस—(सहृदय के हृदय में स्थित) शोक नामक स्थायी भाव का जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के साथ संयोग हो जाता है तो वह करुण रस का रूप ग्रहण कर लेता है।

उदाहरण— दाने-दाने तरस गयीं अगणित आँखें
दो बूँद दूध के लिए ललक
हिचकी लेकर हो गये मौन,
माताओं की छाती विदीर्ण, अवरूद्ध कंठ रह गयी कलख
वे बरसे बिखर गये कितनी साधों के घन
कृमि कीट सदृश
फुटपाथों पर
मनु की प्यारी संतान मिट गयी बिलख-बिलख।
—शिव मंगल सिंह 'सुमन'

स्थायी भाव—शोक

आलम्बन—निर्धन मनुष्य

उद्दीपन—उनकी गरीबी और बेवसी

अनुभाव—रोना, कलखना, हिचकी लेना

संचारीभाव—चिन्ता, विषाद।

(४) रौद्ररस—(सहृदय के हृदय में स्थित) क्रोध नामक स्थायी भाव का जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से संयोग हो जाता है तो वह रौद्र रस का रूप ग्रहण कर लेता है।

उदाहरण— श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्रोध से जलने लगे।
सब शोक अपना भूलकर करतल-युगल मलने लगे ॥
'संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े।
करते हुए यह घोषणा वे हो गये उठ कर खड़े ॥
उस काल मारे क्रोध के तन काँपने उनका लगा।
मानो हवा के जोर से सोता हुआ सागर जगा ॥

—मैथिलीशरण गुप्त : जयद्रथवध

स्थायी भाव—क्रोध
आलम्बन—जयद्रथ
उद्दीपन—श्रीकृष्ण के वचन
अनुभाव—क्रोधपूर्ण घोषणा, शरीर काँपना आदि
संचारी भाव—आवेग, चपलता, श्रम, उग्रता आदि

(५) वीर रस—(सहृदय के हृदय में स्थित) उत्साह नामक स्थायी भाव का जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से संयोग हो जाता है तो वह बीर रस का रूप ग्रहण कर लेता है।

उदाहरण— हे सारथे ! हैं द्रोण क्या, देवेन्द्र भी आकर अड़ें,
है खेल क्षत्रिय बालकों का व्यूह-भेदन कर लड़ें।
मैं सत्य कहता हूँ सखे ! सुकुमार मत जानो मुझे,
यमराज से भी युद्ध को प्रस्तुत सदा मानो मुझे।

—मैथिलीशरण गुप्त : जयद्रथवध

स्थायी भाव—उत्साह
आलम्बन—शत्रु
उद्दीपन—चक्रव्यूह रचना
अनुभाव—अभिमन्यु के वचन
संचारी भाव—रोमांच, उत्सुकता, उग्रता आदि।

(६) भयानक रस—(सहृदय के हृदय में स्थित) भय नायक स्थायी भाव का जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से संयोग हो जाता है तो वह भयानक रस का रूप ग्रहण कर लेता है।

उदाहरण— नभ ते झपटत बाज लखि, भूल्यो सकल प्रपंच।
कंपित तनु व्याकुल नयन, लावक हिल्यो न रंच ॥

आकाश से झपटते हुए बाज को देखकर बेचारा लावा पक्षी सुध-बुध खो बैठा। उसका शरीर कांपने लगा और नेत्रों की ज्योति मन्द पड़ गई।

स्थायी भाव—भय

आलम्बन—बाज

आश्रय—लावक

उद्दीपन—बाज का झपटना

अनुभाव—शरीर का काँपना, नेत्रों की व्याकुलता आदि

संचारी भाव—दैन्य, विषाद आदि।

(७) वीभत्सरस—(सहृदय के हृदय में स्थित) जुगुप्सा (घृणा) नामक स्थायी भाव का जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से संयोग हो जाता है तो वह वीभत्स रस का रूप ग्रहण कर लेता है।

उदाहरण— कोउ अँतड़िनि की पहिरि माल इतरात दिखावत।
कोउ चरबी लै चोप सहित निज अंगनि लावत।।
कोउ मुंडनि लै मानि मोद कंदुक लौं डारत।
कोउ रुंडनि पै बैठि करे जौ फारि निकारत।।

—रत्नाकार : हरिश्चन्द्र

स्थायी भाव—जुगुप्सा (घृणा)

आलम्बन—श्मशान का दृश्य

उद्दीपन—अँतड़ी की माला पहनकर इतराना, चर्बी शरीर पर पोतना, नर-मुंडों को गेंद की तरह उछालना और धड़ पर बैठकर-कलेजा फाड़कर निकालना।

अनुभाव—युद्धभूमि के दृश्य से मुँह फेरना (वर्णित नहीं हैं।)

संचारी भाव—निर्वेद, ग्लानि, दीनता आदि।

(८) अद्भुत रस—(सहृदय के हृदय में स्थित) विस्मय नामक स्थायी भाव का जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से संयोग हो जाता है तो वह अद्भुत रस का रूप ग्रहण कर लेता है।

उदाहरण— अम्बर में कुन्तल जाल देख
पद के नीचे पाताल देख
मुट्ठी में तीनों काल देख
मेरा स्वरूप विकराल देख
सब जन्म मुझी से पाते हैं
फिर लौट मुझी में आते हैं।।—दिनकर : रश्मिरथी

स्थायी भाव—विस्मय

आलम्बन—विराट स्वरूप

उद्दीपन—विराट का क्रिया कलाप

अनुभाव—देखना

संचारीभाव—चिन्ता, तर्क

(९) शान्त रस—(सहृदय के हृदय में स्थित) निर्वेद नामक स्थायी भाव का जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से संयोग हो जाता है तो वह शान्त रस का रूप ग्रहण कर लेता है।

उदाहरण— सुत बनितादि जानि स्वारथरत न करु नेह सबही ते।
अंतहि तोहि तजेंगे पामर ! तू न तजै अबही ते।
अब नाथहिं अनुराग जागु, त्यागु दुरासा जी ते।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी ते।

—तुलसी : विनयपत्रिका

स्थायी भाव—निर्वेद
आलंबन—अनित्य संसार के सभी सुख-साधनपुत्र, पत्नी आदि।
उद्दीपन—सम्बन्धियों का व्यवहार।
अनुभाव—कथन, चेतावनी आदि
संचारी भाव—धृति, मति, विमर्ष।

(१०) वात्सल्य रस—(सहृदय के हृदय में वासना रूप से स्थित) वात्सल्य नामक स्थायी भाव का जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से संयोग हो जाता है तो वह वत्सल का रूप ग्रहण कर लेता है।

उदाहरण— 'माँ'—फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी उस कुटिया सूनी,
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी।
लुटरी खुली अलक, रज-धूसर बाहें आकर लिपट गईं,
निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी॥

—प्रसाद : कामायनी

स्थायी भाव—वात्सल्य
आलंबन—
उद्दीपन—'माँ' कहकर पुकारना, किलकारी मारना
अनुभाव—गोद में लेना और प्यार करना
संचारी भाव—औत्सुक्य, हर्ष आदि।

(११) मधुर रस

उदाहरण— सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई।
मोहे सुर-नर-नाग निरन्तर, ब्रज बनिता उठि धाई॥
जमुना-नीर-प्रवाह थकित भयो पवन रह्यौ मुरझाई।
खग-मृग-मीन अधीन भए सब, अपनी गति बिसराई॥
द्रुम-बेली अनुराग-पुलक तनु, ससि थक्यौ, निसि न घटाई।
सूर-श्याम बृन्दावन बिहरत, चलहु सखी सुधि पाई॥

—सूरदास : सूरसागर

स्थायी भाव—ईश्वर विषयक रति

आलम्बन—श्री कृष्ण

उद्दीपन—सगुण परमेश्वर का सौन्दर्योत्कर्ष, उनके कार्य, अवतार, दीन-रक्षा, लीला, अव्यक्त के विराट् स्वरूप का गुण, कथन या श्रवण।

अनुभाव—हर्ष से आँखों का विकसित होता, आनन्दानुभूति, उत्सुक भाव, आनन्दजन्य व्यामोह इत्यादि।

संचारी भाव—हर्ष, गर्व, औत्सुक्य, मति, निर्वेदादि।

———

नवम् अध्याय

काव्य दोष विवेचन

दोष

मम्मट के अनुसार काव्य के मुख्य अर्थ (रस) के विघातक या अपकर्षक तत्व ही दोष कहलाते हैं। इसी को आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में 'रसापकर्षका दोषा:' अर्थात् रस का अपकर्ष करने वाले तत्व को दोष माना है। हिन्दी के आचार्यों में भी केशव, चिन्तामणि, कुलपति, श्रीपति आदि ने दोष के स्वरूप पर विचार किया है। श्रीपति के अनुसार जिस पदार्थ के दोष से अच्छी कविता दूषित हो जाती है उसे दोष कहते हैं।[1]

आचार्य भरत ने दोषों की संख्या १० मानी है परन्तु बाद में उनकी संख्या और वर्गीकरण में पर्याप्त परिष्कार और उचित वर्गीकरण किया गया है। समग्र दोषों को विश्वनाथ के अनुसार इस प्रकार माना गया है—

रसापकर्षका दोषास्ते पुन: पंचधा मता: ।
पदे तदंशे वाक्येऽर्थे सम्भवन्ति रसेऽपि यत् ॥
(साहित्य दर्पण, प० ७, श्लोक १)

इस प्रकार कुल दोष ये हैं—[2]

(क) पद-दोष, (ख) पदांश-दोष, (ग) वाक्य-दोष, (घ) अर्थ-दोष, एवं (ङ) रस-दोष।

(क) **पद-दोष**—इस दौष से काव्य की सहृदय संवेद्यता में अपकर्ष या व्याघात किसी दुष्ट पद के प्रयोग से होता है। पद-दोष निम्नलिखित हैं—

(१) दुः श्रवत्व, (२) अश्लीलता, (३) अनुचितार्थता, (४) अप्रयुक्तता, (५) ग्राम्यत्व, (६) अप्रतीत्व, (७) संदिग्धत्व, (८) नेयार्थता, (९) निहतार्थता, (१०) अवाचकता, (११) क्लिष्टता, (१२) विरुद्धमतिकारिता, (१३) अविमृष्टविधेयांशत्व, (१४) निरर्थकता, (१५) असमर्थता एवं (१६) च्युतसंस्कृति।

प्रत्येक का वर्णन इस प्रकार किया जा रहा है—

(१) **दुःश्रवत्व**—जिस पद में रस के विपरीत या कानों को खटकने वाले कठोर वर्णों का प्रयोग होता हैं यह दोष होता है; यथा—

---

१. जा पदार्थ के दोष ते आछे कवित नसाइ।
दूषन तासों कहत हैं; श्रीपति पण्डित राई ॥ (श्रीपति)

२. श्यामनन्दन शास्त्री—'काव्यशास्त्र की रूपरेखा' के आधार पर।

कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता,
पर क्यों न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता।

यहाँ पर धृष्टता, विषयोत्कृष्टता आदि शब्द कर्ण-कटु प्रतीत होते हैं इनसे श्रुति-कटुत्व या दुःश्रवत्व-दोष उत्पन्न होता है। दुःश्रवत्व में ट, ठ, आदि वर्ण शृंगार के वर्णन में दोष के अंतर्गत माने जायेंगे जबकि यही वर्ण वीर, रौद्र और भयानक में गुण के रूप में स्वीकार किये जायेंगे।

(२) **अश्लीलता**—जिस शब्द से अश्लीलता (फूहड़पन या भद्दापन) प्रकट हो वहाँ अश्लीलत्व-दोष होता है। यह तीन तरह का माना जाता है—घृणा, लज्जा और अमंगल व्यंजक। तीनों का मिला जुला उदाहरण इस प्रकार है—

धिक् मैथुन-आहार यंत्र।
रहते चूते में मजदूर।

यहाँ मैथुन और चूते अश्लील हैं; लज्जा उत्पन्न करने वाले हैं।

(३) **अनुचितार्थता**—जिस दोष में किसी पद के प्रयोग से अभीष्ट अर्थ के सिवाय किसी अनुचित अर्थ का प्रकाश हो वह अनुचितार्थता कहलाता है। उदाहरण—

पलंग पर पलना पर घालके
जननि आनन इन्दु विलोकती।

इसमें घालके शब्द 'लिटाकर' के अर्थ में आया है परन्तु वह 'मारकर' का अर्थ भी देता है।

(४) **अप्रयुक्तता**—व्याकरण सम्मत पद न होने पर यह दोष आता है। उदाहरण—

पुत्र जन्म उत्सव समय स्पर्श कीन बहुकाय।

अथवा—

धनी भिक्षाचरण से भर रहे अब पेट।

में स्पर्श शब्द दान के तथा भिक्षाचरण भिक्षाटन के स्थान पर आया है। ऐसा प्रयोग व्याकरण सम्मत नहीं है।

(५) **ग्राम्यत्व**—जब ऐसे शब्दों का साहित्यिक भाषा में प्रयोग किया जाता है जो गँवारू बोलचाल में प्रयुक्त होते हैं अथवा जो असंस्कृत या भदेस कहलाते हैं। यहाँ ग्राम्यत्व-दोष होता है। जैसे—

निश्चिन्त रहे जो करे भरोसा मेरा।
बस मिले प्रेम का मुझे **परोसा** मेरा।
—(मैथिलीशरण गुप्त : साकेत)

यहाँ परोसा शब्द भाग या अंश के अर्थ बोध के लिए तुक मिलाने को आया है परन्तु इसमें भदेसपन है।

(६) **अप्रतीत्व**—जहाँ कविता में ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाय जो शास्त्र विज्ञान या विद्या में विशेष अर्थों में प्रयुक्त होता है या जो पारिभाषिक हो और लोक

व्यवहार तथा काव्य भाषा में प्रयुक्त न होता हो वहाँ अप्रतीत्व दोष होता है, उदाहरणार्थ—

आज पेश होकर मिसिल सब देखी गई,
आये सब वजह सबूत निज जाने में ।
मुद्दालेह मुजरिम बेशक करार पाये,
बाकी नहीं राख्यौ सैन सैफ के चलाने में ।।

इसमें मिसिल, सबूत, मुद्दालेह आदि अदालती शब्द हैं, इसलिए इनके कारण अप्रतीत्व-दोष होता है ।

(७) **संदिग्धत्व**—यह दोष किसी ऐसे पद के प्रयोग से होता है जिससे एक साथ दो अर्थ निकलते हैं और यह संदेह जगता हो कि कौन सा अर्थ अभीष्ट है और कौन सा नहीं । यथा—

मार से बचाओ नाथ,
आई हूँ शरण में ।[1]

यहाँ पर मार पद ताड़ना और कामदेव दोनों के अर्थ व्यंजित करता है ।

(८) **नेयार्थता**—रूढ़ि व प्रयोजन के अभाव में पदविशेष के लाक्षणिक प्रयोग से यह दोष होता है यथा—

बड़े मधुर हैं प्रेम सद्म से
निकले वचन तुम्हारे ।

मुख के लिए प्रेम सद्म का लाक्षणिक प्रयोग रूढ़ि और प्रयोजन के लिए नहीं है इसलिए इन दोनों के अभाव में बलात् लाया गया यह शब्द (नेयार्थ) प्रतीत होता है ।

(९) **निहतार्थता**—यह दोष किसी पद का अपने प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध दोनों ही अर्थों के बोध में समर्थ रहने पर अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग करने से होता है जैसे—

दूरागत सुत को जननी ने
तव पय पान कराया ।

इसमें पय पद का प्रयोग जल के अर्थ में किया गया है जो इसका अप्रसिद्ध अर्थ है ।

(१०) **अवाचकता**—इस दोष में पद विशेष का ऐसा अर्थ प्रयोग में आता है जिसके बोध में वह स्वाभाविक रूप से समर्थ नहीं होता है ।

पयोधर का वह खारा नीर ।

इसमें पयोधर मेघ और स्तन के रूप में न आकर समुद्र के अर्थ में आया है ।

(११) **क्लिष्टता**—जहाँ किसी शब्द का अर्थ तुरन्त समझने में कठिनाई हो वहाँ क्लिष्टता दोष होता है । सूरदास के दृष्टिकूट में कठिनाई से अर्थ निकलता है । निम्नलिखित पंक्तियों में भी यही दोष है—

---

१. **श्यामनन्दन शास्त्री—'काव्य शास्त्र की रूपरेखा'** ।

खगपति पतितिय पितु वधु जल समान तुव बैन ।

इसमें गंगा जल के समान तुम्हारे वचन यह अर्थ बड़ी कठिनाई से निकलता है ।

(१२) **विरुद्ध मतिकारिता**—यह दोष किसी ऐसे पद के प्रयोग से होता है जिससे अभीष्ट अर्थ के साथ-साथ एक विरुद्ध अर्थ भी निकलता है, यथा-आप बड़े कामी हैं' में कामी पद का प्रयोग मेहनती और कर्मठ के साथ-साथ वासना के गुलाम होने का भी निकलता है ।

(१३) **अविमृष्ट विधेयांशत्व**—यह दोष समासादि के बन्धन या छन्दादि के आग्रह के कारण किसी पद के ऐसे प्रयोग से होता है, जिससे विधेयांश का वह प्रधानतया निर्देशक न बन सके; यथा—

जो मिहनत करते हैं उनके
लिए सफलता सदा **अदूर** ।—(अवन्तिका)[1]

यहाँ छन्दोबन्धन के कारण 'दूर नहीं' में नञ् समास कर 'अदूर' पद का प्रयोग किया गया है, जिससे विधेयांश की भावात्मक तीव्रता ही समाप्त हो गयी है ।

(१४) **निरर्थकता**—पाद पूर्ति व छन्दोनिर्वाह के लिए भरे गये पदों के कारण यह दोष होता है । साकेत में ऐसे अनेक शब्द मिलते हैं :—

देव होकर तुम सदा मेरे रहो ।
और देवी ही मुझे रक्खो अहो। (साकेत : गुप्त जी)

यहाँ पर 'अहो' पद की कोई उपादेयता नहीहै ।

(१५) **असमर्थता**—पद अभिप्रेत अर्थ में हो, कोश व्याकरण से सम्मत हो, फिर भी उसमें बोध गम्यता न होने पर यह दोष आता है । निराला के काव्यांश में द्रष्टव्य है ।

भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज **रे** तमस्तूर्य दिङ मण्डल ।
—(निराला रचित तुलसीदास से)

इस काव्यांश में अंतिम शब्द एकदम बोधगम्य नहीं है ।

(१६) **च्युत-संस्कृति**—यह दोष तब होता है जब लिङ्ग 'वचन' कारक सर्वनाम, क्रिया पदादि की दृष्टि से अशुद्ध व असंस्कृत पदों का प्रयोग किया जाये । यथा—

'मरम वचन जब सीता बोला'

इसमें च्युत संस्कृत या व्याकरण विरुद्ध दोष पाया जाता है क्योंकि सीता स्त्रीलिङ्ग के साथ 'बोला' पुल्लिग क्रिया है ।

---

(१) वही

(ख) **पदांश दोष**— संपूर्ण पद की अपेक्षा उसके अंश विशेष में ही सीमित रहने वाला दोष इस संज्ञा से अभिहित किया जाता है। पदांश दोष में श्रुति कटुत्व, निहतार्थता, अवाचकत्व आदि भी सम्मिलित किए जाते हैं।

श्रुति कटुत्व में—सिद्धि हेतु स्वामी गये
यह गौरव की बात (यशोधरा से) (सिद्धि में)

निहतार्थत्व में—आकर कुछ सुनाइये।
नीतिमत्ता दिखाइये। (मत्ता में उन्मत्तता का बोध भी होता है।)

अवाचकता में—विजेय है असुर तव।
प्रशमित है भीम रव। (जेय पदांश अवाचकता दोष से ग्रस्त है।)

इसी प्रकार अन्य दोषों को भी देखा जा सकता है जिनमें पदांश दोष व्याप्त रहते हैं।

(ग) **वाक्य-दोष**—इस दोष में कोई दोषपूर्ण पद के वर्तमान रहने से अथवा दूषित पद के प्रयोग के कारण सम्पूर्ण वाक्य पर प्रभाव पड़ता है। ये दो प्रकार के होते हैं, पदों में और वाक्यों में समान रूप में मिलने वाले दोष तथा केवल वाक्य में मिलने वाले दोष। पद दोषों में से च्युत संस्कृति, असमर्थता तथा निरर्थकता को छोड़कर शेष तेरह वाक्य-दोष के अन्तर्गत आते हैं।[1]

निम्नलिखि वाक्य दोष केवल वाक्यों तक ही सीमित हैं ये संख्या में २२ हैं। प्रत्येक का वर्णन नीचे दिया जा रहा है—

(१) **प्रतिकूल वर्णता**—जिस वाक्य में रसानुकूल वर्णों का नियोजन नहीं होता है वहाँ यह दोष होता है। उदाहरण के लिए श्रृंगार रस के वर्णन के लिए 'ट' वर्ण का प्रयोग प्रतिकूल माना जाता है, परन्तु बिहारी में यह बार-बार आया है।

जैसे— झट्कि चढ़ति उतरति **अटा**, नैंक न थाकति देह।
भई रहति **नट्** को **बट्** **अटकी** नागर नेह॥ (बिहारी)

(२) **अधिकपदता**—वाक्य में उद्देश्य सिद्धि में अनावश्यक पद के आने पर यह दोष आता है, जैसे—

है तिहारे शत्रु को खड्ग **लता** अहिराज। (भिखारीदास : का० नि०
इसमें खड्ग से ही उद्देश्य सिद्धि होती है अन्य पद अनावश्यक है।

(३) **न्यूनपदता**—अपेक्षित वाचक पद का अभाव होने पर यह दोष आता है।

जैसे— यदि मुझे बाँधना चाहे मन
पहले तो बाँध अन्नत गगन। (दिनकर : रश्मिरथी)

इसमें मन के पहले 'तुम्हारा' पद अपेक्षित था।

---

१. वही

(४) **कथितपदता**—जब वाक्य में बिना किसी प्रयोजन के एकाध समानार्थी शब्द या पद आये तो यह दोष होता है जैसे—

जिन हाथों तुम्हें बचाया
उन हाथों कैसे मारूँ ?

इसमें हाथों की आवृत्ति अनावश्यक है।

(५) **व्यर्थपदता**—वाक्य में केवल छन्द पूर्ति के निमित्त खटकने वाले पदों के भरने से यह दोष होता है। गुप्त जी के साकेत में इसका उदाहरण इस प्रकार मिलता है—

नींद के भी पैर हैं कँपने लगे,
देख लो, लोचन कुमुद झँपने लगे।

प्रस्तुत उदाहरण में 'देख लो' पद व्यर्थ है।

(६) **हतवृत्तता**—जहाँ पर रसानुकुल छन्द विधान नहीं होता है वहाँ मात्राओं की गति ठीक न होने पर भी यह दोष होता है; जैसे—

सुन्दर श्याम सरोरुह से छवि धाम विलोचन में घनश्याम हैं। इसमें छवि और धाम के बीच में यति ठीक नहीं है।

(७) **पतत्प्रकर्षता**—यदि वाक्य में वर्णन की गई वस्तु का निरन्तर उत्कर्ष की अपेक्षा अपकर्ष होता जाय तो यह दोष होता है। उदाहरणार्थ—

आप बड़े वीर हैं प्रतापी सूर अम्बर के
चन्द्र हैं निशा के और दीप हैं भवन के।

(८) **विसंधि**—विभिन्न पदों की व्याकरण सम्मत सन्धि करने पर यदि अश्लीलता, क्लिष्टता और कटुत्व का अनुभव होता है तो यह दोष होता है; जैसे—
मरु अंचल और तरु आली से मर्वंचल और तर्वाली में यह दोष है।

(९) **अर्द्धान्तरैकपदता**—यदि वाक्य में प्रयुक्त किसी वर्ण्य का वाचक दूसरे वाक्य में प्रविष्ट होकर बैठता है तो यह दोष होता है। उदाहरण—

यह चन्द्र करों से पिला रहा है
आज मधुरिमा मधु की।
जग को, मत यों रूठों, पी लो,
शीतल ज्योत्स्ना उस विधु की।

प्रस्तुत उदाहरण में जग को पद प्रथम वाक्य में ही होना चाहिए था।

(१०) **समाप्पुनराप्ता**—किसी वाक्य के समाप्त हो जाने पर प्रयोजनहीन ही उसका विस्तार किया जाय तो यह दोष होता है। उदाहरण—

कौन हो तुम वसन्त के दूत,
विरस पतझर में अति सुकुमार।

इसमें अतिसुकुमार कहकर उसका विस्तार आवश्यक नहीं था।

(११) **अभवन्मत सम्बधन्ता**—जब वाक्य में वर्णित विभिन्न अर्थों में किसी कारण से उचित सम्बन्ध का अभाव दृष्टिगत हो तो दोष होता है जैसे—

प्रान प्रानपति बिन रह्यो,
अब लौं धिग ब्रज लोंग। (भिखारीदास : काव्यनिर्णय)

इसमें धिक्कार का स्वर ब्रजवासियों के प्राणों को न होकर ब्रजवासियों को ही लागू होता है।

(१२) **अक्रमता**—जब वाक्य में पदों का नियोजन समुचित स्थान पर नहीं होता है तो यह दोष होता है। इसमें विभक्ति, चिन्ह, उपसर्ग, अव्यय आदि में भी व्यक्तिक्रम हो सकता है। जैसे—

सीता जू रघुनाथ को अमल कमल की माल।
पहिरायी जनु सबन की, हृदयावलि भूपाल ।। (केशव : रामचन्द्रिका)

इसमें भूपाल पद सबन के साथ मिलने पर भी उचित अर्थ देता है।

(१३) **अमतपरार्थता**—जब एक ही वाक्य में प्रकरण गत रस तथा उसके प्रतिकूल रस की एक साथ अभिव्यंजना हो तो यह दोष आता है; जैसे—

राम काम सायक लगे बिकल भई अकुलाइ।
क्यों न सदन पर-पुरुष को तुरत तारिका जाइ ।। (भिखारीदास)

यहाँ प्रकरणगत रस वीर है परन्तु उसके साथ व्यंजित रस शृंगार है।

(१४) **अनभिहितवाच्यत्व**—जिस वाक्य में अनिवार्यतः अपेक्षित उद्देश्य-विधेय भावादि-द्योतक वाचक पदों का अभाव हो, और उसके कथ्य का समुचित प्रभाव व्यंजित न हो पाता हो, वहाँ 'अनभिहितवाच्यव' दोष होता है।
उदाहरण में भी द्रष्टव्य है—

चतुर पाठक इस कथा से लीजिए उपदेश।
धनी और दरिद्र में है नहीं अन्तर लेश ।। (रामदहिन मिश्र : काव्यदर्पण)

(१५) **भग्नप्रक्रमता**—जहाँ वर्णन की जाने वाली वस्तुओं का क्रम आरम्भ से अन्त तक निभाया नहीं जाता वहाँ भग्न-प्रक्रम (प्रस्ताव) दोष होता है। जैसे—

यह वसन्त न खरी **गरम**, अरी न **शीतल** बात।
कह क्यों प्रगटे देखियत, **पुलक**, **पसीजे** गात ।। (बिहारी)

इसमें क्रम गलत हो गया है।

(१६) **प्रसिद्धित्यागत्व**—यदि वाक्य में कवि समुदाय व प्रयोग में प्रसिद्ध अर्थों तथा नियमों का पालन न किया जाय तो यह दोष होता है। उदाहरण के लिए मोर के साथ भूकना तथा स्यार कैं साथ कूकना नहीं होता है।

(१७) **अस्थानपदता**—यदि पद को वाक्य में अनुचित स्थान पर रख दिया जाता है तो यह दोष होता है; जैसे —

मेरे जीवन की एक प्यास
होकर सिकता में एक बंद। (रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण)

इसमें बंद के पूर्व आये 'एक' को सिक्ता के पहले ही स्थान दिया जाना चाहिए था।

(१८) **अस्थान संमासता**—जब वाक्य में समास योजना ही अनुचित स्थान पर हो जाती है तो यह दोष होता है।

(१९) **संकीर्णता**—जिस वाक्य में पदों का विन्यास ऐसा किया गया हो कि अर्थोपलब्धि में व्यवधान पड़ता हो तो वहाँ यह दोष होता है।

उदाहरण— धरो प्रेम से राम को,
पूजो प्रतिदिन ध्यान। (रामदहिन मिश्र : काव्य दर्शन)

इसमें कवि राम का ध्यान करके पूजने की बात करता है परन्तु पदों के अनुचित विन्यास के कारण अर्थ की संकीर्णता होती है।

(२०) **गर्भितत्व**—जब वाक्यों की योजना में एक वाक्यांश दूसरे में प्रविष्ट होता है तब गर्भितत्व दोष होता है। भिखारीदास के काव्य निर्णय से एक उदाहरण प्रस्तुत है—

साधु संग और हरिभजन, विषतरु यह संसारु।
सकल भाँति दुख से भर्‌यो, द्वै अमृत फल चारु॥

यह वास्तव में निम्न विन्यास से इस प्रकार दोष मुक्त किया जा सकता है; यथा—

सकल भाँति दुख से भर्‌यो, विषतरु यह संसारु।
साधु संग औ हरि भजन, द्वै अमृतफल चारु॥

(२१) **दुष्टान्वय**—जब वाक्य में अन्वय दोष के कारण अभिप्रेत अर्थ की उपलब्धि में कठिनाई हो तो यह दोप होता है, जैसे रामदहिन मिश्र के इस काव्यांश में प्रस्तुत है—

थे दृग से झरते अग्निखण्ड
लोहित थे ज्यों हिंसा प्रचण्ड।

(२२) **मुहावरादोष**—वाक्य रूप में मुहावरे का गलत प्रयोग होने से यह दोष होता है; उदाहरण—

भारी है जीवन! भारी पग!! (पन्त : पल्लविनी)

भारी पग, गर्भवती होने के अर्थ में आता।

(घ) **अर्थदोष**—यह वहाँ होता है जहाँ पदों के संयोजन में दोप नहीं होता है परन्तु अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति दोषपूर्ण होती है। पद दोष और वाक्य दोष शब्द दोष कहलाते हैं। ये अर्थ तत्व को भी प्रभावित करते हैं परन्तु इन्हें अर्थ दोष नहीं माना जाता। शब्द दोष दूर किये जा सकते हैं परन्तु अर्थ दोष को दूर करने में व्यंजित करने वाले अर्थ के स्वरूप में परिवर्तन करना होता है। अर्थदोष काव्य प्रकाश के अन्तर्गत २३ माने गये हैं। यथा—

अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्या तपुनरुक्तदुष्क्रमग्राम्याः॥
सन्दिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च।
अनवीकृतः सनियमानियम विशेषा विशेष परिवृत्ताः॥

साकाङ्क्षोऽपदयुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धः ।
विध्यनुवादायुक्तत्यक्तपुनः स्वीकृतोऽश्लीलः ॥

(काव्य प्रकाश, पृ० ३०७१/५५-५७)

अर्थात् (१) अपुष्टत्व, (२) ग्राम्यत्व, (३) दुष्क्रमता, (४) व्याहतत्व (५) अश्लीलता, (६) कष्टत्व, (७) अनवीकृतत्व, (८) निर्हेतुता, (९) प्रकाशितविरुद्धता, (१०) संदिग्धता, (११) पुनरुक्तता, (१२) ख्यातिविरुद्धता, (१३) विद्याविरुद्धता, (१४) साकाङ्क्षता, (१५) सहचर भिन्नता, (१६) अस्थानयुक्तता, (१७) अनियम-परिवृत्तत्व, (१८) सनियमपरिवृत्तत्व, (१९) अविशेषपरिवृत्तत्व, (२०) विशेष परिवृत्तत्व (२१) विध्ययुक्तता, (२२) अनुवादायुक्तता एवं (२३) त्यक्त-पुनः स्वीकृतत्व ।

इनमें से प्रमुख दोषों का वर्णन नीचे किया जा रहा है—

अनवीकृतत्व—जब अर्थ की योजना बिना किसी नवीनता या विलक्षण के साथ की जाय तब यह दोष होता है; जैसे—

कोटि कलशों पर प्रणीत विहंग है ।
ठीक जैसे रूप वैसे रंग है ॥ (मैथिली शरण गुप्त : साकेत)

निर्हेतुता—जब बिना किसी हेतु का प्रतिपादन किये कोई भी अर्थ की अभिव्यक्ति की जाती है तो यह दोष होता है ।

प्रकाशित विरुद्धता—जब अर्थ की प्रतीति ऐसे ढंग से की जाती है कि कोई दूसरा विरुद्ध अर्थ भी प्रकाशित होने लगता है तो यह दोष होता है । प्रसाद की कामायनी से एक उदाहरण प्रस्तुत है—

मनु निरखने लगे ज्यों ज्यों
यामिनी का रूप ।
वह अनन्त प्रगाढ़ छाया
फैलती अपरूप ॥

इसमें अपरूप शब्द बंगला के अपूर्व अर्थ में आया है । हिन्दी में वह विकृत हो जाता है ।

साकाङ्क्षता—जहाँ सम्पूर्ण अर्थ अभिव्यक्ति के लिए अन्य वाचक पदों की आकांक्षा बनी रहती है वहाँ यह दोष होता है । कामायनी से एक उदाहरण प्रस्तुत है—

इधर रह गन्धर्वों के देश
पिता की हूँ प्यारी संतान । (प्रसाद)

इसमें वाचक पदों की आकांक्षा बनी रहती है ।

सहचर भिन्नत्व—जब सजातीय और विजातीय कई वस्तुयें या अर्थों का अभिकथन एक साथ किया जाय तो यह दोष होता है । जैसे—

बैद को बैद, गुनी को गुनी, ठग को ठग मूक को मन भावै
काग को काग, मराल मराल को काँधे गधा को गधा खुजलावै ।
कवि कृष्ण कहे बुध को बुध त्यों, अरु रागी को रागी मिलै सुर गावै
ज्ञानी सों ज्ञानी करै चरचा, लबरा के ढिगौ लबरा सुख पावै ॥
(कृष्णकवि)

इसमें औचित्य पर विचार किये बिना विभिन्न प्रकृति के व्यक्तियों को एक साथ रख दिया गया है ।

अनियमपरिवृत्तत्व—जब अनियमित रूप में वर्णित की जाने वाली वस्तु का वर्णन नियमित रूप में कर दिया जाता है तब यह दोष उत्पन्न होता है, जैसे यह कहा जाय कि हे राजा तुम्हारे मुख में सरस्वती रहती है और तुम्हारे अधर शोण हैं ।' तो यदि अधरों को शोण-सा नहीं बताया जाता है तो नियमविरुद्धता आती है ।

सनियमपरिवृत्तत्व—इसमें नियमित रूप से वर्णित वस्तु के अर्थ को अनियमित रूप में वर्णित करने पर यह दोष होता है । यह अनिमय परिवृत्तत्व का उल्टा है ।

अविशेषपरिअवृत्तत्व—इसमें सामान्य रूप से वर्णनीय वस्तु का विशेष रूप से वर्णन किया जाय तब यह दोष होता है । जैसे—

सागर ! क्यों भीम तरंग-करों से अपने,
आश्रित मणियों का करते संतत ताड़न ?
क्या कौस्तुभ मणि ने नहीं बनाया याचक
हरि को भी, करने को निज उर पर धारण ? (समदर्शी)

यहाँ पर उपालम्भ रूप में दिये गये अर्थ का विस्तार सामान्य रूप से ही होना चाहिए था न कि मणि विशेष कौस्तुभ को सीधे सामने लाकर के ।

विशेषपरिवृत्तत्व—जब विशेष रूप से वर्णनीय वस्तु का वर्णन सामान्य रूप से कर दिया जाय तो यह दोष होता है ।

विध्ययुक्तता—जब अविधेय अर्थ का विधेय रूप में कथन किया जाय तो यह दोष होता है । भट्ट नारायण के वेणीसंहार से एक उदाहरण इस प्रकार है—

भीषण संग्राम मचाऊँगा मैं रण में
हरि-पाण्डव को जन देख नहीं पायेंगे ।
वन्दी जन की स्तुतियों से प्रात जगे तुम
लखना–रण की सब कथा शेष पाएँगे ॥

यहाँ पर अन्तिम दो पंक्तियों में अविधेय अर्थ का विधेयगत वर्णन कर देने से कवि का उद्देश्य असिद्ध हो गया है ।

अनुवादायुक्तता—जहाँ विधेय अर्थ के प्रतिकूल अनुवाद्य वा उद्देश्य का कथन किया जाय, वहाँ अनुवादायुक्तता दोष होता है; यथा—

रे केशव कर आमरण, मोदकरन, श्री धाम ।
कमल बिजोगी-जिउ-हरन, कहाँ प्रिया अभिराम ॥ (भिखारीदास : काव्यनिर्णय)

इसमें कमल से वियोगी अपनी प्राणप्रिया का खोज करना चाहता है परन्तु वह उसे वियोगियों के प्राण को हरने वाला भी कहता है इसलिए यह विधेय अर्थ के प्रतिकूल उद्देश्य कथन माना जायगा।

इस प्रकार अर्थ दोष के अन्तर्गत पददोष और वाक्यदोष भी आ जाते हैं। इन सब का सम्बन्ध रसदोषों से है। ये रसदोष अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं और प्रायः प्रबन्ध के अन्तर्गत पाये जाते हैं। मुक्तक में नहीं।

(ङ) **रसदोष**—सहृदयों के रसास्वादन में अपकर्ष, विरोध, विलम्ब, व्याघात व उद्वेग उत्पन्न करने वाले तत्व रसदोष हैं। मम्मट ने काव्य प्रकाश में १३ प्रकार के रसदोष माने हैं—

व्याभिचारि-रस-स्थायिभावानां स्वशब्द वाच्यता।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः॥
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्ति पुनः पुनः।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अंगस्याप्यतिविस्तृतिः॥
अंगिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः।
अनंगस्याभिधानञ्च रसे दोषाः स्युरीदृशाः॥

(काव्य प्रकाश, उ० ७-६०-६२)

(१) **रस स्थायीभाव व्यभिचारि भावों की स्व शब्द वाच्यता**—जहाँ इन सब की पुष्टि सम्बन्धित भावों की वर्णना से न होकर उनके शब्दशः कथन से किया जाय वहाँ यह दोष होता है। यथा—

(अ) 'माषे लषन कुटिल भई भौंहें, रदपट फरकत नैन रिसौहें में रिसौहें' कहकर 'क्रोध' स्थायी को स्पष्ट सूचित कर दिया गया है। ऐसे ही,

मुख सुखाहि लोचन स्रवहि सोक न हृदय समाइ।
मनहुँ करुनरस, कटकई उतरी अवध बजाई।

में 'शोक' स्थायी और 'करुण' रस का नाम लेकर उनका वर्णन किया गया हैं।

(२) **विभावानुभाव की कष्ट साध्य कल्पना**—जहाँ विभाव-अनुभावों की कल्पना में कठिनाई हो वहाँ यह दोष होता है। यथा—

यह अवसर निज कामना
क्यों न पूर्ण कर लेते।
ये दिन आयेंगे नहीं,
सब होयेंगे रीते।

इन पंक्तियों में यह पता नहीं चलता कि आलम्बन-आश्रय शान्त या शृंगार में से किसका है।

(३) **प्रकृत रस विरोधीविभावानुभावों की वर्णना**—जब मुख्य रस के प्रतिकूल या विरोधी रस के विभावानुभावों की वर्णना की जाय तो यह दोष होता है। शृंगार के बीच शान्त का एक वर्णन इस प्रकार है—

बैठी गुरुजन बीच सुनि बालम बंसी चारु।
सकल छोड़ि वन जाऊँ यह तिय हिय करत विचारु॥

(४) **अंगभूत रस की पुन: पुन: दीप्ति**—इसमें रस का वह दोष आता है जो अभीष्ट वर्णन से अतिरिक्त रूप में बार-बार किया जाता है। कुमार सम्भव में महाकवि कालीदास ने करुण रस का बार-बार दीपन किया है।

(५) **अनवसर में रस वर्णना**—रस वर्णना का अवसर न रहने पर भी यदि उसका वर्णन किया जाय तो यह दोष होता है। जैसे करुण रस के मध्य शृंगार का वर्णन इस उदाहरण में आया है—

सजि सिंगार सर पै चढ़ी
सुन्दरि निपट सुवेस।
मनो जीति भुवलोक सब
चली जितन दिवि देस॥ (भिखारीदास : काव्य निर्णय)

(६) **अनवसर में रस विच्छेद**—जब रस विशेष का परिपाक हो रहा हो और उसे सम्पूर्णता पर पहुँचाये बिना उसका विच्छेद कर दिया जाय तो यह दोष होता है।

राम आगमन सुनि कह्यो
राम बन्धु सों बात।
कंकन मोहि छोड़ाइबे,
उतै जाहु तुम तात॥

यह उदाहरण वीर रस का परिपाक करने वाला था परन्तु बीच में ही वीर रस का विच्छेद हो जाता है।

(७) **अप्रधान का अतिविस्तृत वर्णन**—महाकवि भारवि के किरातार्जुनीयम् नामक वीररस के महाकाव्य में अप्सराओं की विलास क्रीडा का विस्तार से वर्णन किया गया है। यह शृंगार रस से सिक्त है इसलिए यहाँ पर यह दोष बन गया है।

(८) **प्रधान का विस्मरण**—जहाँ पर प्रधान रूप से अवस्थित रस या नायिका आदि का अवान्तर विषयों के वर्णन क्रम में विस्मरण कर दिया जाय तो यह दोष होता है।

(९) **प्रकृति विपर्यय या अनौचित्य**—जहाँ पर देश, काल, पात्र आदि के प्रकृत रूप, गुण क्रिया से असम्मत वस्तु या तथ्य की वर्णना की जाय वहाँ यह दोष होता है; जैसे—

मैं हूँ मानव—पंखों के बल
उड़ता हूँ मैं अम्बर में

(१०) **रस के अनुपकारक की वर्णना**—जहाँ रस के अनुपकारक तत्वों की वर्णना की जाय वहाँ यह दोष होता है जैसे—हास्य का वर्णन करुणा में या करुणा में वीर का वर्णन होना। ऐसा करने से प्रतिपाद्य रस वर्णना प्रभावशाली नहीं होती है। ऐसा विरले ही होता है कि इस विरोध का परिहार हो। परन्तु नीचे के उदाहरण में

इसकी चेष्टा की गयी है। आचार्य रामदहिन मिश्र ने रति, वीभत्स के मिश्रित रूप को परिहार के साथ प्रस्तुत किया है—

कूरम नरिंद देव कोप करि बैरिन तें
सहदल की सेना समसेरन ते मानी है।
भनत 'कविंद' भाँति-भाँति दे असीसन को
ईसन के सीस पै जमात दरसानी है।
वहाँ एक योगिनी सुभट खोपरी को लिये
सोनित पिवत ताकी उपमा बखानी है।
प्याली लै चीनी की छकी जोवन तरंग मानो
रंग हेतु पीवत मजीठ मुगलानी है।

———

दसम् अध्याय

साहित्य के अन्य भेदोपभेद

काव्य श्रव्य और दृश्य दोनों माना गया है। श्रव्य के अन्तर्गत पद्य के प्रमुख भेदों की चर्चा प्रथम अध्याय में हो चुकी है। गद्य के भेद एवं दृश्य काव्य के प्रकारों की विवेचना यहाँ की जा रही है। दृश्य काव्य प्राचीनकाल से ही पूर्वी और पश्चिमी दोनों क्षेत्रों में विशेष प्रचलित रहा है। एक दीर्घ परम्परा होने के कारण दृश्यकाव्य में बहुविधा विकास भी हुआ है। दृश्य काव्य में प्रदर्शन का तत्व अत्यधिक महत्वपूर्ण है और इसी से वह श्रव्यकाव्य से कहीं अधिक जनप्रिय है। प्रदर्शन अभिनय का दूसरा रूप है। अभिनय को आचार्य विश्वनाथ ने चार प्रकार का माना है—आंगिक, वाचिक, आहार्य्य और सात्त्विक। अभिनय की ये चारों अवस्थाएँ प्राप्त होने पर नाटक की परिणति होती है। **आंगिक**—अंगों की क्रियाओं, भंगिमाओं और मुद्राओं में सीमित होता है। **वाचिक**—वाणी, उक्तियों के छन्द, स्वर और शैली के अनुकरण में निहित रहता है। **आहार्य्य** में पात्रों की वेशभूषा और अनुकार्य की प्रकृति सम्बन्धी चेष्टाओं का अनुकरण होता है, और **सात्विक** में स्तम्भ, विवर्णता, स्वेद, रोमांच आदि का उद्रेक होता है। इस प्रकार चारों अभिनयों अथवा अनुकरणों की नाटक में अपेक्षा होती है।

संस्कृत में दृश्य काव्य के दो भेद मिलते हैं (१) रूपक और (२) उपरूपक। रूपकों में रस की प्रधानता रहती है और उपरूपक में नृत्य, नृत्त आदि की। (अभिनय रहित नाच नृत्त होता है) और आंगिक अभिनय जहाँ प्रधान होता है वह नृत्य कहलाता है।

रूपक—इसके दस भेद माने गये हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, व्यायोग, समवकार, डिम, वीथी, अंक, ईहामृग।

उपरूपक—के नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेखण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीस तथा भाणिका आदि अन्य दश भेद हैं।

हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग में नाटक और एकांकी का विशेष प्रचलन हुआ है अतः हम नाटक और एकांकी के तत्वों, भेदों आदि पर ही संक्षेप में विचार करेंगे।

नाटक—यह 'रूपक' का सबसे महत्वपूर्ण भेद है। इसमें नाट्यशास्त्र के

अधिकांश अभिनय सम्बन्धी लक्षणों का समावेश मिलता है। साहित्यदर्पण में नाटक के लक्षणों को इस प्रकार बताया गया है—

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पंच सन्धि समन्वितम्।
विलासधर्मादि गुणवद् युक्तं नाना विभूतिभिः ॥३०४॥
सुख-दुख समुद्भूति नानारस निरन्तरम्।
पंचाधिकादश परास्त त्रांकाः परिकीर्तिताः ॥
प्रख्यात वंशो राजर्षि धीरोदात्तः प्रतापवान्।
दिव्योऽथ दिव्या दिव्यो वा गुणवान्नायकों मतः ॥३०६॥
एक एव भवेदंगी श्रृंगारो वीर एव वा।
अंग मन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणोऽद्भूतः ॥३०७॥
चत्वारः पंच वा मुख्याः कार्य व्यापृत पुरुषाः।
गोपुच्छाग्रसमागन्तु बन्धनं तस्य कीर्तनाम् ॥३०८॥
प्रत्यक्ष नेतृचरितो रसभाव समुज्ज्वलः।
भवेद गूढ़ शब्दार्थः क्षुद्र चूर्णक संयुतः ॥३०९॥
दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादि विप्लवं:।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्युरतं तथा ॥३१३॥
दन्तच्छेद्यम् नखच्छेद्यमन्यद् व्रीड़ा करञ्च यत्।
शयनाधर पानादि नगराद्य वरोधनम् ॥३१४॥
स्नानानुलेपने चैभिर्वजितोनाऽति विस्तरः।
देवीं परिजनादी नाम मात्य वणिजामपि ॥३१५॥
प्रत्यक्ष चित्र चरितैर्युक्तो भावरसोद्भवैः।
अन्त निष्कान्त निखिल पात्रोऽक इति कीर्तितः ॥३१६॥

अर्थात् नाटक में प्रयुक्त कथावस्तु ऐतिहासिक, पौराणिक अथवा किसी अन्य प्रकार से प्रसिद्ध होनी चाहिए। उसमें पाँचों संधियों का नियोजन हो और ५ से १० अंकों में उसका विस्तार हो। नायक प्रख्यात, कुलीनवंशी हो, चाहे वह राजर्षि हो अथवा प्रतापी या धीरोदात्त या दिव्य अथवा दिव्यादिव्य वह कोई भी व्यक्ति हो सकता है। कथावस्तु का संगठन गोपुच्छ की भाँति होना चाहिए अर्थात् प्रारम्भ में अंक बड़े और अन्त की ओर छोटे होते जायें। अनेक ऐसी बातें हैं जिनका अभिनय ही निषिद्ध माना गया है जैसे कि सूच्य विषयों में लम्बी यात्रा, मृत्यु, वध, युद्ध, देश का विप्लव, नगर का घेरा डालना, भोजन, शयन, स्नान, अनुलेपन, चुम्बन, वस्त्र-धारण। मृत्यु की सूचना देने की अनुमति है पर वह भी विस्तार से नहीं।

भारतीय नाटकों का उद्देश्य धर्म अर्थ काम की प्राप्ति है इसलिए जीवन के आदर्शों को अभिव्यक्त करने का उपक्रम होना चाहिए। नायक और नायिका की वृत्तियों के सन्दर्भ में भी भरत ने निर्देश दिये हैं। इसी प्रकार भाषा प्रयोग में भी पात्रों के स्तर के अनुसार अपेक्षित भाषाओं की सूची प्रस्तुत की गई। नाटक के

प्रारम्भ से लेकर अन्त तक का ऐसा आदर्श विधान अन्यत्र दुर्लभ है। रस सिद्धान्त नाट्यशास्त्र का चिरऋणी रहेगा क्योंकि भरत मुनि रस को नाटक के माध्यम से विवेचित किया था। इस प्रकार नाटक की भारतीय परम्परा अत्यन्त समृद्ध है। कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक का सर्वोत्तम उदाहरण है।

(२) **प्रकरण**—जिसमें कथावस्तु एवं कल्पित एवं लौकिक हो और अंगी-रस के रूप में श्रृंगार रस आवे तो 'प्रकरण' होता है। इस रूपक भेद में नायक धीर, प्रशान्त और अर्थ, धर्म, काम में निरत होता है, वह कहीं ब्राह्मण, कहीं बणिक या अमात्य होता है। इसके साथ में नायिका या तो कुलीन कन्या होती है अथवा वेश्या। इस रूपक भेद की अन्य बातों में नाटक के समान विशेषताएँ होती हैं। संस्कृत नाटकों में मालती-माधव, मृच्छकटिक, पुष्प-भूषित आदि को इसका सर्वोत्तम उदाहरण माना जाता है।

(३) **भाण**—धूर्तों और दुष्टों के चरित्र को इस रूपक भेद में उद्घाटित किया जाता है। कथानक कल्पित एवं हास्य रस प्रधान होता है। नायक स्वानुभूति से अथवा परानुभूति की बातें आकाश को देखकर कहता है और उत्तर भी देता जाता है। भाण में एक ही अंक होता है। मुख्य उदाहरण में 'लीला-मधुकर' का नाम लिया जाता है।

(४) **व्यायोग**—प्रख्यात कथावस्तु को धारण करने वाले इस रूपक भेद में स्त्रियाँ या तो बिल्कुल ही नहीं होती हैं अथवा उनकी संख्या कम होती है। इसमें नायक धीरोदात्त होता है तथा कैशिकी वृत्ति को वर्जित माना गया है। एक ही दिन की कथा को व्यायोग रचयिता वीर रस की अभिव्यक्ति के साथ एक अंक में समाप्त करता है। भास का 'मध्यम-व्यायोग' इसका उत्तम उदाहरण है।

(५) **समवकार**—तीन अंकों में प्रख्यात कथा का निर्वाह करने वाला यह रूपक भेद वीर रस प्रधान होता है। इसका नायक धीरोदात्त होता है। नायकों की संख्या कभी-कभी १२ तक होती है। इसमें कैशिकी वृत्ति वर्जित है। कथा का विस्तार ३६ घड़ी तक का होता है। अनेक नायकों के होने के कारण प्रत्येक की क्रिया और फल अलग होते हैं। इसमें बिन्दु और प्रवेशक नहीं होते। उत्तम उदाहरण के रूप में 'समुन्द्र मंथन' का नाम लिया जा सकता है।

(६) **डिम**—पौराणिक कथा और रौद्र रस प्रधानता में होने के कारण डिम में देव, गन्धर्व और यक्षादि से मिलकर १६ नायक तक होते हैं। कथावस्तु चार अंकों में विभाजित रहती है। इसमें बिष्कंभ और प्रवेशक नहीं होते हैं। इसमें कैशिकी वृत्ति और हास्य, शान्त और श्रृंगार रसादि वर्जित होते हैं। इसका अन्यतम उदाहरण 'भरतमुनि' रचित 'त्रिपुरदाह' है।

ईहामृग—इस रूपक भेद में प्रख्यात और कल्पित दोनों वृत्तों का मिश्रण होता है। कथा चार अंकों में विभक्त होती है। नायक और खलनायक धीरोद्धत नर या देव होते हैं। मृग की भाँति अलभ्य कामिनी की इच्छा का विषय होता है और

शृंगार रस की प्रधानता होती है। नायक और खल नायक युद्धोद्धत होते हैं पर युद्ध हो नहीं पाता है। खल नायक का वध भी नहीं हो पाता और नायक को नायिका भी नहीं मिलती है तथा वह मरने से बच जाता है। आधुनिक साहित्य में इसका प्रयोग प्रायः नहीं है।

अंक—इसमें प्रख्यात कथा को कवि कल्पना द्वारा विस्तार देता है। नायक साधारण पुरुष होता है। करुण रस की प्रधानता होने के कारण इसमें स्त्रियों के शोक का वर्णन विपुलता से मिलता है। अंक में एक प्रकार का वाक् युद्ध होता है और अनेक निर्वेद वचनों का प्रयोग होता है। भारती वृत्ति की प्रधानता इसकी प्रमुख विशेषता है। उदाहरण के रूप में 'शर्मिष्ठा-ययाति' के लिए प्रस्तुत किया जाता है। इसकी परम्परा प्राचीन साहित्य तक ही रही है।

वीथी—यह 'भाण' से मिलता-जुलता होता है। कल्पित कथा में उत्तम, मध्यम या अधम में से एक नायक होता है। शृंगार रस, विनोद और अलौकिक तथ्यों से पूर्ण यह रूपक-भेद एक ही अंक का होता है। आकाश भाषित की तरह के प्रयोग एवं मुख और निर्वहण संधियाँ सभी अर्थ प्रकृतियों के साथ आती हैं। इसका प्रयोग संस्कृत साहित्य में मिलता है।

प्रहसन—हास्य रस प्रधान यह रूपक भेद कल्पित कथा से युक्त होता है। इसमें निन्दनीय लोगों की प्रधानता रहती है। तपस्वी, सन्यासी आदि को नायक बनाया जाता है और किसी न किसी उपदेश को अंत में प्रेषित किया जाता है। प्रहसन का प्रचलन आधुनिक युग में भी रहा है।

रूपक के भारतीय भेदों की चर्चा के उपरान्त आधुनिक युग में उसके बहुचर्चित भेद नाटक के तत्वों और उसके पाश्चात्य रूप पर विचार करना इसलिए आवश्यक है क्योंकि आधुनिक नाटक में पाश्चात्य नाटक के प्रभाव स्पष्ट लक्षित होते हैं। साथ ही, इसमें भारतीय नाट्य परम्परा की तुलना में पाश्चात्य नाट्य परम्परा का आभास भी मिल जायगा।

पाश्चात्य नाटक

पश्चिमी नाटक के सम्बन्ध में अरस्तू ने अपने ग्रन्थ 'काव्यशास्त्र' में महत्व पूर्ण बातें प्रस्तुत की थी। नाटक का अंग्रेजी पर्याय 'ड्रामा' है। ड्रामा के साथ दो और शब्दों की चर्चा की जाती है—थियेटर और ऑडिएन्स। इन तीनों शब्दों में पर्याप्त अन्तर है। ड्रामा 'कृत' थियेटर 'प्रेक्षागृह' और ऑडिएन्स 'प्रेक्षक वृन्द' को प्रस्तुत करते हैं। यूनान में ड्रामा वयस्कों की शिक्षा एवं मनोरंजन के लिए माना जाता था, इसमें मानव की मूक अनुकृतियों से लेकर धार्मिक और दार्शनिक विचार प्रधान नाट्य रचनायें आती थीं। आधुनिक युग में पश्चिम में भी नाटक सम्बन्धी परिभाषा में बड़ी स्पष्टता बरती गई है। आज के नाटक पाठ्य और अभिनेय दोनों हैं। उनमें बुद्धि की प्रधानता है।

अरस्तु ने नाटक के दोनों प्रकारों (सुखान्त और दुःखान्त) की व्याख्या की है। नाटकों के उत्थान में उसने यूनान की परम्परागत नाट्य व्यवस्था में धार्मिक कृत्यों के बीच होने वाले सहगानों का उल्लेख करके, एक ऐतिहासिक सन्दर्भ प्रस्तुत किया और मनोवैज्ञानिक विवेचन के माध्यम से नाटकीय संवेगों की व्याख्या की। अरस्तू का प्रमुख विचार यह है कि सृष्टि के अन्य जीवों से मनुष्य इसलिये श्रेष्ठ है क्योंकि वह स्वाभाविक रूप में अनुकरण कर सकता है। ड्रामा का अर्थ 'कृत' इसी अनुकरण में ही चरितार्थ होता है। धार्मिक कृत्यों को भी इसी अर्थ में नाटक का मूल स्रोत माना जाता है।

यूरोपीय नाट्य साहित्य पर विचारते समय हमारा ध्यान बरबस यूनान के उन ग्राम्य समारोहों पर जाता है जो एटिका प्रदेश में विशिष्ट अवसरों पर प्रकृति देवता डायनिसस के सम्मान में होते थे। इन समारोहों का प्रचलन वैक्सस नामक मद्य देवता की पूजा से हुआ था। इनमें भाग लेने वाले लोग अपना आधा शरीर अजा चर्म से ढँक लेते थे और वेदी के चारों ओर नाचते गाते हुए अजागीत के माध्यम से देवता की स्तुति करते थे। कुछ समय के बाद एटिका निवासी थेस्पिस ने गीतों के मध्य संवाद, कथा, व्यंग्यानुकरण आदि का समावेश किया और एक अभिनेता के माध्यम से गायन और वार्तालाप के द्वारा इन्हें प्रस्तुत किया। इसी के उपरान्त रंगशाला आदि का विधान हुआ। नाटकों के अनेक प्रकार वैसे ही विकसित हुए जैसे कि भारत में।

पश्चिम में दो प्रकार के नाटकों की प्रधानता रही (१) ट्रैजिक (दुखान्त विषादिका) और (२) कॉमिक (सुखान्त, प्रमोदिका)। इन दोनों संज्ञाओं से स्पष्ट है कि ट्रैजेडी अर्थात् त्रासदी का अन्त दुखद होता है और कामेडी अर्थात् कामदी का सुखद। ६०० ई० पू० से मध्यकाल तक नाटक का विविध प्रकार से विकास हुआ। मनोरंजन के साथ-साथ जीवन की गम्भीर समस्याओं पर भी विचार किया जाने लगा। मध्यकालीन इंग्लैण्ड में इसीकारण नाटकों की विविधता दृष्टिगत होती है जैसे अलौकिक नाटक (मिरेकिल नाटक), रहस्यात्मक नाटक (मिस्टरीज), भावावेश प्रधान नाटक (पैशन प्लेज), नैतिक नाटक (मॉरेलिटीज)। इस नाट्य शैलियों के मिश्रित रूप भी मिले जिनसे आधुनिक नाटक की रूपरेखा बनी। इनमें संगीत-नाट्य दुखान्त और प्रहसन (सुखान्त) का श्रेष्ठ मिश्रित रूप है। संगीत नाटक की कल्पना रिश्यूविनी नामक व्यक्ति ने की थी। प्रहसन या सुखान्त (कामदी) के अनेक रूप अठारहवीं शताब्दी में सामने आए—शिष्टाचार विषयक (कॉमिडी ऑफ मैनर्स) भँड़ैती (फार्स), नकल (मास्क), स्वाँग (बर्लेस्क), हास्य प्रधान नृत्य गीत-नाट्य (वादेविले), मूक अभिनय (पेण्टमाइम), नृत्याभिनय (वॉले) और संगीत-नाट्य (मेलोड्रामा) से संगीत नृत्यमय नाटक (म्यूजिक ऑपेरा) आदि।

पशिचम में एकांकी का उद्भव बहुत पहले हो चुका था परन्तु अठारहवीं शताब्दी में वह अधिक प्रसिद्ध हुआ और इसी समय उसमें पद्य की अपेक्षा गद्य का

प्रयोग हुआ। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि पश्चिम में नाट्य साहित्य पर व्यवस्थित विचार देने वाला अरस्तू ही है।

नाटक के तत्व एवं भेद

पूर्व और पश्चिम में नाटक के तत्वों में पर्याप्त समानता होते हुए भी एक विशिष्ट अन्तर भी है अत: दोनों दृष्टिकोणों को पृथक् समझने से नाटक की समग्रता का दर्शन होगा।

भारतीय—पूर्व में नाटक को पंचम वेद के रूप में स्वीकार किया गया है और चारों वेदों से एक एक तत्व लेकर उसकी संयोजना की गई है। भरत मुनि के कथनानुसार—

"जग्राह पाठ्य ऋग्वेदात्, सामभ्यो गीत मेव च,
यजुर्वेदाभिनयान् रसानार्थवणादपि ॥"

इस वेद को वे सभी व्यक्ति पढ़ और आनन्द ले सकते हैं जिन्हें वेदों को पढ़ने का अधिकार नहीं है।[1] भरतमुनि के उपरान्त दशरूपककार ने 'वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः' कहकर नाटक के प्रमुख तीन तत्व माने हैं। इन्हीं तत्वों को बाद में विस्तार से विवेचित किया गया है।

१. वस्तु—विद्वानों ने वस्तु के अधिकारी, इतिवृत्त, संवाद और अभिनय की दृष्टि से अनेक उपभेद किए हैं। प्रमुख का वर्णन यहाँ प्रस्तुत है। कथावस्तु की दृष्टि से वस्तु को प्रख्यात, कल्पित अथवा इन दोनों के मिश्रित रूप में माना जाता है। जहाँ तक अधिकारी अर्थात् नायक की बात आती है वस्तु के मुख्य अथवा आधिकारिक और गौण अथवा प्रासंगिक दो भेद सामने आते हैं। नायक अथवा अधिकारी वही व्यक्ति कहलाता है जो फल को भोगने वाला होता है इसीलिए उससे संबद्ध कथा मुख्य या आधिकारिक होती है। शेष को प्रासंगिक कहा जा सकता है। बड़ी कथा की दूसरी संज्ञा पताका और छोटी की प्रकरी है। नाट्यशास्त्र में 'पताका' और 'प्रकरी' शब्द विशेष प्रचलित हैं। कथा का मुख्य 'कार्य' 'फल' की प्राप्ति कराना होता है। अत: कार्य की अवस्थाओं पर भी भारतीय नाट्यशास्त्र में विचार किया है। ये कार्यावस्थायें—आरम्भ, यत्न अथवा प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम हैं। इनमें जैसा कि नाम से स्पष्ट है, आरम्भ में कार्य की प्रारम्भिक अवस्था, यत्न में प्रयत्नशीलता, प्राप्त्याशा में फल प्राप्ति की आशा; पर सन्देह का वातावरण रहना, नियताप्ति में निश्चित प्राप्ति की स्थिति होना और फलागम में सम्पूर्ण फल की प्राप्ति आदि आते हैं। कथा के साथ अर्थ प्रकृतियों—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य-तथा पंच संधियों—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण आदि का विशेष समायोजन भारतीय नाटक में माना गया है।

---

१. न वेद व्यवहारोऽयं सश्रांव्यः शूद्र जातिषु,
तस्मात् सृजापरं वेद पंचम सर्ववाणिकम् ॥

अभिनय की दृष्टि से कथा को दो प्रकारों में प्रस्तुत किया जाता है—सूच्य और वाच्य। वाच्य की अपेक्षा सूच्य का विधान उन महत्वपूर्ण क्षणों के लिए होता है जहाँ कथा धारा खण्डित होने लगती है अर्थात् सूच्य-कथा नाटक के उद्देश्य से सीधे संवद्ध न होकर केवल मुख्य कथा की अखडता कायम रखने का कार्य करती है। 'सूच्य' का दूसरा नाम 'अर्थोपक्षेपक' है। ये पाँच प्रकार के होते हैं—

विष्कंभक—जिसमें भूत और भविष्य की घटनाओं की सूचना विष्कंभक देता है।

प्रवेशक—विष्कंभक के समान होता है परन्तु सूचना देने का कार्य नीच पात्र के द्वारा होता है।

चूलिका—नेपथ्य से किसी घटना की सूचना देने को कहते हैं।

अंकावतार—अंक के अन्त में आगामी अंक में घटित घटना की सूचना देने पर होता है।

अंकमुख—पिछले अंक में जिस पात्र ने आगामी अंक की सूचना दी थी, यदि वह अगले अंक में रंगमंच पर कार्य करता है तब होता है।

पात्रों के संवाद तीन प्रकार के होते हैं—अश्राव्य जैसे स्वगत, नियतश्राव्य जैसे कुछ के द्वारा ही सुना जाना और सर्वश्राव्य जैसे सबके द्वारा सुना जाना। पात्रों के प्रवेश के अनुसार उनके नाम निर्धारित किए गए हैं। जो पात्र नाटक के प्रारम्भ में आते हैं उन्हें सूत्रधार, नटी, स्थापक आदि की संज्ञा दी जाती है। निर्विघ्न नाटक समाप्ति के लिए नान्दी पाठ की योजना ऋतु के अनुसार गान होना और वार्तालाप के उपरान्त मूल कथा को प्रारम्भ करने का विधान महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार कथा में कतिपय वर्जनाओं पर भी ध्यान देना अनिवार्य है। मंच की वर्जनाएँ ये हैं—शयन, चुम्बन, स्नान, युद्ध, वध, राज्य विप्लव, देश विप्लव, विवाह, भोजन, मलोत्सर्ग, मृत्यु, रति, दन्तच्छेद, नखच्छेद आदि।

भारतीय नाटक में कथावस्तु के अन्तर्गत बड़ा कठोर विधान था। शनैः शनैः व्यवहारिक स्तर पर इन मान्यताओं में अन्तर आया है। आधुनिक युग में वध आदि के दृश्य नाटकों में प्रस्तुत किए जाते हैं।

२. नेता—भारतीय आचार्यों की दृष्टि में नाटक का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व नेता है। नेता तथा अन्य पात्रों की सहायता से कथावस्तु का विकास होता है। नाटक के उद्देश्य की पूर्ति के लिए नेता अर्थात् नायक की स्थिति अत्यन्त महत्व रखती है इसलिए उसे अन्य पात्रों से अलग रखकर किन्हीं गुणों से सज्जित माना गया है। आचार्यों ने नायक को सभी गुण सम्पन्न माना है वह उच्च शील, नम्र, प्रज्ञावान, उत्साही, कलाविद्, शास्त्रज्ञ, युवा आदि सभी कुछ होता है। इसी के अनुसार नायिका के गुणों पर भी चर्चा की गयी है। नायक की चार प्रकृतियाँ—उदात्त, उद्धत, ललित और प्रशान्त—प्रसिद्ध हैं।

नायिका का सामान्य अर्थ नायक की पत्नी से लिया जाता है पर वर्तमान समय में यह धारणा बदल गई है। पाश्चात्य परम्परा कुछ और है। वहाँ कथावस्तु के विकास में योग देने वाली प्रधान पात्रा को नायिका कहा जाता है परन्तु भारतीय परम्परा भरत मुनि और धनंजय की मान्यताओं का अनुगमन करती है। भरत के अनुसार उसे —दिव्य, नृपतिनी, कुलस्त्री और गणिका तथा धनंजय के अनुसार— स्वकीया, परकीया और सामान्या आदि माना गया है। नायिका के अनेक भेद हो सकते हैं। संस्कृत के आचार्यों के समान हिन्दी के आचार्यों ने भी नायिका के अनेक प्रकार बनाये हैं परन्तु इनमें सर्वमान्य धनंजय कृत भेद ही हैं।

नेता को विकास देने वाले अन्य पात्र होते हैं। इनमें विदूषक और खल नायक विशेष हैं। फल प्राप्ति में बाधा देने वाला या नायक के कार्यों का विरोध करने वाला प्रतिनायक होता है। अवसर पर उचित सलाह देना, अपने राजा को प्रसन्न करना और यदि नायक नायिका में मनोमलिन्य हो तो उसे दूर करने में विदूषक का विशेष महत्व है। सामान्यत: विदूषक नायक का मित्र और ब्राह्मण होता है।

नाटक की भाषा पर भी प्राचीन आचार्यों ने विचार किया है। उनकी दृष्टि में अधम नायक तथा स्त्री पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते हैं। भाषा और भावों का अटूट सम्बन्ध है। नायक और नायिका द्वारा विभिन्न भावों को व्यक्त करने के लिए नाटक में वृत्ति विधान का आयोजन है। कैशिकी, सात्वती, आरमटी और भारती आदि वृत्तियों को अवसरोचित प्रयुक्त किया जाता है। भाषा से ही सम्वादों या कथोपकथनों का रूप सँवरता है और नाटक में प्रभावशोलता आती है। इसलिए काव्य गुण युक्त सम्वादों के लिए नाटककार को सरल, सुबोध और शिष्टजन सम्मत भाषा को अपनाना चाहिए।

भारतीय नाट्यकारों की तुलना में पश्चिमी विद्वानों ने संकलन-त्रय—वस्तु, देश और काल की मर्यादा—को अनिवार्य माना है। रंगमंच पर कथावस्तु इस प्रकार प्रस्तुत की जानी चाहिए कि वस्तु, देश और काल की अन्विति में व्यवधान न हो।

३. रस—पाश्चात्य विद्वानों की तुलना में भारतीय आचार्य नाटक में 'रस' का होना अनिवार्य मानते हैं। भारतीय काव्य का लक्ष्य ही रस अर्थात् अलौकिक आनन्द है। नाटक में विरोधी रसों की प्रयुक्त वर्जित है। नाटककार का उद्देश्य सामाजिकों के हृदय में बीज रूप में स्थित रत्यादि भावों को अंकुरित करना है जिससे शृंगारादि रसों में निमग्न सामाजिक साधारणीकरण की अवस्था प्राप्त कर सकें।[1] रस की विशद व्याख्या अन्य अध्याय में की गई है।

पश्चिमी—भारतीय आचार्यों ने नाटक के मुख्य तत्व-वस्तु, नेता और रस माने हैं। पाश्चात्य आचार्यों में अरस्तू की मान्यता अत्यधिक महत्व की है। उन्होंने

१. डा० दशरथ ओझा, 'नाट्य शास्त्र' नामक निबन्ध।

(१) कथा वस्तु (२) चरित्र (३) शैली (४) विचार तथा (५) शिल्प एवं संगीत को नाटक के प्रधान तत्वों के रूप में प्रस्तुत किया है। कथावस्तु और चरित्र-चित्रण के बीच अग्रिम महत्व सम्बन्धी विवेचना यहाँ असमीचीन है। अरस्तू 'घटना-संघटन' के माध्यम से चरित्र-चित्रण की अनिवार्यता की बात कहते हैं। पाश्चात्य विद्वानों की राय में वस्तु तत्व इस प्रकार की हो कि वह संघर्ष को उत्पन्न करे। संघर्ष की अनिवार्यता कार्य व्यापार के लिए है। कार्य व्यापार की पश्चिम में पाँच स्थितियाँ मानी गई हैं। (१) आरम्भ या प्रस्तावना (Exposition) (२) कार्य विकास (Rise of action) (५) संघर्ष या चरम सीमा (Climax of Crisis) (४) निगति (५) समाप्ति (Conclusion) कथा में आरम्भ या प्रस्तावना में नाटककार उन सब सूचनाओं को देता है जिन्हें नाटक को समझाने के लिए अनिवार्य माना जाता है। इसके उपरान्त प्रारम्भिक घटना आती है, यह प्रस्तावना से भिन्न होती है। इससे कार्य विकास का श्रीगणेश होता है। कार्य विकास के उपरान्त संघर्ष की वह स्थिति आती है जिसमें विरोधी शक्तियों में परस्पर अंतिम संघर्ष होता है। संघर्ष का दूसरा नाम चरम सीमा है। चरम सीमा के उपरान्त समाप्ति की स्थिति आती है। यहाँ नाटक का परिणाम स्पष्ट हो जाता है। पश्चिमी साहित्य में शेक्सपीयर के नाटकों में इन स्थितियों के अच्छे उदाहरण मिलते हैं।

कथा योजना में इन स्थितियों के सिवा समानान्तरवाद (Parellelism) असादृश्य (Contrast) आकस्मिक विस्मय (Concealment Surprise) संकलनत्रय (Time, Space and Action काल, स्थान और कार्य की प्रभावान्विति) आदि का भी विशेष महत्व है। इनमें संकलन त्रय पर अनेक विद्वानों ने विस्तार से लिखा है। पाश्चात्य नाटक के ये तत्व भारतीय तत्वों से एक सीमा तक मेल खाते हैं। वस्तु दोनों (पूर्वी और पश्चिमी) विद्वानों ने पृथक् तत्व माना है। नेता के अन्तर्गत चरित्र, शैली और विचार का समावेश किया जा सकता है। संगीत एवं शिल्प नाटक के भारतीय तत्व 'रस' में अन्तर्भूत किये जा सकते हैं।

नाटक के प्रकार

नाटक के प्रकार विषय वस्तु के आधार पर निश्चित होते हैं। जिन नाटकों में सामाजिक जीवन की तुलना में इतिहास के पात्रों को माध्यम वनाकर किसी ऐतिहासिक चरित्र को प्रस्तुत किया जाता है वह ऐतिहासिक नाटकों की संज्ञा पाते हैं। नाटककार अनेक बार इतिहास के पात्रों घटनाओं आदि की नयी व्याख्या इन नाटकों के माध्यम से करते हैं। प्रसाद जी के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं। ऐतिहासिक नाटकों के उपरान्त सामाजिक नाटक आते हैं। इनमें राजनैतिक, समाज-सुधार, जन समस्या सम्बन्धी सभी नाटकों को लिया जाता है। सामाजिक समस्याओं को केन्द्र में रखकर पश्चिम में अनेक नाटक लिखे गये। इन्हें समस्या नाटक की संज्ञा भी दी गयी हैं जैसे इब्सन और बर्नार्डशॉ के नाटक आदि। हिन्दी में समस्या

नाटकों का श्रीगणेश पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने किया था। कतिपय नाटक इतिहास की घटनाओं को भी नाटककार ने लिया है।

गीति शैली में लिखे गए नाटकों को गीति नाट्य या काव्य नाटक कहा जाता है, करुणालय इसका सुन्दर उदाहरण है। प्रतीक पद्धति को अपनाकर लिखे जाने वाले नाटक प्रतीक नाटक और पौराणिक वृत्तों को चित्रित करने वाले नाटक पौराणिक या धार्मिक कहलाते हैं। रेडियो से प्रसारण के लिए लिखे गए नाटकों को रेडियो नाटक तथा मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर आधारित मनोवैज्ञानिक नाटक कहे जाते हैं। कतिपय नाटक ऐसे होते हैं जिनको एक समय तक अभिनीत नहीं किया जा सका इसलिए उन्हें पाठ्य नाटक कहा जाता था। आधुनिक युग की विकसित तकनीक ने सभी असम्भव को सम्भव कर दिया है अतः अब यह कहा जा सकता है कि पाठ्य नाटक भी अभिनीत हो सकते हैं। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता कि नाटकों के प्रकारों को निर्णीत करने में तीन बातों को ध्यान में रखा जाता है—(१) विषयवस्तु (२) नाट्य लेखन की शैली और (३) रंगमच। नाटक के सभी प्रकारों का आधार यही तीन बातें हैं। वर्तमान युग में नाटक में तेजी से विकास हो रहा है, नए प्रयोग हो रहे हैं पर उनके प्रकार नामकरण के आधार यही हैं। इस प्रकार नाटक आधुनिक युग में एक महत्वपूर्ण साहित्य विधा हो गया है।

उपरूपक—उपरूपक के प्रमुख भेदों में एकांकी आधुनिक युग की महत्व पूर्ण विधा है। पूर्व और पश्चिम के नाट्य साहित्य में एकांकी की निश्चित परम्पराएँ हैं। आगे संक्षेप में एकांकी के तत्व और प्रकारों की विवेचना की जा रही है।

एकांकी—हिन्दी एकांकी को पश्चिम और पूर्व दोनों परम्पराओं से कुछ न कुछ प्राप्त हुआ है। 'एकांकी' शब्द से अंग्रेजी और हिन्दी में उस नाट्य भेद का ज्ञान होता है जो एक अंक में समाप्त हो जाता है। ऐसा कलेवर की दृष्टि से ही कहा जाता है। जहाँ तक दृश्य विधान की बात है वह दो प्रकार का होता है—एक दृश्य का एकांकी और अनेक दृश्यों का एकांकी। एकांकीकार को अपना सम्पूर्ण मन्तव्य, उद्देश्य, प्रभाव और मूल समस्या को इस प्रकार गुंफित करना पड़ता है कि एकांकी में प्रभावान्विति के साथ-साथ कलात्मकता का निर्वाह भी हो। इसी कारण उसे सर्वत्र संक्षिप्त और अधिकांशतः स्पष्ट होना पड़ता है। पात्रों के चरित्रांकन से लेकर अभिनय, कथा वस्तु कथोपकथन, संकलन त्रय और रंगमंच आदि के सन्दर्भ में एकांकीकार की सतर्कता महत्वपूर्ण होती है। एकांकी जीवन के एक खण्ड या अंश को ही चित्रित करने वाला होता है। इसलिए कथावस्तु में संघर्ष और कथोपकथन को अनिवार्य माना जाता है। वस्तु संघटन में एकांकीकार नाटककार की भाँति अनेक कार्य अवस्थाओं में न जाकर 'आरम्भ' और 'प्रयत्न' तक ही समस्त कौशल दिखाता है। इसी प्रकार 'मुख' और 'प्रतिमुख', संधियाँ इसमें प्रधानता पाती है।

यद्यपि एकांकी में कार्य, स्थान और काल के संकलन का निर्वाह अनिवार्य नहीं हैं परन्तु प्रभावान्विति के निमित्त कुशल एकांकीकार इसे त्यागते नहीं हैं। सब

मिलाकर एकांकी अल्प समय में जीवन के मार्मिक प्रसंग को चित्रित करने वाला ऐसा उपरूपक भेद है जो आधुनिक युग में विशेष प्रसार पा रहा है।

एकांकी प्रकार—विषय वस्तु के आधार पर एकांकी के अनेक प्रकार माने गए हैं—जैसे आनन्द दायक घटना के निर्वाह में सुखान्त एकांकी और दुख पूर्ण अन्त के लिए दुखान्त एकांकी। विषयों के अनुसार एकांकी सामाजिक, धार्मिक, पौराणिक ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, रेडियो, मोनों, गीति, ऑपेरा, फेंटेसी, प्रहसन, प्रतीक आदि प्रकार हो सकते हैं। आधुनिक युग में रेडियो सुविधाओं को दृष्टि में रखकर रेडियो रूपक और उपरूपक की रचनायें अधिक हुई हैं। रेडियो एकांकी में रंगमंच और वेशभूषा का अभाव रहता है परन्तु इसके स्थान पर आवाज के आरोह या अवरोह से क्रोध, हास्य, स्नेह युक्त सम्वादों को प्रस्तुत किया जाता है। मुख मण्डल के हाव-भाव भी आवाज के उतार चढ़ाव में ही व्यक्त होते हैं। सबसे कम खर्चीला और सुविधाजनक होने के कारण इस एकांकी प्रकार का अधिक प्रचलन हुआ। वर्तमान काल में जगदीशचन्द्र माथुर, गिरिजाकुमार माथुर, विष्णु प्रभाकर उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि ने महत्वपूर्ण एकांकी लिखे हैं जिन्हें रेडियो पर प्रसारित किया जा चुका है।

विज्ञान की प्रगति और आधुनिक संदर्भ दोनों ने एकांकी के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है। व्यस्तता के क्षणों में जीवन के मार्मिक अंश को बिना किसी व्यवधान के प्रस्तुत करने में एकांकी—विशेषकर रेडियो-एकांकी ने अद्‌भुत सफलता पाई है।

गद्य-साहित्य

गद्य साहित्य के प्रमुख तीन भेद हैं—गद्य प्रबन्ध, मुक्त गद्य और निबन्ध। गद्य प्रबन्ध के अन्तर्गत कथा साहित्य के भेद आते हैं। आधुनिक काल में कथा को वहन करने वाली दो साहित्यिक विधाओं—उपन्यास और कहानी का प्रसार अधिक हुआ है। उपन्यास के अनेक प्रकारों के समान ही कहानी के अनेक प्रकार और रूप बदले हैं। शब्द चित्र, रिपोर्ताज, जीवनी के माध्यम से लघु और समग्र जीवन को विविध शैलियों में व्यक्त किया गया है।

मुक्तगद्य में यद्यपि कोई कथानक या विचार सूत्र नहीं होता है परन्तु सूक्ति, महावाक्य अथवा भाव गद्य के रूप में ऐसी गद्य विधा हमारे सामने आती है जो निबन्ध और कथा साहित्य से बिलकुल भिन्न है। मुक्त गद्य ऐसा रोचक स्मरणीय काव्यमयी भाषा में व्यक्त गद्य होता है जिसमें गम्भीर भावानुभूति और लेखक की तन्मयता प्रत्यक्ष होती है। रायकृष्णदास और वियोगी हरि ने ऐसे अनेक प्रयोग किए हैं।

निबन्ध वास्तव मे पाश्चात्य साहित्य की देन है परन्तु भारत में उसका विकास अपने ढंग से हुआ है। वैयक्तिक विचारो की अभिव्यक्ति के लिए निबन्ध एक उत्तम गद्य प्रकार है। विद्वानों ने निबन्ध की परिभाषा करते हुए लिखा है, "निबन्ध वह

गद्य रचना है जिसमें लेखक किसी भी विषय पर स्वच्छन्दता पूर्वक परन्तु एक विशेष सौष्ठव, संहिति, सजीवता और वैयक्तिकताके साथ अपने भावों, विचारों और अनुभवों को व्यक्त करता है।''[1] निबन्धों के अनेक प्रकार माने गए हैं—ललित, वर्णनात्मक, विचारात्मक, भावात्मक, विवरणात्मक, संस्मरणात्मक आदि। वर्तमान युग गद्य का युग माना जाता है इसलिए गद्य के प्रमुख भेदों का परिचय यहाँ आवश्यक हो जाता है। प्रमुख गद्य रूपों का परिचय और प्रकारों का विवेचन प्रस्तुत है।

उपन्यास

आधुनिक गद्य साहित्य में उपन्यास विशेष महत्त्वपूर्ण है। 'उपन्यास, शब्द का अर्थ (उप=समीप, न्याय=निकट रखी हुई वस्तु, थाती का योग) मनुष्य के जीवन की वस्तु है। दूसरे शब्दों में उपन्यास जीवन का प्रतिबिम्ब है। उपन्यास के पर्याय Novel (अँग्रेजी में) नवल कथा (गुजराती में), कादम्बरी (मराठी में) आदि हैं। उपन्यास की पश्चिमी और पूर्वी परिभाषायें बहुविध हैं।[2] कतिपय परिभाषायें प्रस्तुत की जा रही हैं :—

१. स्कॉट जेम्स ने अपनी पुस्तक 'दी मेकिंग ऑफ लिटरेचर में लिखा है,' उपन्यास एक कला है क्योंकि उससे ऐसी वस्तु का प्रदर्शन होता है जिसे कलाकार जीवन अथवा जीवन के सत्य के रूप में भी स्वीकार करता है और इसीलिए इन तत्वों को एक ग्राह्य शक्ति से समन्वित करके बाह्य रूप में संग्रथित करता है तथा इस तथ्य के लिए हमें प्रेरित करता है कि जो कुछ उसने देखा है वह हम देख सकें और उससे आनन्द प्राप्ति करें।

२. राल्फ फाक्स ने अपनी पुस्तक 'दी नाविल एण्ड दी पीपुल' में उपन्यास के वैशिष्ट्य को 'जीवन की संपूर्णता में माना है। उनके अनुसार ''उपन्यास केवल कल्पनात्मक गद्य नहीं है, वह मनुष्य के जीवन का गद्य हैं, ऐसी प्रथम कला जिसने संपूर्ण मनुष्य को लेने और उसे अभिव्यंजना देने का प्रयास किया है।''

३. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार ''उपन्यास से आजकल गद्यात्मक कृति का अर्थ लिया जाता है। पद्य बद्ध उपन्यास नहीं हुआ करते। उपन्यास के विकास से गद्य के विकास का भी सम्बन्ध है। प्रायः वही परिस्थितियाँ गद्य के विकास में सहायक हुई हैं जो उपन्यास के विकास में योग दे रही थीं। यूरोप में गद्य उपन्यासों के पूर्व कुछ प्रेमाख्यानक कविताएँ प्रचलित थी, उन्हें ही आधुनिक उपन्यास की जननी कहा जा सकता है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि उपन्यास की पृष्ठवर्ती प्रेरणा को मनुष्य की एक मौलिक प्रवृत्ति माना गया है। उपन्यास की शैली भाषा की दृष्टि से गद्य में

१. काव्यशास्त्र पृ० ७१।
२. विशेष अध्ययनार्थ देखिए—डॉ०बलभद्र तिवारी—इलाचन्द जोशी के उपेन्यास १४, १५, १६।

ही स्वीकृत है। उपन्यास जीवन का व्यापक चित्रण करता है और मनुष्य के जीवन को विश्लेषित करता हुआ उद्घाटित करता है यही कारण है कि राल्फ फॉक्स उपन्यास लेखन को एक दार्शनिक उद्योग के रूप में मानते हैं।

यद्यपि उपन्यास की उत्पत्ति पश्चिम से मानी जाती है परन्तु इसके बीज संस्कृत साहित्य में भी मिलते हैं। वेदों में शुनः शेप कथा, सरभा संवाद तथा उसके उपरान्त वृहत्कथा, पंचतंत्र, बौद्ध जातक कथाओं को भारतीय उपन्यास की पृष्ठभूमि के रूप में उसी प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता हैं जैसे कि अँग्रेजी के 'नॉविल' के तत्वों के बीज हिरोडोट्स में पाये जाते हैं। पूर्व की अपेक्षा पश्चिम में उपन्यास की परम्परा अधिक समृद्ध है अतः यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि उपन्यास का आधुनिक रूप पश्चिम की ही देन है।

उपन्यास के तत्व—पश्चिमी विद्वान हडसन ने अपनी पुस्तक एन इन्ट्रोडक्शन टूदी स्टडी ऑफ़ लिटरेचर' में उपन्यास के प्रमुख तत्व इस प्रकार गिनाये हैं। उनके अनुसार "कथानक, चरित्रचित्रण, कथोपकथन, समय और स्थान अन्विति, शैली और कथित अथवा निहित जीवन-दर्शन ही किसी उपन्यास सदृश गद्यात्मक कृति के प्रमुख अंग हैं।"[१] कुल अंगों को संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. **कथानक**— मानव जीवन में अनेक घटनायें होती रहती हैं पर कलाकार कृति योग्य घटनाओं को चुनकर विशेष योजना दृष्टि से संघटित करता है। विशृंखलता में से श्रृंखला बद्ध वस्तु की खोज करने और मानव जीवन की कहानी देने का कार्य उपन्यासकार कथावस्तु के माध्यम से करता है। कथावस्तु रोचक, प्रवाह शील एवं अकृत्रिम होनी चाहिए। आधिकारिक और प्रासंगिक अथवा मिश्रित कथाओं के माध्यम से कथावस्तु या कथानक को आगे बढ़ाया जा सकता है।

२. **चरित्र-चित्रण**—प्रेमचन्द ने उपन्यास को मानव चरित्र का प्रतिष्ठापक माना है। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि या तो उपन्यासकार अपने पात्रों के भावों, विचारों और प्रवृत्तियों का विश्लेषण करे अथवा अपने पात्रों को प्राणशक्ति से संपन्न करके जीवन की रंगस्थली में सुख, दुख से आँख मिचौनी के लिये छोड़ दे और जीवन के घात-प्रतिघात, उत्कर्ष अपकर्ष में स्वयं को अनावृत्त होने दे। दूसरे शब्दों में, कथा वस्तु का वहन करने के लिये चरित्रों की स्थिति अनिवार्य है। नायक, खलनायक, सह-नायक आदि को आवश्यकता के अनुसार प्रस्तुत किया जाता है। इसी प्रकार नारी पात्रों की भी नियोजना होती है।

३. **कथोपकथन**—कथावस्तु के स्वाभाविक विकास के लिये कथोपकथन आवश्यक हैं। कथोपकथन से पात्र के व्यक्तित्व की अभिव्यंजना होती है अतः वास्तविक जीवन की खटपटों को पात्र नाटकीय, अतिनाटकीय सामान्य, अनावश्यक और संजीदगी पूर्ण भाषा में कथोपकथनों के द्वारा व्यक्त करते हैं। लेखक भी इन कथोपकथनों के

---

१. **'इलाचन्द जोशी के उपन्यास' के आधार पर।**

माध्यम से अपने निश्चयों, सिद्धान्तों, कल्पनाओं, ज्ञान भंडार का दिग्दर्शन कराते हैं। इस प्रकार कथोपकथन अत्यंत आवश्यक हैं।

४. देश काल—कृति को अधिक सजीव, सुलक्षणमय एवं सुसंगत बनाने के लिये देश और काल का ध्यान अत्यंत आवश्यक होता है। प्रादेशिक संस्कृति, वातावरण, प्रकृति आदि से युक्त उपन्यासों में भी इसका विपुलता से प्रयोग होता है। पश्चिमी उपन्यास में इसके प्रयोग भी मिलते हैं जैसे स्कॉच उपन्यास, आयरिश उपन्यास, आदि। भारत में भी भौगोलिक वर्गीकरण की झलक बुन्देलखण्डी, आंचलिक, छत्तीसगढ़ी उपन्यासों में देखी जाती है।

५. शैली—लेखक के जीवन दर्शन की अभिव्यंजना शैली से होती है। उपन्यास की अनेक शैलियाँ सामने आई हैं। आत्मकथात्मक, नाटकीय पत्रात्मक आंचलिक, मनोवैज्ञानिक आदि। शैली कृतिकार की वह अभिव्यक्ति कला है जिससे वह अपने अभिप्रेत को प्रेषित करता है।

६. जीवन दर्शन—महान उपन्यासकार जीवन के विचारक के साथ-साथ गुत्थियों को सुलझाते हैं। जाने-अनजाने वे अपने जीवन-दर्शन को कृतियों के माध्यम से जनसमाज में पहुँचाते हैं। उपन्यास व्यापक परिप्रेक्ष्य में काव्य का अंग है और काव्य जीवन की व्याख्या करता है। इस अर्थ में उपन्यास भी जीवन की व्याख्या करता है अतः उपन्यासकार का जीवन-दर्शन कृति में अनिवार्य तत्व हो जाता है। कलाकार नीति और कला से अपने जीवन-दर्शन को पोषित करता है और सुन्दर जीवन की अभिव्यक्ति में योग देता है।

उपन्यास के प्रकार—उपन्यासों को घटना, चरित्र और शैली के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है। उद्देश्य की दृष्टि से आदर्शवादी, यथार्थवादी, प्रगतिवादी, गाँधीवादी, समाजवादी, मार्क्सवादी, मनोवैज्ञानिक तथा कथावस्तु की दृष्टि से ऐतिहासिक, काल्पनिक, सामाजिक, जासूसी, तिलस्मी, प्राकृतिक, धार्मिक, नाटकीय, आंचलिक आदि भेद उपन्यासों के किए जाते हैं। इन सबको घटनाप्रधान, चरित्र प्रधान, सामाजिक नाटकीय, ऐतिहासिक, आंचलिक, और **मनोवैज्ञानिक** उपन्यासों में निबद्ध किया जा सकता है।

घटना प्रधान उपन्यासों में विभिन्न घटनाओं के संयोजन से कथानक का विकास होता है। प्रत्येक घटना में कौतूहल और आश्चर्य का तत्व प्रधान रहता है। इसमें पाठक का आकर्षण चरित्र पर न होकर घटनाओं के प्रति रहता है। बाबू देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास इस कोटि में आते हैं।

चरित्र प्रधान उपन्यास में घटनायें गौण और चरित्र प्रधान होते हैं। समस्त **आदर्शवादी उपन्यासों** में चरित्र की प्रधानता रहती है। पात्रों की विभिन्न विशेषताओं के उद्घाटन से जाति, वर्ग आदि के चरित्र उद्घाटित होते हैं। जैनेन्द्र, चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन आदि के उपन्यास इस श्रेणी में आते हैं।

सामाजिक उपन्यासों में चरित्र, घटना आदि का केन्द्रीकरण समाज की समस्याओं पर होता है। समस्या व्यक्ति और समाज दोनों को अन्तर्भूत करने वाली होती है। समाज की कुरूपताओं को चित्रित करने वाले चरित्र और घटनायें इसमें प्रमुख हैं मनुष्यानंद और दिल्ली के दलाल को इस प्रकार की उपन्यास श्रेणी में रखा जा सकता है।

नाटकीय उपन्यासों में कथावस्तु और चरित्र दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रहता है। पात्रों की मनोवृत्ति और क्रियाशीलता ही भविष्य का कार्य कलाप निश्चित करती है। इसमें चरित्र ही घटना और घटना ही चरित्र होती है। नाटकीय उपन्यास स्थान की दृष्टि से सीमित और समय की दृष्टि से स्वतंत्र होते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों में देशकाल को विशेष महत्व होता है। ये दो प्रकार के होते हैं विशुद्ध इतिहास पर आधारित और इतिहास परक प्रेमाख्यानक उपन्यास। इनमें अतीत के निर्मल जीवन की विवृत्ति विभिन्न घटनाओं और काल्पनिक और ऐतिहासिक चरित्रों के द्वारा होती है।

आंचलिक उपन्यासों में अंचल विशेष की भाषा, रीति रिवाज, संस्कृति, जीवनशैली, प्रकृति, संगीत प्रादेशिक इतिहास आदि का चित्रण होता है। आंचलिकता प्रधान और आंचलिक उपन्यासों में अन्तर होता है। आंचलिकता प्रधान उपन्यासों में प्रेमचन्द के गोदान, रंगभूमि तथा आंचलिक उपन्यासों में रेणु के मैला आंचल और परतीपरिकथा को लिया जाता है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास[1] अत्याधुनिक युग में पश्चिम से उद्भूत हुआ है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को आधार बनाकर ये उपन्यास लिखे जाते हैं। इसके प्रमुख तत्व तो वही हैं जो सामान्य उपन्यास में होते हैं परन्तु प्रमुखता 'चेतना के प्रवाह' आन्तरिक स्वगत भाषण, पात्रों की न्यूनता, स्वच्छन्द वर्णन आदि की रहती है। हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों में जैनेन्द्र इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, भारती आदि के नाम लिये जाते हैं। वर्तमान युग में वैज्ञानिक विषयों पर लिखे जाने वाले उपन्यासों को वैज्ञानिक उपन्यास कहा जाता है। बाल साहित्य में बाल उपन्यासों का प्रचलन आधुनिक उपन्यास साहित्य में एक नया अध्याय शुरू करता है।

कहानी

उपन्यास में जीवन की समग्रता रहती है तो कहानी में उसका एक लघु अंश। नाटक और एकांकी, महाकाव्य और खण्ड काव्य जैसा सम्बन्ध हम उपन्यास और कहानी में भी स्थापित कर सकते हैं। इसमें उपन्यास के प्रायः सभी तत्व विद्यमान होते हैं। पूर्व और पश्चिम दोनों में कहानी की परिपक्व परम्परायें हैं।

कहानी के तत्वों के रूप में कथावस्तु, कथोपकथन, चरित्रचित्रण, देशकाल, घटना संगठन, शैली और उद्देश्य को माना जाता है। विषयवस्तु के आधार पर कहानी

---

१. इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास के आधार पर।

के भी अनेक भेद होते हैं। आधुनिक कहानी को छोड़कर शेष में उपन्यासों के समान ही विशेषतायें होती हैं।

आधुनिक कहानी अधिक कलात्मक होती है। उसमें वे सभी तत्व होना अनिवार्य नहीं है जिन्हें कहानी में माना जाता है। 'लघुकथा' शब्द का प्रयोग आधुनिक कहानी के लिए किया जाता है। कहानी का आधुनिक रूप गल्प के समान होता है। इसमें वर्तमान जीवन के संत्रास को मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के साथ प्रस्तुत किया जाता है। कहानी के शैली की दृष्टि से ऐतिहासिक, पत्रात्मक, नाटकीय, आत्मचरित डायरी और मिश्रित शैली वाली कहानियाँ भेद होते हैं। आधुनिक जीवन की व्यस्तता ने कहानी को अधिक महत्वपूर्ण बना दिया है। उसके विषयों में संवृद्धि हुई है। वैज्ञानिक विषयों पर भी कहानियाँ लिखी जाती हैं। कतिपय बालपत्रिकाओं के माध्यम से लोक कहानियाँ और बालोपयोगी शिक्षा देने वाली कहानियाँ भी प्रचलित हुई है।

शब्द चित्र—इसे रेखाचित्र भी कहते हैं। रेखाचित्र ही किंचित् दूसरे स्वरूप के साथ रिपोर्ताज होता है। इन दोनों रूपों में कहानी के दो तत्वों की प्रमुखता होती है—चरित्र और वर्णन। शब्द चित्र में किसी व्यक्ति की यथार्थ या वास्तविक चारित्रिक विशेषताओं के उभारने का प्रयत्न होता है। इसमें हमें आभास मिल जाता है कि शब्द चित्र हमारे अनुभव के किस व्यक्ति का है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि शब्द चित्र का आधार और प्रेरक कोई व्यक्ति होता है जिसके व्यक्तित्व और चारित्य का सूक्ष्म विश्लेषण शब्द चित्र रचयिता करता है।

रिपोर्ताज में चरित्र की अपेक्षा किसी घटना या दृश्य का अत्यन्त सूक्ष्म विवरण पूर्ण रोचक वर्णन होता है। वर्णन की वह विशेषता होती है कि वह दृश्य या घटना हमारी आँखों के समक्ष प्रत्यक्ष हो जाती है। रिपोर्ताज प्रणयनकर्त्ता ऐसे शब्दों को चुनता है कि दृश्य का यथातथ्य रूप सामने आ जाता है। ऐसा कहा जाता है कि रिपोर्ताज का श्रीगणश महायुद्ध के युद्ध वर्णनों के माध्यम से हुआ है। कुल मिलाकर रिपोर्ताज की घटनायें वास्तविक होती हैं।

जीवनी—गद्य साहित्य में विशेष महत्व रखती है। इसमें नायक या लेखक के जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं को रोचक, प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त किया जाता है। घटनाओं का सजीव वर्णन व्यक्ति की स्थिति, व्यक्तित्व, योग्यता, निपुणता और चारित्य के आधार पर होता है इसीलिये इसे जीवनी का नाम दिया जाता है।

यात्रासाहित्य—यात्रा साहित्य का गद्य साहित्य में विशेष महत्व पं० राहुल सांकृत्यायन की प्रवास घटनाओं के रोचक वर्णनों से अधिक हुआ है। कथात्मक रूप में लिखे गए यात्रा विवरण हमें उन अज्ञात स्थानों से परिचित करा देते हैं जिन्हें हम सामान्यत: नहीं देख पाते हैं। भगवत शरण उपाध्याय, अज्ञेय, प्रभाकर द्विवेदी तथा अन्य अनेक साहित्यकारों ने अपनी यात्राओं के विवरण पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित कराये हैं। इस प्रकार यात्रा साहित्य में लेखक या नायक के यात्रा अनुभव, यात्रा की कठिनाइयों लाभों, सुखों, आश्चर्यजनक घटनाओं के साथ प्रस्तुत किये जाते हैं।

गद्य साहित्य के कथात्मक प्रभेद मुख्य रूप में यही हैं। आधुनिक युग में कथा साहित्य की विविध विधायें सामने आ रही है परन्तु उनकी मानक विशेषताएँ अब भी इन्हीं उपरिलिखित विधाओं की हैं।

निबन्ध—गद्य का यह रूप पश्चिम में विकसित हुआ है और इसके सन्दर्भ में मौंटेन, बेकन, जॉनसन आदि के नाम लिए जाते हैं। निबन्ध की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—"निबन्ध वह गद्य रचना है। जिसमें लेखक किसी भी विषय पर स्वच्छन्दता पूर्वक परन्तु एक विशेष सौष्ठव, संहिति, सजीवता और वैयक्तिकता के साथ अपने भावों, विचारों और अनुभवों को व्यक्त करता है।[1] सामान्यतः निबन्धों के दो रूप मिलते हैं (१) रचनात्मक, (२) विवेचनात्मक। रचनात्मक निबन्ध के अन्तर्गत ललित निबन्ध विशेष महत्वपूर्ण हैं। विवेचनात्मक निबन्धों में साहित्यिक समस्याओं के साथ-साथ मनोविकार प्रधान संस्कृति प्रधान समस्याओं को भी लिया जाता है। इसी के अनुसार निबन्धों के अनेक भेद माने जाते हैं पर प्रमुखता—ललित, वर्णनात्मक, कथात्मक या विवरणात्मक, भावात्मक, विचारात्मक, मनोविकार प्रधान आदि को दी जाती है।

समस्त निबन्धों के लेखन में विविध शैलियों का अपनाया जाता है। ये शैलियाँ-समास, व्यास, उत्कलिका, चूर्णक तथा सरल अलंकृत शैलियाँ हैं। निबन्ध में सर्वत्र लेखक का व्यक्तित्व छाया रहता है। वैज्ञानिक युग के बढ़ते हुए तथा बदलते हुए जीवन मूल्य निबन्धों की शैलियों में भी संवर्धन कर रहे हैं। निबन्ध साहित्य का भविष्य अधिक समृद्धि पूर्ण है।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में गद्य काव्य के उन प्रभेदों की चर्चा की गई है जो पद्य से भिन्न हैं। उपरिलिखित गद्य साहित्य के भेद आज विशेष प्रचलित है। श्रव्य और दृश्य का भेद भी आज कल कम होता जा रहा है। श्रव्य दृश्य में परिवर्तित किया जाता है और दृश्य का पाठ्य विधान होता है। बदलते युग के मानदण्ड सभी प्रकार के प्रयोगों के कारण साहित्य में भी अब उतने स्थिर नहीं रह गये हैं जितने कि स्वतन्त्रता के पूर्व थे। आज काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध सभी में पर्याप्त समृद्धि के चिन्ह दिखते हैं।

———

१. काव्य-शास्त्र के आधार पर।

एकादश अध्याय | साहित्य के विविधवाद

छायावाद

छायावादी काव्य की भूमिका द्विवेदी युग में ही बन गई थी। राष्ट्रभाषा की व्यापक प्रसार के साथ-साथ मुकुटधर पाण्डेय, मैथिलीशरण गुप्त, रूप नारायण पाण्डे, श्रीधर पाठक आदि के काव्य में नूतन प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। तत्कालीन राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ भी इसमें महत्वपूर्ण योग देती हैं। द्विवेदीयुग आख्यानमूलक-प्रबन्ध काव्यों के लिए विशेष प्रसिद्ध हुआ। राम और कृष्ण जैसे अन्य चरित्रों को भी उदात्त रूप में देखा गया। अतीत के गौरवपूर्ण चित्रों पर एक नई व्याख्या के साथ प्रस्तुत किया गया। हम कह सकते हैं कि कवियों ने कलापक्ष पर विशेष ध्यान दिया और इतिवृत्तात्मक नीतिपूर्ण काव्य को प्रस्तुत किया।

छायावादी काव्य द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता और स्थूलता के विरोध में पनपा काव्य है। इस काव्यधारा का, समय १९२० से १९४० तक माना जाता है। सबसे पहले 'शारदा' नामक पत्रिका में मुकुटधर पाण्डेय ने ४ निबन्ध लिखे थे, इन्हें ही छायावाद के प्रथम प्रवर्त्तक के रूप में स्वीकार किया जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पाण्डेय दोनों को छायावाद के प्रवर्त्तक मानते हैं। शुक्ल जी ने छायावाद को दो अर्थों में ग्रहण किया है—एक रहस्यवाद के रूप में, दूसरा प्रतीकवाद के रूप में। प्रतीकवाद का अर्थ उनकी दृष्टि में चित्र भाषावाद की अभिव्यंजना प्रणाली की काव्य शैली है। छायावाद के सम्बन्ध में उनकी परिभाषा है कि उसमें प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया में अप्रस्तुत निहित होता है। इस प्रकार शुक्लजी की परिभाषा से छायावाद का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता है। छायावाद की परिभाषाएँ तीन युगों में तीन प्रकार से की गई हैं।

१. द्विवेदीयुगीन परिभाषाओं में श्रीधर पाठक, रामचन्द्र शुक्ल, मुकुटधर पाण्डेय आदि के छायावाद सम्बन्धी विचार सामने आते हैं। चूँकि ये सभी विद्वान परम्परा और आदर्श को अपना लक्ष्य मानते हैं इसलिए अंग्रेजी स्वच्छन्दतावाद की भाँति हिन्दी छायावाद को [1]समूचे रूप में ग्रहण करने में असफल रहे। अतः इनकी परिभाषाओं में छायावाद के प्रति स्पष्ट दृष्टिकोण नहीं मिलता है।

२. छायावाद की परिभाषाएँ छायावादी कवि प्रसाद, निराला, पन्त आदि कवियों के सिवा आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र

---

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य के आधार पर।

डॉ० विनयमोहन शर्मा तथा दिनकर जैसे विद्वानों ने भी की हैं। ये परिभाषाएं छायावादी काव्य के तत्वों की ओर संकेत करती हैं। उदाहरण के लिए प्रसाद द्वारा दी गई छायावाद की परिभाषा में ४ तत्वों की विवृत्ति होती है—

(१) वेदना की विवृति, (२) स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति, (३) भिन्न प्रकार के भाव, (४) नये ढंग से अभिव्यक्ति। निराला ने छायावादी काव्य में इन विशेषताओं को माना है—भाव क्षेत्र में मुक्ति की कामना, छन्द, भाषा में मुक्ति, कल्पना, क्षेत्र स्वतन्त्र निर्मितयाँ, विषय-विषयी सम्बन्ध में दार्शनिक अन्विति, राष्ट्रोत्थान संस्कृति के निमित्त भौतिक सौन्दर्य के दर्शन की, कामना, रहस्यवादी दृष्टि से व्यक्त सौन्दर्य का निरीक्षण आदि।

पन्त ने छायावादी काव्य को कवि चतुष्ट्य तक सीमित न करके उसमें माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पाण्डेय, बालकृष्ण शर्मा नवीन, सियारामशरण गुप्त, मोहनलाल महतो, उदयशंकर भट्ट, इलाचन्द्र जोशी, रामकुमार वर्मा तथा जानकी वल्लभ शास्त्री आदि को परिगणित करके व्यापक भावभूमि पर विचारते हैं। महादेवी वर्मा, डॉ० रामकुमार वर्मा की भाँति छायावाद को आत्मा और परमात्मा के मिलन की छाया बतलाती हैं। रहस्यवाद के माध्यम से छायावाद को देखने के कारण महादेवी के काव्य में सूक्ष्म सौन्दर्य बोध भावात्मक स्वरूपों की रंगीनिया तो हैं पर नव प्राणवत्तीकरण तथा शक्ति-संचार नही है।

छायावाद[1] युग के आलोचकों में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने छायावाद की निम्न विशेषताएँ बतलायी हैं—

(अ) छायावाद की विद्रोह-निष्ठवाणी आत्म-निष्ठ है।

(ब) वह राष्ट्रीय जागरण की प्रभाती की ध्वनि है।

(स) उसमें करुणामय विहाग-राग तथा आशा और उत्तरदायित्व के मनोरम स्मृति चित्र हैं।

(उ) उसमें मानव-जीवन के उदात्त पहलू हैं जो भूले हुए गौरव की पुनरावृत्ति का पथ निर्देश करते हैं, परिस्थितियों पर मानवता की विजय का संदेश देते हैं।

डॉ० हजारी प्रसाद[2] द्विवेदी ने छायावादी काव्य पर संश्लिष्ट रूप में तथा सांस्कृतिक भूमिका पर देखने का प्रयत्न किया है। द्विवेदी जी छायावादी युग को भारतीय संस्कृति के उन्मेष का युग मानते हैं। इसी प्रकार डॉ० नगेन्द्र ने अवचेतन मन के सहारे इस काव्य को एक विद्रोह सिद्ध किया परन्तु इलाचन्द्र जोशी ने काम वासना की अतृप्त मनोवृत्तियों को लाकर इसे स्त्रैण घोषित किया।

३. छायावादोत्तर काल में डॉ० रामविलास शर्मा, अज्ञेय, डॉ० नामवर सिंह, डॉ० देवराज ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने विभिन्न दृष्टि कोणों से छायावाद की व्याख्या की है। डॉ० रामविलास शर्मा उसे स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह न मानकर

---

१. डॉ० भागीरथ मिश्र एवं डॉ० बलभद्र तिवारी—आधुनिक हिन्दी काव्य के आधार पर।

२. वही

थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामन्ती साम्राज्यवादी बन्धनों के प्रति मध्य वर्ग के तत्वावधान में हुआ विद्रोह मानते हैं। अज्ञेय छायावाद को पश्चिम से प्रभावित नयी व्यक्ति परक दृष्टि का परिणाम कहते है जिसने भाव, भाषा, छन्द और शिल्प सभी को नया संस्कार दिया। डॉ० देवराज ने इसे मनोवैज्ञानिक भूमिका पर परखने की चेष्टा की है।

इस प्रकार विभिन्न विचारणाओं के माध्यम से छायावाद की अनेक विध व्याख्या सामने आती है। वास्तव में छायावाद और स्वच्छन्दतावाद दो अलग धाराएँ है जो भिन्न संस्कृतियों और समयों को प्रस्तुत करती हैं, इसलिए इनमें भ्रम नहीं करना चाहिए। छायावादी काव्य पर वैदिक दर्शन, अद्वैत दर्शन, वैष्णव वेदान्त वाद, स्वामी विवेकानन्द का व्यावहारिक वेदान्त, अरविन्द दर्शन, शैव दर्शन, बौद्ध दर्शन का तो प्रभाव पड़ा ही है, साथ ही वह रवीन्द्रनाथ टैगोर और अभिव्यंजनावाद से भी प्रभावित है।

छायावादी काव्य की निम्नलिखित विशेषताएँ मानी जा सकती हैं—

सबसे पहली विशेषता छायावादी काव्य की है 'वैयक्तिकता' यह वैयक्तिकता दो रूपों में देखी जा सकती है एक तो कल्पना और अनुभूति पर पड़े व्यक्तिगत प्रभावों का विश्लेषण इस काव्य में है। कवि अपने अहं के प्रति अत्यन्त जागरूक है। उसकी चेतना किसी वस्तु को अपने रूप में व्यक्त करने का आग्रह करती है।" निराला जी ने जिसे "मैं शैली" कहा है। यह युग की बढ़ती हुई प्रगीतात्मकता के कारण है जिसमें भावों को ज्यों का त्यों अपने रूप में व्यक्त कर देने की विशेषता है, किसी प्रवन्ध का ताना-बाना बुनने की आवश्यकता नहीं। किसी प्रकार का नाटक रचने की आवश्यकता नहीं। वैयक्तिकता का दूसरा रूप हैं 'साधारण' के स्थान पर 'विशिष्ट' का स्पष्टीकरण, जो सामान्य अनुभूति का विषय है उसे उस रूप में चित्रित न करके अपने कल्पनागृहीत विशिष्ट रूप में चित्रित करना। छायावाद की इस प्रवृत्ति ने अतिशय आलंकारिकता को जन्म दिया और कविता सर्वसाधारण की वस्तु न रह गयी। वह विशिष्ट संस्कार वाले जनों का ही रंजन करने लगी।

वैयक्तिक दृष्टिकोण ने ही जिस दूसरी प्रवृत्ति को जन्म दिया, वह है 'स्वच्छन्दतावाद'। लोक हृदय की चिन्ता किए बिना ही भावों का स्वच्छन्द प्रकाशन व्यक्तिगत प्रेमभावना का खुलकर चित्रण तथा भाषा और शब्दावली का स्वच्छन्द प्रयोग इसके अन्तर्गत हैं। भावों के स्वच्छन्दतावाद के कारण औचित्य का ध्यान भी कहीं-कहीं नहीं रह जाता, जिससे रस के स्थान पर रसाभास अधिक मिलता है। इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप अलंकार, छन्द और भाषा के क्षेत्र में इस धारा के कवियों ने नवीन प्रयोग किए हैं।

छायावाद की तीसरी विशेषता है 'भावुकता'। छायावादी कवि वास्तव में भावुक का पर्याय बन गया। भावुकता वस्तु व्यक्ति को एक उदात्त गौरव प्रदान करती है। इसके कारण भाव या चरित्र को न तो यथार्थ पृष्ठभूमि ही मिल पाती

है और न वह लोकानुभूति में उत्तर ही पाता है। भावुकता विभाव पक्ष की नितांत उपेक्षा करती है जिससे साधारणीकरण नहीं हो पाता और सबको तन्मय कर देने वाली काव्य-रचना नहीं हो पाती। इस भावानुभूति के लिए केवल वही व्यक्ति उपयुक्त हैं जो विभाव पक्ष को कल्पना में ला सकें, या जिनके उसी प्रकार के विशिष्ट अनुभव हैं। इस प्रकार यह भावुकता अयथार्थ और हवाई ही हैं।

छायावाद की चौथी विशेषता है "काल्पनिकता"। क्यों कि वस्तुओं के यथार्थ वर्णन के विद्रोह में यह प्रवृत्ति जाग्रत हुई अत: वर्णन में काल्पनिकता इसका प्रमुख गुण है। कल्पना इस काव्य का प्रधान तत्व है। कल्पनागत वस्तु या व्यक्ति की विशेषता, गुण या छाया का उद्घाटन छायावाद में हुआ। यह कल्पना सर्वत्र यथार्थ का आधार ग्रहण कर नहीं चलती, वरन् अधिकांश विश्रृंखल है। काल्पनिक विशेषता के कारण छायावादी काव्य में चित्रात्मकता का गुण प्रचुरता से देखने को मिलता है। कवि जैसे चित्रकार की भाँति संकेत चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा हो, ऐसा जान पड़ता है। साथ ही एक चित्रावली धीरे-धीरे हमारे सामने उद्घाटित होती है। परन्तु चित्रों की यह झाँकी तारतम्यहीन रूप में ही आती है। कभी-कभी इसमें भी तारतम्यहीनता और संयतहीनता मिलती है। जिससे हमारी चित्तवृत्ति काव्य में रसानुभूति जैसी तन्मयता नहीं प्राप्त कर पाती। फिर भी कल्पना की विशेषता काव्य को विशिष्ट आभा, चमत्कार और रंगीनी प्रदान कर देती है, इसमें सन्देह नहीं। छायावादी काव्य में विविध वर्णों (रंगों) के सूक्ष्म संकेत, गति और चेष्टा का चित्रण, आन्तरिक भावों और स्पन्दनों का साक्षात्कार होता है। पंत की कविता से एक उद्धरण प्रस्तुत है :—

रुपहले सुनहले आम्र बौर नीले पीले ताम्र भौर।
गहरे धुँधले धुले साँवले। मेघों से मेरे भरे नयन॥—पंत

छायावाद का कवि वास्तव में संयम विवरण के पीछे नहीं पड़ता, वरन् वह सूक्ष्म से सूक्ष्म सौन्दर्य रेखाओं को स्पष्ट करने तथा बारीक भाव—भंगिमा को चित्रित करने में प्रयत्नशील रहता है। इस दृष्टि से उसकी भ्रमर वृत्ति है जिसकी कल्पना इधर से उधर उड़ी फिरती है परन्तु कहीं रम नहीं पाती। जब कवि दर्शन के धरातल पर पहुँच जाता है यही प्रवृत्ति रहस्यात्मकता और दुरूहता का सन्निवेश करती है।

छायावाद स्थूल रूप रेखाओं के स्थान पर सूक्ष्म छायात्मक चित्रण में प्रवृत्त रहता है। वह आन्तरिक प्रभाव का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। स्थूल या बाह्य जगत् का मन और कल्पना पर पड़े प्रभाव का सूक्ष्म, अनुभूतियों को रूप रंग देकर साकार करना उसका ध्येय है। छायावाद का कवि बाह्य अंगों में बिम्बित और तरंगायित सुषमा और सौन्दर्य की आभा को ग्रहण करना चाहता है। अपने इस कार्य के लिए उसने लयात्मक सूक्ष्म चेतना का विकास किया है। भाव के अनुकूल लय और छन्दोविधान करना, भाव के मोड़ पर उतार-चढ़ाव पर लय में परिवर्तन

उपस्थित करना, रूप की सुषमा और भाव की प्रकृति (कोमलता और कठोरता) के अनुसार शब्द चयन और वर्ण संगठन, आवश्यकतानुसार शब्द एवं वर्ण की पुनरावृत्ति करना, प्रकृत ध्वनियों एवं झंकृतियों का द्योतक वर्ण विधान रचना-छायावादी काव्य कला की सूक्ष्म बारीकी है। यह कला कभी-कभी कुछ ऐसा अविश्लेष्य प्रभाव डालती है कि पाठक या श्रोता भाव की संगति एवं चित्रों के तारतम्य पर ध्यान न देकर लयात्मक झंकृति का ही आनन्द लेता हुआ बढ़ जाता है। छायावादी काव्य की यह विशेषता, पाठक को ही नहीं, कवि को प्रवंचित करती है। प्रायः वह शब्द पर मुग्ध होकर लय सृष्टि करता चला जाता है। अर्थ की अभिव्यक्ति, भाव की संगति और औचित्य के प्रति वह जागरूक नहीं रह पाता। इसी के कुछ आलोचकों ने छायावादी काव्य में विचारगत एवं रागात्मक सामंजस्स का दोष स्पष्ट किया है। परन्तु शब्दों और वर्णों के प्रयोग एवं ध्वनि संयोजन ने छायावादी काव्य में छन्दसिक एवं आलंकारिक प्रयोगों का एक प्रशस्त क्षेत्र खोल दिया है। कुछ शब्दों को योजनाएँ निम्नांकित पंक्तियों में देखी जा सकती हैं :—

चमक झमक मय मंत्र वशीकर
छहर छहर मय विष सीकर।
स्वर्ग सेतु से इन्द्र धनुष धर,
काम रूप घनश्याम अमर
सरल चटुल विमल विवुल हिम शिशु हुलसाये।
कुन्द धवल, तुहिन, तरल, तारादल ये ॥
बाँसों का झुरमुट, सन्ध्या का झुटपुट
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ, टी वी टी टुट् टुट् टुट्। (सुमित्रानन्दन पंत)
कंकण कणित रणित नूपुर थे, हिलते थे छाती पर हार।
मुखरित था कलरव गीतों में, स्वर लय का होता अभिसार ॥ (प्रसाद)
गरज गरज घन गरज गरज घन घोर
राग अमर अम्बर में भर निज रोर। (निराला)

छायावादी काव्य विशेषण—प्रधान काव्य है। इस काव्य में क्रिया-पदों का प्रयोग बहुत कम और विशेषण पदों का अति बहुल है। कभी-कभी छायावाद को शब्द-बहुल काव्य की संज्ञा दी जाती है। वास्तव में, इस प्रवृत्ति के कवियों ने अपनी सूक्ष्म अनुभूतियों के लिए उपयुक्त शब्द-शोधन में प्रचुर प्रयोग किए हैं जिसके परिणामस्वरूप हम अनेक नवीन उपमानों एवं प्रतीकों का प्रयोग इसके भीतर देखते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन प्रयोगों की प्रेरणा का श्रेय तत्कालीन बंगला, अंग्रेजी के रोमांटिक काव्य को है फिर भी इस दिशा में छायावाद ने नवीन प्रयोगों की सुन्दर परम्परा डाली। हम यहाँ कह सकते हैं कि प्रयोगवादी-काव्य छायावादी प्रयोग परम्परा की विकासात्मक स्थिति का काव्य है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि छायावाद में शैली की दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ और खड़ी बोली

हिन्दी काव्य को सुष्ठु अभिव्यंजना का अतीव मधुर एवं प्राँजल रूप इसके अन्तर्गत प्राप्त हुआ। परन्तु दृष्टिकोण के अतिशय वैयक्तिक होने के कारण इस काव्य में यथार्थ जीवन का स्पन्दन एवं वास्तविकता की अनुभूति की तन्मयता न आ सकी। यह काव्य कुछ अत्यधिक ऐकांतिक एवं एकांगी और आध्यात्मिकतापूर्ण हो गया। कलात्मक उत्कर्ष को अपनाते हुए भी यह असामाजिक-सा है। समस्त समाज के जीवनगति अनुभवों या भावों के स्पन्दन की सप्राणता एवं सजीवना का अभाव हमें खटकता है। व्यक्तिगत निराशा एवं वैयक्तिक, सूक्ष्म बारीक सौन्दर्य की छाया ने काव्य को अतिवादी रूप में अकेले पढ़ने वाली वस्तु के रूप में सीमित कर दिया।

छायावादी निराशा में समाज के भीतर के संघर्ष एवं विषाद का हाहाकार ध्वनित न हो सका। प्रेम और सौन्दर्य की मिठास एक रुचि विशिष्ट होकर रह गयी। आनन्दमय व्यापक सौन्दर्यानुभूति की धारा में लोगों को मग्न करने की क्षमता उसमें न आ पायी।

छायावाद की कलात्मक उपलब्धियाँ उत्कृष्ट होते हुए भी उसमें जीवन से पलायन का स्वर काफी प्रखर था जो जीवन का डटकर उपभोग करने का पौरुष उसमें व्यक्त हो सका और न संघर्ष का सामना करने का साहस ही। संघर्ष के क्षणों में यह पलायनवाद का स्वर बेसुरा जान पड़ा और लोगों को ऐसा लगा कि छायावादी कवि सामाजिकता के स्थान पर एकान्तप्रियता का रोग पैदा कर रहे हैं अतः १९३८ के बाद इसके विपरीत प्रगतिवाद के लक्षण प्रकट होने लगे।

देश को स्वतन्त्र करने का जब आन्दोलन चल रहा था, तब छायावादी काव्य की कलात्मक उपलब्धियों को संकलित करने का धैर्य हमारे भीतर न था। हम तो कुछ जोशीला, जुझाऊ और यथार्थ जीवन की झलक से पूर्ण काव्य चाहते थे और इसी इच्छा के परिणामस्वरूप आगे प्रगतिवाद का जन्म विकास हुआ। परन्तु अब हमें लगता है कि छायावाद ने आधुनिक युग को हिन्दी का उत्कृष्ट काव्य प्रदान किया। छायावाद ने हमारी सौन्दर्य भावना को विकसित, परिष्कृत और उदात्त बनाया। उसने हमारी काव्यात्मक अभिव्यक्ति में नवीन प्रयोग का द्वार खोला। इस काव्य ने नारी के गौरव की प्रतिष्ठा की, क्योंकि नारी कोमल और सुकुमार गुणों की प्रतीक और सौन्दर्य का आश्रय है। इस प्रवृत्ति ने जड़ता और चेतना का सामंजस्य किया। प्रकृति का मानवीकरण, उसमें चेतन एवं मानव भावना का आरोप इस युग में अपने ढंग से हुआ। प्रकृति केवल मानव भावनाओं का उद्दीपन मात्र नहीं, वरन् आलम्बन बन गयी। वह सखी, प्रेरक, सन्देश वाहिका के रूप में प्रकट हुई। वह रहस्य के भण्डार के रूप में व्यक्त हुई, वह जीवन के हाहाकार के बीच शान्ति की गोद बन गई। इस प्रकार जीवन और जगत् दोनों के आकर्षक तत्वों के प्रति कवियों में एक रोमान्टिक, एक भावुक दृष्टिकोण की प्रवृत्ति छायावादी काव्य में पायी गयी। कवियों में लोक-काव्य शैली को अपनाकर अपने भाव व्यक्त करने की प्रवृत्ति जाग्रत हुई, फलतः प्रकारान्तर से लोक-जीवन,

लोक-काव्य, लोक संस्कृति की ओर कवियों की दृष्टि गई और इस प्रकार छायावादी काव्य के उपरान्त जिस काव्य की सर्जना हुई वह लोक तत्व से समन्वित अधिक है। जीवन के साथ काव्य उत्तरोत्तर संपृक्त होता गया। इसका श्रेय छायावादी काव्य की उस सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना को है जिसमें वह मानवतावादी पक्ष का पोषक सिद्ध होता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में यह काव्य एक उत्कृट कलात्मक निधि के रूप में मान्य है। प्रगीत सृष्टि इसकी महत्वपूर्ण उपलब्धि है। कुल मिलाकर, छायावाद युग हिन्दी के काव्यगत और भाषागत उत्कर्ष में महत्वपूर्ण योग देने वाला सिद्ध होता है।

प्रगतिवाद[1]

भारतीय साहित्य और संस्कृति के मूल में बहुजन-हिताय, बहुजन सुखाय की भावना सदैव विद्यमान रही है। रामायण से लेकर उपनिषदों, पुराणों तथा संस्कृत के महान् ग्रन्थों में इस लोक कल्याण के आदर्श को शीर्ष प्राथमिकता दी गई है। साहित्य के इतिहास से भी स्पष्ट है कि जब कभी इस लोक कल्याण की भावना को दवाने या ध्वस्त करने की चेष्टाएँ हुई, एक प्रवल समन्वयकर्त्ता ने आकर नये-नये मूल्यों के साथ सामाजिक उत्तरदायित्व और कल्याण को प्रतिष्ठित किया है। तुलसी, कवीर कवि होने के साथ-साथ प्रवल समाज-सुधारक भी माने जाते हैं। हिन्दी का आधुनिक काल यथार्थ के प्रति अत्यधिक आग्रह-कारी सिद्ध हुआ। भारतेन्दु युग के सभी साहित्यकारों ने तत्कालीन समाज, राज्य के प्रति यथार्थ बोध ही व्यक्त किया है। द्विवेदी युग में राष्ट्रीयता का स्वर सामाजिक जागरुकता का चित्र देने वाला है। छायावाद युग तक आते-आते विज्ञान के आविष्कारों के कारण समस्त विश्व एक इकाई वन जाता है और विश्व के अन्य देशों के दर्शनों, आन्दोलनों से भारतीय समाज भी प्रेरणा लेता है। यहाँ की परिस्थितियों में जो कुछ पनप रहा था। वह तीव्रता के साथ स्वरूप धारण करता है। सन् १९४० तक विविध काव्य आन्दोलन अपनी दार्शनिक मान्यताओं के साथ हमारे सामने आते हैं। प्रगतिवादी काव्यधारा को निश्चित रूपरेखा देने में प्रगतिशील संघ और देश की आर्थिक सामाजिक परिस्थितियों के सिवा मार्क्सवाद का विशेष हाथ है।

छायावादी काव्य में एक ओर वैयक्तिक और अन्तर्मुखी प्रवृत्तियाँ पलायन, निराशा, पराजय आदि भावनाओं को जन्म दे रही थी और दूसरी ओर सामाजिक विषमता, जीवन मूल्यों की ह्रासोन्मुखता पराकाष्ठा पर पहुँच रही थी। स्थिति के अनुसार नवीन वैचारिक क्रान्ति का होना समाज, संस्कृति दोनों के लिए अपेक्षित था, अतः युग की आवश्यकताओं के अनुरूप एक नवीन समुदाय नई विचारधारा का जन्म हुआ। जिसका दर्शन सन् १९३६ के प्रारम्भ में ही होता है। इसके पूर्व लन्दन में मार्क्सवाद के प्रभाव में और युगीन आवश्यकता के कारण सन् १९३५ में प्रगतिशील

---

१. 'आधुनिक हिन्दी काव्य' के आधार पर

लेखकसंघ की स्थापना हुई थी। भारत में इसका प्रथम अधिवेशन सन् १९३६ में प्रेमचन्द्र की अध्यक्षता में हुआ था। प्रेमचन्द का अध्यक्षीय भाषण प्रगति के पक्ष पर था। यूरोप के प्रगतिशील साहित्यकार संघ का प्रथम अधिवेशन ई० एम० फास्टर की अध्यक्षता में हुआ था। उसके प्रेरणा पाकर भारतीय लेखक डॉ० मुल्कराज आनन्द, डॉ० के एस० भट, डॉ० जे० सी० घोष, डॉ० एस० एस० जहीर, डॉ० एस सिनहा ने जो घोषणा-पत्र भारत भेजा था; वह भारत के सांस्कृतिक अवसाद को दूर करने की प्रेरणा देने वाला था। हिन्दी प्रदेश के लेखकों में पन्त, यशपाल, रशीद जहाँ, फैज अहमद फैज; सज्जाद जहीर तथा दक्षिण के रामकृष्ण राव, बंगाल के सुरेश चन्द्र गोस्वामी आदि ने सम्मेलन में भाग लिया। हंस के सम्पादकीय में इसका विस्तार से विवेचन किया गया है कि प्रगतिशील संघ के उत्तरदायित्व और कार्यक्रम क्या होंगे ? उन सबका मानव समाज के कल्याण और साहित्य के उपयोगितावादी होने पर विशेष बल था।

प्रगतिशील-लेखक-संघ का द्वितीय अधिवेशन कलकत्ता के आशुतोष मेमोरियल हाल में हुआ। इस अधिवेशन में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर अध्यक्षता करने वाले थे; परन्तु किसी कारवश वे उपस्थित न हो सके। उनका सन्देश पढ़कर सुनाया गया। इस अधिवेशन की देन यह थी कि साहित्य तथा जनता के बीच निकटतम सम्बन्ध स्थापित करने का आग्रह प्रबल था। इसमें नये विश्व के निर्माण पर बल था। वैज्ञानिक बुद्धिवाद तथा सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकताओं का प्रतिपादन इस ढंग से किया गया कि वे सभी प्रवृत्तियाँ प्रतिबाधित की जाएँ जिनसे मनुष्य और मानवता का शोषण होता है। (शिवदानसिंह चौहान-प्रगतिवाद पृष्ठ ३३७.) इसी अधिवेशन में साहित्य और कलाओं को रूढ़िवादिता से मुक्त करने का आग्रह था।

तृतीय अधिवेशन दिल्ली में मई १९४२ में सम्पन्न हुआ। फासीवादी विचार-धारा के विरोध में लेखकों ने एक मत से प्रस्ताव पास किया जिसमें अपने कर्त्तव्य और अधिकारों के प्रति जागरूकता दिखाई गई थी, आज हमारा कर्त्तव्य है कि हम देश में एकता पैदा करें और जातियों के बीच की खाई को पूरें जिससे तत्कालीन राष्ट्रीय सरकार और हमारे देश के सौ फीसदी बचाव का रास्ता साफ होगा। हम हिन्दुस्तान के महान और बहुमूल्य और सांस्कृतिक उत्तराधिकार के प्रहरी है। फॉसिस्ट लुटेरों से उसकी रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य है। अपनी रचनाओं के द्वारा हमें फैशीज्म के खिलाफ अपने को दिमागी तौर पर मजबूत बनाने में जनता की मदद करनी चाहिए। (शिवदान सिंह चौहान—प्रगतिवाद : फैसीस्ट आक्रमण के खिलाफ भारतीय लेखकों का घोषणा पत्र पृष्ठ ३४०)। चतुर्थ अधिवेशन सन् १९४३ में बम्बई में हुआ। इसकी अध्यक्षता डाँगे कर रहे थे। बम्बई में रचनात्मक कार्यों के प्रति अधिक सक्रियता बरतने का सुझाव दिया गया। इसके बाद प्रगतिशील लेखक संघ को बम्बई में अधिवेशन मनाने पर रोक लगा दी गयी फिर भी पंचम अधिवेशन के पास हीं हुआ; जिसमें डॉ० रामविलास शर्मा की अध्यक्षता में महत्वपूर्ण कदम सुझाये गये।

सन् १९५३ में छठा अधिवेशन दिल्ली में हुआ और श्री कृष्ण चन्दर इसके नये मन्त्री निर्वाचित किये गये। इस प्रकार प्रगतिशील लेखकों का संघ अपने लक्ष्य में आगे बढ़ता गया। अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलन प्रान्तीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलन भी हुए। इसमें काशी प्रगतिशील लेखक सम्मेलन में स्वतन्त्र भारत, जातीय संकीर्णता और साम्प्रदायिकता के विरुद्ध प्रयत्न विशेष थे। चूँकि मार्क्सवादी विचार-धारा के प्रभाव में यह संघ प्रगति के सम्बन्ध में अपना वक्तव्य दे रहा था और कार्यक्रमों की योजना बना रहा था अतः लोगों को भ्रम हुआ कि ये राजनीतिक संस्था न बन जाय इसलिए उन्होंने इसके पूर्ण साहित्यिक होने का दावा किया।

प्रगतिशील कवियों के द्वारा प्रगतिवाद की अभिव्यक्ति छायावादी काल से प्रारम्भ हुई। निराला और पंत जैसे कवियों ने अपनी रचनाओं में इस विचारधारा को सर्वप्रथम स्थान दिया। प्रकृति सौन्दर्य में लीन कवि युग की माँग पर 'युगान्त' द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र, गा कोकिल बरसा पाठक कण, गर्जन कर मानव, केशरि, बाँसों का झुरमुट, ताज, मानव जैसी कविताएँ प्रस्तुत करता है जो उसकी छायावादी कविताओं से नितान्त भिन्न हैं। निराला के प्रखर और निर्भय सामाजिक व्यक्तित्व की छाप भी उनके काव्य और साहित्य में मिलती है। गद्य में 'देवी', 'चतुरी-चमार,' 'बिल्लेसुर बकरिहा' चोटी पकड़' कुल्लीभाट और पद्य में 'वेला' ये पत्ते, 'अणिमा' कुकुरमुत्ता' प्रमुख कृतियाँ हैं जो इस आन्दोलन के समय लिखी गयी हैं। 'जागरण' और हंस पत्रों का प्रकाशन इसी विचारधारा के सन्दर्भ में हुआ था। प्रमुख विचारकों में प्रेमचन्द, आचार्य नरेन्द्र देव, सम्पूर्णानन्द तथा कवियों और लेखकों में नरेन्द्र शर्मा, रांगेय-राघव, नागार्जुन, केदार, अमृतराय, शिवदानसिंह चौहान, डॉ० रामविलास शर्मा और प्रकाशचन्द गुप्त, डॉ० नामवर सिंह प्रकाश में आए। इसे हम प्रगतिवादी आन्दोलन का शीर्ष काल कह सकते हैं। सन् १९४७ के बाद इस आन्दोलन में वह तेजस्विता न रह गयी, अनेक संकीर्ण प्रवृत्तियों का जन्म हुआ। 'हंस' का प्रकाशन बन्द हुआ। इस विचारशील पत्र के बन्द होने के कारण समस्त आन्दोलन ने कर्त्तृत्व पर पानी फिर गया। एक बार पुनः प्रयास किया गया कि प्रगतिशील लेखक एक संयुक्त मोर्चे को बनायें परन्तु दिल्ली अधिवेशन के उपरान्त इस संघ की किसी सक्रियता की सूचना न मिली। इस प्रकार प्रगतिवादी आन्दोलन धीमे-धीमे शिथिल पड़ गया। प्रगतिवादी विचारधारा का अपना महत्व और उपलब्धियाँ हैं। भारत में हुए आन्दोलन से इनका लेखा-जोखा नीचे रूप में किया जा सकता है :

(१) साहित्य में 'कला के लिए कला' का सिद्धान्त न मानकर उसे जन साधारण से संबद्ध किया गया।

(२) प्रगतिवादी साहित्य में निराशा, अनास्था, पराजय, क्षय आदि स्वच्छ-न्दतावादी काव्य की ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों को कोई स्थान नहीं; वह सम्प्राणता, आशा और आस्था का संदेश देता है।

(३) अतिशय कल्पनाशीलता के स्थान पर वह यथार्थ पर केन्द्रित है।

(४) साहित्य का बौद्धिक आधार है।

(५) समाज और सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में ही कला, साहित्य का मूल्यांकन किया जाय।

(६) प्रगतिशीलता को साहित्य के विकास में प्रमुख तत्त्व माना गया है।

(७) सामाजिक, आर्थिक ढाँचा साहित्य के निर्माण में सहायक होता है।

(८) परम्परा के सुन्दर और महान तत्वों का विकास सृजनात्मक प्रयासों से किए जाने पर साहित्य परम्परा में नित नवीन तत्वों का समावेश करता है और अवरोध के कारणों को नष्ट करता है।

(९) शाश्वत और सामाजिक सत्य की परिणति एक ही है।

(१०) वस्तु और शिल्प का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

इन उपलब्धियों के आधार पर प्रगतिवादी काव्य की उन मूल-प्रवृत्तियों का मूल्यांकन किया जा सकता है; जिन्हें हम विभिन्न प्रगतिवादी कवियों में देखते हैं। प्रकारान्तर से इन्हीं काव्य-प्रवृत्तियों को प्रगतिवादी काव्य की विशेषतायें भी कहा जा सकता है। ये प्रवृत्तियाँ प्रगतिशील काव्य और प्रगतिवादी काव्य दोनों में किंचित् अन्तर के साथ पाई जाती हैं। इन दोनों संज्ञाओं को लेकर अनेक भ्रांतियाँ खड़ी की जाती हैं पर यथार्थ में युग के संदर्भ में दोनों का लक्ष्य जन-साधारण ही है। दोनों खेमों के विचारक सार्वजनीन जीवन की अभिव्यक्ति ही साहित्य का लक्ष्य मानते हैं इसलिए प्रगतिशील और प्रगतिवाद शब्दों में विशेष अन्तर नहीं है सारतः हम इसे एक ऐसा आन्दोलन या काव्य धारा मान सकते हैं; जो अपने केन्द्र में सार्वजनिक जीवन को रखती है और उसके विकास में आने वाली आस्थाओं और परम्पराओं को त्यागकर प्रगतिशीलता की समर्थक राहों, विश्वासों को मानना उपयुक्त समझती है। सही अर्थों में समान मानव को प्रतिष्ठित करने और समाज में आदर्श व्यवस्था को कायम करने का लक्ष्य प्रगतिवाद का है। प्रगतिवादी काव्य-धारा उसी का व्यक्त रूप है। उसकी मूल-प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं :—[1]

(१) सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति, (२) युगीन चेतना, (३) राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय भाव-धारा, (४) मानवतावादी दृष्टि, (५) वर्ग चेतना (५) क्रान्ति तथा विद्रोह (७) ईश्वर धर्म, परम्परा के प्रति आक्रोश एवं उनके प्रति नवीन दृष्टि से विचार (८) आस्था और आशा का स्वर (९) नारी, प्रेम, और प्रकृति के सम्बन्ध में नवीन दृष्टिकोण।

१. छायावादी कवियों में पंत और निराला ने प्रगतिशील शक्तियों के विकास में आस्था रखी और प्राचीन जर्जर व्यवस्था के विरुद्ध क्रान्ति की वाणी का उद्घोष किया। नरेन्द्र शर्मा, डॉ० सुमन आदि ने अपनी कविताओं में सार्वजनीन जीवन की

---

१. विशेष अध्ययन के लिये देखिए डॉ० शिवकुमार मिश्र-नया हिन्दी काव्य।

प्राप्ति और अभिव्यक्ति में सामाजिक यथार्थ के प्रति जागरूकता का परिचय दिया है। सुमन जी की 'विश्वास बढ़ता ही गया' कविता इसका उत्तम उदाहरण है। इनके सिवा त्रिलोचन,'रामविलास शर्मा के काव्य में शोषक वर्ग की क्रूर, अमानवीय, विलासी और कृत्रिम प्रवृत्तियों का तथा शोषित वर्ग की दयनीय, प्रताड़ित और विकृतिपूर्ण जीवन की झाँकी एक साथ मिलती है। मुक्तिबोध की यह कविता एक उत्तम उदाहरण है—

रक्षित है लाज लगोटी पर है कंठ बोलते धरर धरर
आ रही असह दुर्गन्ध पसीने और चीथड़ों से झर-झर
कुछ दमा तपेदिक से बेदम, कुछ खाँस रहे हैं पड़े-पड़े
सम्पत्ति फटी मिरजई और अधजली बीड़ियों के टुकड़े

२. प्रगतिवादी कवियों ने बंगाल का अकाल. द्वितीय महायुद्ध, नौसैनिक विद्रोह, आजाद हिन्द फौज, स्वाधीनता संग्राम, भारत विभाजन, गाँधीजी की बर्बर हत्या, काश्मीर समस्या जैसे युगीन चेतना से समन्वित प्रश्नों को उठाया और उनसे उत्पन्न होने वाली दशाओं का सजीव चित्रण किया। महेन्द्र भटनागर, डॉ० शिव मंगल सिंह सुमन, गिरिजाकुमार माथुर आदि की कविताओं में यह द्रष्टव्य है। सुमनजी द्वारा 'कलकत्ते का अकाल' नामक कविता से कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

निपट दुधमुंहे बच्चे सूखी छाती से असक्त
चूस रहे माँ के जीवन का बचा बचाया रक्त
जिस गोदी में जीवन पाया-पाया लाड़-दुलार
आज उसी में बिना कफन के सोये शिशु सुकुमार।

प्रलय सृजन : पृष्ठ ७६.७७)

३. प्रगतिवादी कवियों ने राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय भावधारा की कवितायें लिखी हैं। इनमें पराधीनता के विरुद्ध भारतीय जनता के आक्रोश पूर्ण रांगेय-राघव, निराला जी, सुमन जी आदि ने अपनी कविताओं में अभिव्यक्त किया हैं। स्वाधीनता के बाद का चित्र परवर्ती प्रगतिवादियों में मिलता है। कवियों ने अन्तर्राष्ट्रीयता का भाव भी अपनी कविताओं में प्रस्तुत किया है। इस सन्दर्भ में डॉ० सुमन की सोवियत रूस के प्रति, मास्को अब भी दूर है, डॉ० रामविलास शर्मा की जल्लाद की मौत, प्रभाकर माचवे की सोवियत सैनिकों का यशोगान, नरेन्द्र शर्मा की रूस के मैदान आदि कविताओं का विशेष महत्व है। राष्ट्रीय चेतना से समन्वित 'शील' की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य है—

आज देश में नयी भोर है,
नयी भोर का समारोह
आज सिंधु गर्वित प्राणों में
उमड़ रहा उत्साह। (हंस : सितम्बर १९४७ पृ० ८७५)

४. मानवतावादी दृष्टि भी उत्तरोत्तर विकास पाती गयी है। छायावादी काव्य ने यदि मानव की महत्ता स्थापित करने में योग दिया था तो प्रगतिवादी कवियों ने उसे गौरवपूर्ण स्थान दिया। पंत की 'मानव तुम सबसे सुन्दरतम' कविता, दिनकर की 'कवि और समाज', शम्भूनाथसिंह की 'काल का काल' इत्यादि ऐसी अनेक कवितायें हैं जिनमें मानवतावादी दृष्टि की प्रधानता है।

५. वर्ग चेतना इस काव्य की प्रमुख विशेषता है। कार्लमार्क्स के सिद्धान्त को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनो रूपों में स्वीकार करने के कारण वर्गवादी चेतना का स्फुरण हुआ। कवियों ने शोषक-शोषित, जमींदार, जागीरदार, महाजन, श्रमिक आदि को अपने काव्य में स्थान दिया। पंत की धनपति, केदारनाथ अग्रवाल की डाँगर:युग गंगा में, निराला की नये पत्ते कविताओं में शोषक वर्ग का चित्रण किया है। मध्यम वर्ग का एक चित्र महेन्द्र भटनागर के शब्दो में इस प्रकार है—

पास के घर में
थकी सी अर्द्ध-निद्रित
तीस वर्षीया कुमारी
करवटें लेती किसी की याद में,
क्लर्क है उसका पिता
और वह उलझा हुआ है
फाइलों के ढेर में
(जिन्दगी के फेर में)
सोचता है—
रात काफी हो गई,
अब शेष देखा जायगा जी बाद में।

(मध्य वर्ग (चित्र दो) जिजीविषा पृष्ठ ३२.)

६. क्रांति चेतना और विद्रोह भावना का वर्ग भावना से विशेष संबंध है। शोषितों के प्रति शोषकों के अत्याचार उनमें विद्रोह की भावना भड़काते हैं। प्रगतिवादी कवियों ने इस प्रकार की अनेक कवितायें लिखी हैं। निराला, दिनकर, नवीन, केदारनाथ अग्रवाल शोषित वर्ग को क्रांति के पथ पर आगे बढ़ाते हैं। निराला की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

जल्द जल्द पैर बढ़ाओ, आओ, आओ
आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला
धोबी, पासी, चमार, तेली
खोलेंगे अंधेरे का ताला
एक पाठ पढ़ेंगे टाट बिछाओ। (नराला : बेला पृष्ठ ७८)

७. प्रगतिवादियों की दृष्टि में ईश्वर, धर्म, परम्परा आदि तत्वों को प्रगति में बाधक माना गया है। मार्क्सवाद में नास्तिकवाद का प्रतिपालन इसलिए किया था कि व्यक्ति बुद्धिवादी दृष्टि अपनाये। केदारनाथ अग्रवाल का मानस क्षुब्ध होकर पत्थर के भगवान को तोड़ने के लिए उद्यत हो जाता है—

पत्थर के सिर पर दे मारो अपना लोहा
वह पत्थर जो राह रोक कर पड़ा हुआ है
जो न टूटने के घमंड में अड़ा हुआ है।

(लोक और आलोक पृष्ठ ३६)

८. आस्था और आशा के स्वर ही जन सामान्य में शान्ति और कल्याण को ला सकते हैं। संघर्ष के बल पर ही उज्ज्वल भविष्य बनाया जा सकता है। रांगेय राघव की ये पंक्तियाँ महत्व की हैं—

धार तो आगे रहेगी सतत बहती
हर कदम मंजिल बनाता चल रहा है
देख जीवन के पगों पर मृत्यु झुकती

(रांगेय राघव-मंजिल, हंस, नवम्बर १९४७ पृष्ठ १२७)

९. नारी-प्रेम और प्रकृति के संबंध में प्रगतिवादी कवियों ने नई दृष्टि अपनायी है और उसे मानवी और सहचरी के रूप में प्रतिष्ठित किया। प्रणय की पुतली को क्रांति की प्रतिमा भी बनाया गया—

तुम युग-युग के अवरुद्ध हृदय की विद्रोही वाणी सी बन,
हो फूट पड़ी सहसा, जग का है प्रतिध्वनित तुमसे कण-कण।

१०. सौन्दर्य बोध और शिल्प-विधान के संबंध में प्रगतिवादी कवियों और आलोचकों ने नये ढंग से विचारा। उन्होंने सौन्दर्य की अनुभूति को व्यक्तिगत और समाजगत दोनों माना है। गीति शैली को प्रगतिवादी कवियों ने अपनाया और सरल शैली में लोक धुनों को अपनाकर जन जीवन के गीत प्रस्तुत किये। शिल्प विधान के अन्तर्गत व्यंग्यात्मक, विश्लेषण प्रधान, कथात्मक आदि विभिन्न शैलियों में मात्रिक, वर्णिक और मुक्तक छन्दों का नियोजन किया गया।

इस प्रकार प्रगतिवादी काव्य जन-जीवन को चित्रित करने वाला काव्य बना जिसमें सर्वथा मानव पर विशेष ध्यान दिया गया। ईश्वर, धर्म, नारी और परम्परा पर नवीन ढंग से विचार किया गया। छायावादी कवियों के सिवा आधुनिक नवीन कवियों ने भी इस वाद को विशेष प्रश्रय दिया है।

प्रयोगवाद[1]

छायावादोत्तर काव्य धाराओं में प्रयोगवादी काव्य का विशिष्ट स्थान है। प्रगतिवादी-काव्य पर मार्क्स और प्रयोगवादी काव्य पर फ्रायड, टी० एस० ईलियट तथा अन्य विरोधी लेखकों एवं काव्य धाराओं का प्रभाव माना जाता है। जहाँ तक

१. आधुनिक हिन्दी काव्य के आधार पर।

प्रयोगशीलता का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक युग में नवोदित काव्य-प्रवृत्ति नूतन प्रयोग वस्तु अथवा शिल्प पक्ष या दोनों में करती रहती है। नवीन प्रयोगों के प्रति परम्परावादी कम आकृष्ट होते हैं, युवा पीढ़ी अधिक। एक संघर्ष के उपरान्त नवीन स्थापना होती है वह जो कल तक अग्राह्य था, कतिपय संस्कारों और परिष्कारों के बाद आज गृहीत होने लगता है। ऐसा प्रयोगवाद के सन्दर्भ में भी माना जा सकता है। छायावादी काव्य ग्रन्थों की प्रयोगशीलता द्विवेदी युगीन-कवियों तथा आलोचकों को ठीक नहीं लगी, वे परम्परा से अधिक विच्छिन्न भी नहीं थे, परन्तु तत्कालीन परिवेश में नवीन मानदण्डों की स्थापना करने वाले थे। स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह लेकर आये थे। उत्तर-छायावादी युग में प्रयोगों को ही कवियों ने अभीष्ट बनाया। निराला के प्रयोगों को प्रशंसा मुक्तकंठ से हुई थी पर निराला के काव्य में समाज, संस्कृति और राष्ट्र के सन्दर्भ विद्यमान हैं। उनके बाद के कवियों ने विशेषीकृत रूप में प्रगतिवादी और प्रयोगवाद जैसी धाराओं को (प्रयोगों के नूतन अन्वेषण में) जन्म दिया।

प्रयोगवाद का प्रारम्भ 'तार सप्तम' के प्रकाशन से माना जाता है। अज्ञेय ने अपने सम्पादकीय में 'प्रयोग' शब्द की चर्चा शिल्प के सन्दर्भ में की है। तथा छायावादी काव्य के प्रयोगों से भिन्न धरातल पर एवं नूतन अर्थ का द्योतन कराने वाले शब्दों में अपने काव्य में स्थान दिया। प्रयोग की दृष्टि से छायावादी कवियों में निराला अग्रगण्य हैं परन्तु उनके काव्य में प्रयोग साध्य नहीं रहा है। अज्ञेय सम्पादक के साथ-साथ सर्वप्रथम प्रयोगवादी कवि हैं। उनके अनुसार 'कवि का कथ्य उसकी आत्मा का सत्य है—वह सत्य व्यक्तिबद्ध नहीं व्यापक है और जितना व्यापक है उतना ही काव्योत्कर्षकारी है किन्तु यदि हम मान लेते हैं, तब हम 'व्यक्ति सत्य' और 'व्यापक सत्य' की दो पराकाष्ठाओं के बीच में उसके कई स्तरों की उद्भावना करते हैं और कवि इन स्तरों में से किसी पर भी हो सकता है' (अज्ञेय-तार सप्तक : पृष्ठ ७४)। अज्ञेय ने 'साधारणीकरण' और संप्रेषण' को कवि की मौलिक समस्या माना है। कवि के समक्ष काव्य-विषय, सामाजिक उत्तरदायित्व, संवेदना का पुनः संस्कार आदि अनेक समस्याएँ हैं, जिनके वशीभूत होकर प्रयोगशीलता की ओर वह बढ़ता है। अज्ञेय यह स्वीकार करते हैं कि प्रयोग सभी काल के कवियों ने किए हैं, परन्तु अभेद्य-क्षेत्रों का अन्वेषण उनकी दृष्टि में आवश्यक है। इस निमित्त सामान्य शब्द योजना सहायक सिद्ध नहीं होती, इसलिए भाषा को अपर्याप्त मानकर कवि 'विराम संकेतों से' अंकों और सीधी तिरछी लकीरों से, छोटे बड़े टाइप से, सीधे या उलटे अक्षरों से, लोगों और स्थानों के नामों से, अधूरे वाक्यों से—सभी प्रकार के इतर साधनों से उलझी हुई संवेदना को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचाने में प्रयत्नशील होता है। प्रयोगशीलता को ललकारने वाली समस्याओं में अज्ञेय ने व्यक्ति अनुभूति को समष्टि तक पहुँचाने की समस्या को प्रमुख माना है। अज्ञेय ने इस प्रकार अभिव्यक्ति शैली, साधारणीकरण आदि पर नवीन ढंग से विचार किया है।

विषय वस्तु में प्रयोगवादी कवि मन की गहराइयों में उतरने का हामी है अतः बाह्य वस्तुओं, घटनाओं, नित्य सम्पर्कों और अध्ययन का मन पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है। कवि उसकी अभिव्यक्ति कैसे करता है इसकी ओर अज्ञेय ने संकेत भी किया है। आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति अज्ञेय के अनुसार 'यौन-वर्जनाओं का पुंज' है। उसका जीवन सामाजिक रूढ़ि की दीर्घ परम्परा और स्थिति परिवर्तन की असाधारण तीव्रगति के बीच प्रवाहित होता है। कवि ने लिखा है इस विपर्यास का परिणाम है कि आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनाएँ सब दमित और कुंठित हैं। उसकी सौन्दर्य चेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं। प्रतीक द्वारा जब कभी वास्तविक अभिप्राय अनावृत हो जाता है तब वह उस स्पष्ट इंगित से घबराकर भागता है, जैसे बिजली के प्रकाश में व्यक्ति चौंक जाय (अज्ञेय-तार सप्तक : पृष्ठ ७६)। इस प्रकार यौन वर्जनाएँ तथा सामाजिक और व्यक्ति स्वातंत्र्य सम्बन्धी वर्जनाएँ एक रूप होकर व्यक्ति को विद्रोह की भूमिका पर लाती हैं। यही विद्रोह ,नूतनता का हिमायती है।

'तार-सप्तक' के पाँच कवि—गजानन माधव मुक्ति बोध, नेमिचन्द, भारत-भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे तथा राम विलास शर्मा की कविताओं में समाजवादी दृष्टिकोण प्रबल है। गिरिजाकुमार माथुर यद्यपि विषय की मौलिकता के पक्षपाती हैं, परन्तु शिल्प पक्ष पर विशेष जोर देते हैं। अपने चित्र को स्पष्ट करने के लिए वे वातावरण के रंग उसमें भरते हैं और कहीं-कहीं केवल वातावरण के त्रित्रण से ही विषय इंगित है। चित्र में अधिक गहरे रंगों का प्रयोग वे प्राचीनता का द्योतक समझते हैं। "क्लासिकल" विषयों पर गम्भीर शैली में लिखी गयी कविताओं में मैंने गहरे रंग प्राचीनता लाने के लिए रखे हैं। यहाँ मैंने आधार भूमि विशालकाय कर दी है और डिटेल मैंने रोमानी कविताओं में ही अधिक भरे हैं" (गिरिजाकुमार : पृष्ठ ४०)। अज्ञेय और गिरिजाकुमार माथुर की कविताओं में व्यक्तिपक्ष की अभिव्यक्ति अधिक है। समग्र रूप में 'तार सप्तक' (तार सप्तक का नवीन संस्करण भी आ गया है जिसमें सभी कवियों ने पुराने वक्तव्यों में 'पुनश्च' जोड़कर अपनी काव्य मान्यताओं को स्पष्ट करने का उपक्रम किया है। पहले की अपेक्षा अब ये कवि जन-समाज द्वारा अधिक गृहीत हैं।) के कवियों के वक्तव्यों से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

(१) अज्ञेय के अनुसार कवि का कथ्य आत्मा का सत्य है। उसके समक्ष स्वानुभूत सत्य को व्यापक सत्य में परिवर्तित करने, संप्रेषण आदि की समस्या है।

(२) अज्ञेय के अनुसार सामाजिक रुढ़ियों की जटिलता एवं युग परिवर्तन के बीच मानव का मन विभिन्न वर्जनाओं और कुण्ठाओं से भरा है जिनकी अभिव्यक्ति करना कवि कर्म में है।

(३) मुक्ति बोध के मत से नूतन जीवन, व्यवस्था तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण के लिए वैयक्तिक सीमाओं से निकलकर बाहर आना कवि को अपेक्षित है दूसरे शब्दों में व्याकुल मन को ही अभिव्यक्ति वह करता है।

(४) नेमिचन्द वर्तमान-युग के संघर्ष पूर्ण परिवेश में बुद्धि एवं हृदय, भावना एवं विवेक, आदर्श एवं आचार में सामंजस्य न देखकर कवि मन की आंतरिक संघर्षमयी चेतना के प्रति इंगित करते हैं। यह चेतना सामूहिक प्रयत्न से स्वस्थ धरातल पर आ सकती है परन्तु कवि का मन और संस्कार इसमें व्यवधान बनते हैं, अतः वह अपने विवेक से इसका उद्वेगपूर्ण उद्घोष करने का पक्षपाती है।

(५) भारत भूषण और नेमिचन्द ने कवि की प्रगतिशीलता उसके व्यक्तित्व सामाजिकता में मानी है।

(६) प्रभाकर माचवे और रामविलास शर्मा ने नई कविता को छायवाद की अस्वस्थ आत्मरति मृत्युप्रेम तथा स्त्रैणता से बचने की चेतावनी दी है और उसके वस्तु-क्षेत्र को व्यापक बनाने के लिए लोकगीत, लोकगाथा, जन-जीवन, व्यंग्य चित्र, बोलचाल की भाषा में नवीन चित्रों का प्रस्तुतीकरण आवश्यक माना है।

(७) प्रभाकर माचवे और गिरिजाकुमार ने अभिव्यंजना के क्षेत्र में लोकभाषा तथा नवीन छन्दों की योजना पर विशेष बल दिया है।

'तार-सप्तक' का प्रकाशन सन् १९४३ में हुआ था। सन् १९४७ में अज्ञेय ने 'प्रतीक' का प्रकाशन प्रारम्भ किया और प्रयोगवादी काव्य के सत्य-बोध तथा शिल्प के सम्बन्ध में व्यापक चर्चा की।

'द्वितीय सप्तक' का प्रकाशन सन् १९५१ में हुआ था। इस अवधि में आलोचकों ने प्रयोगवाद को लेकर अनेक विधि विचार व्यक्त किये थे। परम्परावादी और स्वच्छन्दतावादी आलोचकों में किसी ने उसे बैठे-ठाले का धन्धा माना और भारतीय-परिवेश के विरुद्ध ठहराया, तो नयी चेतना के समीक्षकों ने इसका घोर प्रतिवाद किया और विश्व-विद्यालयीन समीक्षा पर कीचड़ उछाला। 'द्वितीय सप्तक तक आते-आते काव्य में कतिपय ऐसे प्रयोग आ चुके थे जिनसे प्रयोगवाद को स्थिरता मिली। 'तार-सप्तक' की कविताओं में नई कविता के बीज देखें जा सकते हैं। द्वितीय-सप्तक में उसका विकास द्रष्टव्य है। 'तार-सप्तक के कवि अज्ञेय के अनुसार नई 'राहों के अन्वेषी' थे। प्रयोग को लेकर अन्वेषण करने की दिशा में जिस संज्ञा से (प्रयोगवाद) उन्हें अभिहित किया गया, उसका द्वितीय-सप्तक की भूमिका में विरोध किया गया। 'वाद' से ऊपर उठने की स्थिति का समर्थन अज्ञेय ने विभिन्न प्रकार से किया है। वे कहते हैं 'प्रयोगवाद' नाम के नये मतैवाद के प्रवर्त्तन का दायित्व, क्योंकि अनचाहे और अकारण ही हमारे मत्थे मढ़ दिया गया है, इसलिए हमारा इन प्रश्नों के उत्तर में कुछ कहना आवश्यक है······प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं। न प्रयोग अपने आप में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नहीं है, कविता भी अपने आप में इष्ट या साध्य नहीं है।

अतः हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक है जितना हमें कवितावादी कहना (अज्ञेय-दूसरा सप्तक : पृष्ठ ६)। अज्ञेय प्रयोग को इष्ट न मानकर साधन-दोहरा साधन मानते हैं, क्योंकि 'एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का भी साधन है, अर्थात् प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य का अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है। वस्तु और शिल्प दोनों के क्षेत्र में प्रयोग फलप्रद होता है।' इसके आगे विभिन्न समीक्षकों के उत्तर देते हुए अज्ञेय ने प्रयोग की परम्परा पर विचार किया है। वे कहते हैं 'प्रयोग निरन्तर होते आये हैं और प्रयोगों के द्वारा ही कविता या कोई भी कला, कोई भी रचनात्मक कार्य आगे बढ़ सका है। जो कहता है कि मैंने जीवन भर कोई प्रयोग नहीं किया, वह वास्तव में यही कहता है कि मैंने जीवन भर कोई रचनात्मक कार्य नहीं करना चाहा (अज्ञेय दूसरा सप्तक-पृष्ठ ८)। इसी स्थल पर साधारणीकरण के क्षेत्र, तथा वर्तमान समय में कवि की स्वानुभूत संवेदना की संप्रेषणीयता के प्रश्न पर विचार किया गया है। भूमिका का प्रथम भाग यहीं समाप्त होता है। द्वितीय भाग में विभिन्न कवियों के सम्बन्ध में संक्षेप में विचार है। दूसरा सप्तक के शवि भवानी-प्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरि नारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश कुमार मेहता, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती हैं। प्रत्येक कवि ने काव्य और काव्य प्रेरणा के सम्बन्ध में अपने वक्तव्य दिये हैं।

भवानी प्रसाद मिश्र ने कवि को साधारण प्रेरणाओं और सामर्थ्यों का मनुष्य माना है और साधारण बोलचाल की भाषा का समर्थन किया है :—

जिस तरह हम बोलते हैं
उस तरह तू लिख
और उसके बाद भी
हमसे बड़ा तू दिख (भूमिका : दूसरा सप्तक : पृष्ठ ६)

अद्वैतवादी और गाँधीवादी मिश्र जी ने इस प्रकार कविताओं में सीधी-सादी बात कहना पसन्द किया है। विषय भी दैनंदिन जीवन के हैं इसलिए सर्वाधिक आकर्षक काव्य हमारे सामने आया है। श्री गिरिजाकुमार माथुर की पत्नी शकुन्तला माथुर की कविता में किसी खास विचारधारा शिल्प, साहित्यिक वाद या भाषागत आग्रह न होकर 'स्वान्तः सुखाय' की भूमिका विशेष प्रबल है, इसलिए सर्वत्र मनमाना प्रयोग, गति, छन्द, संगीत आदि हैं। जन-जन की भावनाओं को अभिव्यक्ति देना कवि का कर्त्तव्य मानकर वे उसके व्यक्तित्व को शीर्ष की प्राथमिकता देती है। "जीवित कविता वास्तविक जीवन के वातावरण में जन्म लेती है" (दूसरा सप्तक पृष्ठ ३५-३६)। हरिनारायण व्यास ने वैयक्तिक चेतना को पूंजीवाद की देन माना है। छायावादी काव्यधारा पर अपने विचार देकर वे अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी'

उपन्यास की वैयक्तिकता को 'तार-सप्तक' के व्यक्तिवाद से सम्बद्ध करते हैं। उनके विचार से सातों कवि जीवन के यथार्थ को समझने के लिए भाषा, भाव, छन्द आदि प्रत्येक अभिव्यक्ति के माध्यम को नया रूप देने का प्रयत्न करते हैं। 'तार-सप्तक' को वे चीत्कारों की ढेरी मानते हैं' (दूसरा सप्तक : पृष्ठ ५८)। प्रकरान्तर से उनका मत है कि दूसरे सप्तक के कवियों ने अपना क्षेत्र वहीं तक सीमित नहीं रखा। व्यक्ति के अपनी सामाजिक चेतना से जागरूक होकर इतना विशाल बनाने का आग्रह करते हैं कि उसमें समाज की सारी आवश्यकताओं का समावेश हो जाये। व्यास जी ने अपनी मान्यताओं में काव्य को जीवन सान्निध्य से प्रसूत माना है। भाषा को जीवन और समाज के शस्त्र के रूप में स्वीकार करके वे पुरानी मान्यताओं, पुराने शब्दों, कहावतों आदि को नया अर्थ इसलिए देना चाहते हैं कि अनुभूतियाँ पाठक की अपनी बन जायें। इस प्रकार नये संसार, नये जीवन के हिमायती व्यास दूसरे सप्तक के महत्वपूर्ण कवि हैं।

शमशेर का प्रबल आग्रह जन मन को छूने वाली कविताओं का है। सर्वत्र उन्होंने लोकभाषा और लोक जीवन की चर्चा की है। नयी कविता में उनके अनुसार कवि को अपनी भावनाओं की सच्चाई पर ध्यान देना चाहिए। ललित कलाओं का प्रभाव भी कवि को अपनी रुचियों से कला में निखार लाना चाहिए, उन्हें बाधा नहीं बनने देना चाहिए। इसके साथ-साथ शमशेर जीवन की सजीवता और कला में सौन्दर्य वृद्धि के लिए दो चार अन्य भाषाओं का ज्ञान कवि को आवश्यक मानते हैं। जीवन और कला का पारस्परिक सम्बन्ध है। कला को जीवन का सच्चा दर्पण स्वीकार करते हुए वे उसे नये पुराने दोनों कलाकारों के निमित्त उत्तम समझते हैं। यही नयी-पीढ़ी-नये जीवन की नींव डालने का कार्य करती है।

नरेश कुमार मेहता ने स्वयं को उतना अहंवादी और व्यक्तिवादी नहीं माना है जितना उन पर आरोप है। वे युग-परिवर्त्तन के कारण आधुनिक कविता की मृत्यु की चर्चा करते हैं। 'उषस्' शीर्षक कविता में उनकी कविता और युग सम्बन्धी भावनाओं की अभिव्यक्ति है। रघुवीर सहाय पर अज्ञेय और शमशेर का प्रभाव है। सामाजिक यथार्थ के प्रति जागरूक होकर रघुवीर सहाय समाज को वैज्ञानिक ढंग से बदलने का आग्रह करते हैं। उनके विचार से मार्क्सवाद का गिलाफ कविता पर नहीं चढ़ाया जा सकता है। अनुभूति की प्रखरता पर बल देते हुए वे कहते हैं कि विचार वस्तु का कविता में खून की तरह दौड़ते रहना कविता को जीवन और शक्ति देता है, और यह तभी सम्भव है जब हमारी कविता की जड़ें यथार्थ में हों' (दूसरा सप्तम: पृष्ठ १५१)।

धर्मवीर भारती ने कविता को शान्ति की छाया और विश्वास की आवाज माना है। रसोद्रेक की अपेक्षा प्रभाव डालना कविता का मुख्य कार्य है। संक्रान्ति के इस युग में भारती के अनुसार चेतना के नये क्षितिज खुलते जा रहे हैं। अतः

पुरानी मान्यताओं के आधार पर कविता की परीक्षा असंगत है। नये-प्रयोगों के सम्बन्ध में भारती का विचार है कि वे प्रयोग के लिए प्रयोग नहीं करते अपनी अनुभूतियों एवं विश्वासों के तीव्र अनुरोध से प्रेरित होकर ही परम्परा तोड़ते और नए प्रयोग करते हैं। वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को उन्होंने आंशिक रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार दूसरे सप्तम के कवियों ने बैयक्तिकता के विकास नये परिवेश, नये संवेदन, नयी अनुभूतियों, नयी अभिव्यंजना, नये मानदण्डों सांस्कृतिक नव निर्माण आदि पर विशेष बल दिया है। दोनों सप्तकों के कवियों में समाज-परक-दृष्टि, भाषा का जन-जीवन को चित्रित करने वाली होना, नई शैलियों, छन्दों, लोक जीवन, कला आदि साधारणीकरण पर लगभग समान विचार मिलते हैं। अन्तर केवल इस बात में है कि 'तार-सप्तक' के कवि साम्यवादी अधिक हैं। काव्य में आन्तरिक संघर्ष और मानसिक उलझन को अधिक महत्व दिया है। यौन कुण्ठाएँ अज्ञेय में अधिक मिलती हैं। तार-सप्तक के कवियों में एक उद्देश्य आद्यन्त है जबकि 'दूसरे-सप्तक' के कवि इससे मुक्त हैं।

प्रपद्यवाद—'तार-सप्तक' की परम्परा में 'दूसरा-सप्तक' के उपरान्त तीन कवियों नलिन विलोचन शर्मा, केसरी कुमार तथा नरेश ने मिलकर अज्ञेय द्वारा किये गये 'प्रयोगवाद-विरोधी' (दूसरे सप्तक की भूमिका के) वक्तव्य का प्रतिवाद किया और विशुद्ध प्रयोगवाद के समर्थन में आन्दोलन किया। 'प्रकाश' नामक पत्रिका में सन् १९५२ में नरेश ने प्रयोगवाद को नये ढंग से प्रपद्यवाद के नाम से प्रस्तुत किया। नकेन तीनों कवियों के नामों के प्रथम वर्ण का संकेत देता है और नाम संकेत का अभिधेय भी है। द्वादश सूत्री घोषणा में अन्तिम दो का संग्रथन सन् १९५४ में हुआ था। सूत्र इस प्रकार हैं कि उनसे प्रयोग के दर्शन का सांगोपांग विवेचन मिलता है जो एक धरातल पर अतिशय अतिवादी और समाज से परे काव्य सत्ता की ओर संकेत करते हैं :—

१. प्रयोग भाव और व्यंजना का स्थापत्य है।
२. प्रयोगवाद सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है, उसके लिए शास्त्र या दल निर्धारित नियम अनुपयुक्त हैं।
३. प्रयोगवाद महान् पूर्ववर्तियों की परिपाटियों को भी निष्प्राण मानता है।
४. प्रयोगवाद दूसरों के अनुकरण की तरह अपना अनुकरण भी वर्जित समझता है।
५. प्रयोगवाद को मुक्त काव्य की नहीं, स्वच्छन्द काव्य की स्थिति अभीष्ट है।
६. प्रयोगशील प्रयोग को साधन मानता है, प्रयोगवादी साध्य।
७. प्रयोगवाद की दृक्वाक्यपदीय प्रणाली है।
८. प्रयोगवाद के लिए जीवन और कोष कच्चे माल की खान हैं।
९. प्रयोगवादी प्रयुक्त शब्द और छन्द का स्वयं निर्माता है।
१०. प्रयोगवाद दृष्टिकोण का अनुसन्धान है।

प्रयोगवाद-विशेष अथवा प्रपद्यवाद के दो नये सूत्र सन् १९५४ में प्रस्तुत किये गये।

११. प्रपद्यवाद मानता है कि पद्य में उत्कृष्ट केन्द्रण होता है और यही गद्य में अन्तर है।

१२. प्रपद्यवाद मानता है कि चीजों का एक मात्र सही नाम होता है।

इन सूत्रों में प्रयोग का दर्शन है। जिसके अनुसार 'कविता की वास्तविक प्रेरणा' वस्तु स्थिति से मिलती है। वस्तु द्रष्टा के भीतर भाव छबियाँ उत्पन्न करती हैं। उन छबियों के साथ द्रष्टा की असंगतियाँ मिलकर एक दृष्टि विन्दु उत्पन्न करती हैं और जब उस दृष्टि-विन्दु से कवि वस्तु को देखता है तब वह शक्ति के एक नये संश्लेष के रूप में दिखाई पड़ती है। इस प्रकार कविता में सदा ही पुर्ननिर्माण हुआ करता है—प्रपद्यवाद अनुभूति को शब्द से अलग नहीं देखता। वह प्रत्येक अनुभव को संश्लेष के रूप में देखता है। स्वीकृत संगतियों की अनुभूति स्वीकृत शब्द-संगतियों से ही होगी, इसलिए नवीन संगतियों के लिए नवीन शब्द संगति की आवश्यकता होगी, क्योंकि कविता शब्दों में लिखी जाती है, और शब्द-संगति से अर्थ ग्रहण करते हैं।'' (नकेन के प्रपद्य : पृष्ठ ११४-११५-११६)। इसी स्थल पर नकेनवादियों से संप्रेषण अथवा साधारणीकरण के आधुनिक रूप को भी विचारा है। वे अज्ञेय की साधारणीकरण सम्बन्धी व्याख्या से असहमत हैं उनका कहना है कि शब्द अपूर्ण होते हैं इसलिए वे पाठक की स्वतन्त्रता को वापस कर देते हैं। कविता का कार्य यह है कि अपने शब्दों से सामान्य अनुभूति के क्षेत्र के आगे जाकर पाठक को स्वतन्त्र करे। 'यह स्वतन्त्रता आज ज्यादा आवश्यक है क्योंकि आज, साधारणीकरण नहीं, ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में विशिष्टीकरण हो रहा है।' इसलिए कविता में गद्य का प्रेषण-सम्बन्धी गुण नहीं आ सकता।' नया कवि मुक्त आसंग के सहारे, यानी उपचेतन की ही शक्ति से, उसकी जटिलता को परास्त करके मार्ग निकालना चाहता है। उसकी दृष्टि व्यक्तित्व का आरोप, वस्तु और काव्य और इस प्रकार काव्य और पाठक के बीच का व्यवधान है। वह पाठक को बौद्धिक नहीं, ऐन्द्रिक आघात देना चाहता है। भाषा की सम्भावनाओं की खोज करना तब धर्म हो जाता है।'' (नकेन के प्रपद्य : पृष्ठ ११७-११८)।

प्रयोगवादियों की अपेक्षा उसी परम्परा के प्रपद्यवादी कवि वैयक्तिकता का आग्रह विशेष करते हैं। उनकी दक्-वाक्य-पदीय प्रणाली में कविता को समझने के लिए अर्थ, उच्चरित ध्वनि, कागज पर कविता लेखन की प्रणाली का देखा जाना आदि सम्मिलित है। अतीत को खाद बनाकर वे आविष्कार करते हैं। काव्य में बौद्धिकता का अतिशय समावेश होने के कारण क्लिष्टता और असामान्यता का गुण स्वाभाविक है, इसीलिए साधारणीकरण के स्थान पर विशिष्टीकरण का समर्थन है। यहीं पर द्रष्टव्य है कि मार्क्सवाद, साम्यवाद और गाँधीवाद कविता के लिए किसी महत्व के नहीं हैं। सर्वत्र नवीनता का आग्रह करने और समाज से विच्छिन्न

होने के कारण प्रपद्यवाद को अधिक उत्साह के साथ ग्रहण नहीं किया गया। उसका ऐतिहासिक महत्व ही रह गया है। किन्तु कतिपय महत्वपूर्ण तत्वों को भुलाया नहीं जा सकता जैसे प्रपद्यवाद की प्रतीक-योजना व्यंग्य-विधान, शब्दों के वैयक्तिक प्रयोग, भाषा में नूतन प्रयोग आदि।

तीसरा सप्तक—प्रथम सप्तक के कवियों ने एक नयी प्रवृत्ति को दर्शाया था। द्वितीय सप्तक के कवि 'वाद' से मुक्त हुए क्योंकि प्रयोग अन्तिम साध्य नहीं है। प्रपद्यवाद के माध्यम से प्रयोग का एक दर्शन सामने आया परन्तु तीसरे सप्तक तक आते-आते कवियों ने अपने वक्तव्यों में काव्य के सम्बन्ध में अपनी अनुभूतियों और धारणाओं को व्यक्त किया है। इस सप्तक के प्रमुख कवि श्री प्रयाग नारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, केदारनाथ सिंह, कुँवर नारायण, विजय देव नारायण साही, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना हैं। यद्यपि इन कवियों के वक्तव्य काफी रोचक हैं परन्तु इस सप्तक में संगृहीत रचनाओं में ऐसे तत्व कम ही उभर पाये हैं जिनके आधार पर एक दूसरे से भिन्न होने की विशेषताओं को दर्शाया जा सके। प्रथम दो कवियों की रचनाओं में सहज लय और परिचित बिम्ब विधान एव वातावरण है, इनमें स्मृत्यात्मक अनुभूति को उत्पन्न करने की विशेषता है। तीसरे कवि की रचनाओं में यांत्रिक शब्दावली अधिक है वातावरण भी वैसा ही है। उपमानों में नवीनता और विलक्षणता है। विचार और संस्कार भी नये लगते हैं। चौथे कवि ने बिम्ब-विधान पर सबसे अधिक ध्यान देने की बात कही है, पर बिम्ब की अस्पष्टता प्राय: है और शब्द भी कभी-कभी अनुपयुक्त। जोरदार एवं प्रेरक पद के रूप में कवि ने लिखा है—

आँखें खुलीं दिखा आगे पथ मुड़ता-मुड़ता
पार क्षितिज के चला गया था, ज्यों गदराया-
धुआँ हो चले घना,

यहाँ 'गदराया धुआँ' का कोई स्पष्ट बिम्ब बन नहीं पाता। अधिकांश जटिल और जड़े हुए वाक्य न तो चमत्कार की सृष्टि कर पाते हैं और न स्मरणीय उक्ति ही बना पाते हैं परन्तु कुछ कविताओं में विशेषण बड़े चोखे हैं।

धूप चिड़चिड़ी, हवा बेहया, दिन मटमैला,
मौसम पर रंग चढ़ा फागुनी,

पाँचवें कवि की रचनाएँ प्राय: अधीत, बौद्धिक और संयत हैं। बिम्ब स्पष्ट और वाक्यावली संक्षिप्त—कहीं-कहीं टेलीग्रैफिक है। विशेषण का प्रयोग कहीं-कहीं बड़ा आकर्षण है। अभिव्यक्ति में बारीकी और गहराई भी मिलती है। पर सब मिलाकर अभिव्यक्ति की बोझिलता अधिक दर्शाते हैं। छठे कवि में भी शैलीगत और विचार-गत विविधता मिलती है। उक्तियाँ सर्वत्र कसी हुई और स्मरणीय न बनकर भी, लम्बे वाक्यों और पदों के प्रवाह में ओज और गति का संयम, प्रस्तुत करती हैं। अन्तिम

कवि की कुछ पंक्तियाँ अधिक सुन्दर हैं। नये साल पर कविता से एक अंश द्रष्टव्य है—

नये साल की शुभ कामनाएँ

खेतों की मेंड़ों पर धूल भरे पाँव को
कुहरों में लिपटे उस छोटे से गाँव को।
जाँतों के गीतों को, बैलों की चाल को,
करघे के कोल्हू को मछुओं के जाल को,
इस पकती रोटी को, बच्चों के शोर को,
चौके की गुन-गुन को चूल्हे की भोर को,
कोट के गुलाब और जूड़े के फूल को
हर नन्हीं याद को, हर छोटी भूल को
नये साल की शुभ-कामनाएँ।

इस प्रकार समग्रत: इन कवियों ने नवशब्द निर्माण, विशेषण रचना, बिम्ब-सृष्टि, हास्य और व्यंग्य, सूक्ष्म मानस विश्लेषण, लोक गीतों की शब्दावली एवं स्वर संगीत विधान को सर्वथा नये रूप में प्रस्तुत किया है। सप्तकों के क्रम में यह तीसरा सप्तक है पर वास्तव में इसे सभी दृष्टियों से पहला और मन्द्र सप्तक कहना अधिक उपयुक्त होगा। इस प्रकार दूसरा मध्य और प्रथम तीसरा अर्थात् तार सप्तक के रूप में देखा जाये तो अधिक सार्थक होगा।

इस प्रकार प्रयोगवादी काव्य प्रारम्भ में प्रयोगशीलता के साथ प्रारम्भ हुआ। दूसरे सप्तक तक आने पर उसे बाद से मुक्त होना पड़ा, भले ही प्रपद्यवाद के रूप में एक प्रयोगवादी दर्शन हमारे सामने आया। पर तीसरे सप्तक तक आने पर कवियों ने अपनी धारणाओं में विकास किया और नये काव्य की उत्तम भूमिका बनी। इन तीनों सप्तकों और प्रपद्यवाद के एक क्रम में परखने पर ही प्रयोगवाद का सर्वांग परिचय मिलता है।

अभिव्यंजनावाद[1]

अभिव्यंजनावाद की काव्यशास्त्र के अन्तर्गत तथा वादों के रूप में काफी चर्चा हुई है; पर क्रोचे का अभिव्यंजनावाद, काव्य का एक दर्शन (Phltosophy of Poetry) प्रस्तुत करता है। यह वास्तव में काव्य को देखने की एक दृष्टि प्रदान करता है जिसके द्वारा यूरोप में कलावादी आन्दोलन को बहुत बड़ा बल मिला; परन्तु उसमें साहित्य या कविता की कसौटी के रूप में कोई मानदण्ड हमें प्राप्त नहीं होता जिसके आधार पर सूक्ष्मता और विशदता के साथ काव्य की विशेषताओं की विस्तृत परीक्षा कर सकें। ऐसी दशा में जिस प्रकार अलंकार, रीति, ध्वनि तथा बिम्बबाद, प्रतीकवाद इस दृष्टि से हमारे लिए महत्व रखते हैं, वैसा महत्व अभिव्यंजनावाद नहीं रखता।

---

[1] डॉ० भागीरथ मिश्र—'काव्यशास्त्र' के आधार पर।

कुछ लोगों ने अभिव्यंजनावाद की तुलना कुन्तक के वक्रोक्तिवाद से की है; परन्तु ऐसा करना उचित नहीं। दोनों का दृष्टिकोण भिन्न है, साथ ही दोनों का क्षेत्र भी भिन्न है। अतः कुन्तक का वक्रोक्तिवाद जिस प्रकार काव्य की एक कसौटी बनकर हमारे सामने आ सका है, अभिव्यंजनावाद वैसा नहीं कर सका। कुन्तक जहाँ कविता का मुख्य तत्व या प्राण वक्रोक्ति को मानते हैं और इस प्रकार कविता के विविध रूपों में, उसके विशिष्ट सौन्दर्य में, वक्रोक्ति के विभिन्न रूपों का विश्लेषण करते हैं, वहाँ क्रोचे की कविता अभिव्यंजना है; इस दृष्टि से वह अभिव्यंजना की सृजन-प्रक्रिया की, जो प्रत्येक कला की सृजन-प्रक्रिया है —मीमांसा प्रस्तुत करता है। इस प्रकार काव्य - रचना किस प्रकार होती, उसका एक विश्लेषण अभिव्यंजनावाद है, जब कि रचित या उपलब्ध काव्य में सौन्दर्य के विविध तत्व क्या है, उनके रूप में वक्रोक्ति के विभिन्न प्रकारों का निरूपण कुन्तक का ध्येय है। अतः दोनों में अन्तर है, फिर भी एक बात में साम्य देखा जा सकता है और वह यह कि दोनों ही आचार्य अपने सिद्धान्तों तथा उनके प्रतिवादन, विश्लेषण और विवेचन में अद्वितीय मौलिकता रखते हैं।

अभिव्यंजनावाद काव्य और कला के स्वरूप-विश्लेषण का एक व्यक्तिवादी सिद्धान्त है जिसका निरूपण बेनेदेतो क्रोचे ने अपने ग्रंथ 'थियरी ऑफ इस्थेटिक' में किया है। इस सिद्धान्त के द्वारा यूरोप में बहुत कुछ कलावाद या कला-कला के लिए है, इस मत के समर्थन की आधारभूमि तैयार हुई। क्रोचे इटली का एक अति प्रतिभा सम्पन्न दार्शनिक एवं मौलिक विचारक था। इसका समय सन् १८६६ से १९४२ तक रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी का रोमैन्टिकवाद भी इससे प्रभावित हुआ और उसको काव्य और कला के क्षेत्र में विशेष पोषण प्राप्त हुआ। आगे चलकर इस सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असत्य सिद्ध करने के द्वारा इसका विरोध भी हुआ है। यहाँ हम संक्षेप में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद नामक काव्य-सिद्धान्त की रूपरेखा प्रस्तुत कर रहे हैं।

क्रोचे ज्ञान के दो रूप मानता है। एक सहज ज्ञान और दूसरा बुद्धि-उपलब्ध ज्ञान। प्रथम को हम प्रज्ञा या प्रतिभा और द्वितीय को प्रमा कह सकते हैं। प्रथम कल्पना द्वारा होता है और द्वितीय तर्क एवं विचार द्वारा (Croce : Theory of Aesthetic, पृष्ठ १)। सहज ज्ञान का सम्बन्ध काव्य और कलाओं से है और बुद्धि या तर्कलभ्य ज्ञान या प्रमा का सम्बन्ध विज्ञान, शास्त्र और दर्शन आदि से हैं। प्रत्येक सहज ज्ञान या कल्पनालब्ध ज्ञान कोई व्यक्ति या रूपाकार होता है, गुण या सामान्य विशेषता नहीं। अतएव शुद्ध सहज ज्ञान अपने आप में एक अभिव्यक्ति है; क्योंकि वह बिम्बात्मक है। अतः बौद्धिक क्रिया की अपेक्षा सहज मानस-क्रिया में सहज ज्ञान उसी मात्रा में प्राप्त होता है जिस मात्रा में वह अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार सहजानुभव प्राप्त करना अभिव्यंजना है, न उससे कम न उससे अधिक। सहज ज्ञान कल्पना पर पड़े प्रभाव की अभिव्यक्ति के रूप में है और क्रोचे के विचार से कल्पना

पर पड़े विचार की अभिव्यक्ति ही कला है। अतः निष्कर्षतः कला सहजानुभूति है और कला या अभिव्यंजना के उपर्युक्त विश्लेषण से यह प्रकट होता है कि अभिव्यंजनावाद, कलावाद, बिम्बवाद, भाववाद आदि वादों के मूल में है।

क्रोचे की एक और विलक्षण स्थापना है कि सभी मनुष्य कवि हैं—कुछ बड़े और कुछ छोटे (Croce : Theory of Aesthetic, पृष्ठ २४)। जिनकी सहजानुभूति या अभिव्यंजना पूर्ण है वे बड़े कवि हैं जिनकी अपूर्ण है वे छोटे। अभिव्यंजना, कला या काव्य एक सौन्दर्य-सृष्टि है। इस सृजन की प्रक्रिया की चार अवस्थाएँ हैं (Croce : Theory of Aesthetic, पृष्ठ १५६)। प्रथम कल्पना पर पड़ा प्रभाव जिसे भारतीय रसशास्त्र के अनुसार वासना या संस्कार कहा जा सकता है; द्वितीय अभिव्यक्ति या मानसिक सौन्दर्यात्मक संश्लेषण; तृतीय सौन्दर्यानुभूति का आनन्द और चतुर्थ इसकी शारीरिक क्रिया के रूप में रूपान्तर जैसे ध्वनि, स्वर, गति, रंग, रेखा आदि के रूप में प्रकटीकरण। ये चारों अवस्थायें जिसकी सहजानुभूति के साथ निर्वाद रूप से पूर्ण और सफल होती हैं वही बड़ा कवि या कलाकार है। शेष अन्य कवि या कलाकार है। शेष अन्य कवि या कलाकारों में ये सभी अवस्थायें पूर्णता को नहीं प्राप्त होतीं; पर द्वितीय स्थिति तक तो सभी आते हैं।

क्रोचे ने सौन्दर्य शास्त्र के अन्तर्गत तत्व और रूप—इन दो पक्षों पर भी विचार किया है और यह सिद्ध किया है कि सौन्दर्य-सत्ता के अन्तर्गत रूप ही महत्व का है, तत्व नहीं। वास्तविक तत्त्वज्ञान की अपेक्षा सहज-ज्ञान भिन्न वस्तु है। कला, ज्ञान भी है और रूप भी, अतः वह दृष्टिगोचर तत्त्व अनुभूति या मानसिक तत्वों से भी भिन्न है। क्रोचे का स्वयं कथन है :—

क्योंकि कला ज्ञान और रूप है, वह भावना और मनोपदार्थ के संसार से संबद्ध नहीं है, कारण क्या है कि बहुत से सौन्दर्य शास्त्रियों ने बहुधा इस बात पर जोर दिया है कि कला प्रतीति इसलिये होती है क्योंकि उन्होंने इसे प्रज्ञात्मकता संधारण द्वारा अधिक जटिल प्रत्यक्षीकरण से पृथक् रखने की आवश्यकता अनुभव की। इसी कारण यह दावा किया गया कि कला मनोभाव है। वास्तव में यदि धारण या कला की विषय वस्तु और ऐतिहासिक रूप में मानी जाने वाली सत्यता को बहिष्कृत किया गया तो इस व्यापक प्रयत्न में समग्र तात्कालिकता एवं वैदग्ध्य में बोध की गई सत्यता के सिवा कुछ न होगा, मनोभाव में कहा जाये तो विशुद्ध प्रज्ञा ही है।" (थ्योरी ऑफ एस्थेटिक पृ० २९-३०)।

उपर्युक्त कथन इस बात का संकेत करता है कि क्रोचे का सहज-ज्ञान वास्तव में भावात्मक ज्ञान है और कला भावाभिव्यक्ति है। भाव अनुभूति मात्र नहीं, वरन् अनुभूति का कल्पनागत या स्मृत रूप है। इसकी स्थिति भी अभिव्यंजना की पूर्णता या सफल अभिव्यंजना प्रक्रिया में देखी जा सकती है। भारतीय विचारधारा के अनुसार भाव का भी मानसिक विश्लेषण लगभग वैसा ही है जैसा कि पूर्ण अभिव्यंजना की प्रक्रिया की चारों अवस्थाओं के अन्तर्गत क्रोचे ने स्पष्ट किया है। क्रोचे के मत से

ये चार अवस्थायें होते हुए भी अभिव्यंजना अखण्ड है और उसे विभिन्न वर्गों में भी विभक्त नहीं किया जा सकता।

क्रोचे के मत से केवल प्रभाव नहीं, वरन् प्रभाव की रूप रचना अभिव्यंजना या कला है (क्रोचे, थ्यौरी ऑफ ईस्थेटिक्स्, पृ० ३०)। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का भी इसी प्रकार का मत है कि काव्य सामान्य का वर्णन नहीं करता, वरन् विशेष या व्यक्ति का रूप प्रस्तुत करता है। यह रूप-सर्जना ही कवि या कलाकार का काम हैं, सामान्य गुण-विवेचन नहीं। क्रोचे सहज-ज्ञान या अभिव्यंजना को विचार या बुद्धि-जन्य ज्ञान की प्रथम सीढ़ी मानता है। इस प्रसंग में उसका विचार द्रष्टव्य है—

"प्रज्ञात्मक ज्ञान अथवा अभिव्यक्ति और बौद्धिक ज्ञान अथवा धारणा, कला और विज्ञान और काव्य तथा गद्य के बीच के सम्बन्ध को केवल यह कहकर ही परिभाषा दी जा सकती है कि वह दो मात्राओं (डिग्री) में से एक है। प्रथम मात्रा 'अभिव्यक्ति' है और द्वितीय 'धारणा'; प्रथम का अस्तित्व दूसरे के बिना हो सकता है परन्तु दूसरा प्रथम पर ही आधारित है। बिना गद्य के काव्य का अस्तित्व है, परन्तु काव्य के बिना गद्य का नहीं। अभिव्यक्ति, वास्तव में, मानव क्रिया की प्रथम मान्यता है, काव्य मानव जाति की मातृ व्यवहार की भाषा है, प्रकृति से प्रथम मनुष्य भी उदात्त कवि थे।" पृ० ४३)

क्रोचे के विचार से सौन्दर्य सफल अभिव्यंजना है या केवल अभिव्यंजना है; क्योंकि जो सफल नहीं वह अभिव्यंजना ही नहीं है। इस प्रकार कुरूप या भद्दा असफल अभिव्यंजना है और जिसमें अभिव्यंजना असफल है उस कला-कृतियों में भी कहीं-न-कहीं गुण विद्यमान होते हैं, परन्तु जो सफल है उसमें भी दोष है, यह क्रोचे को स्वीकार नहीं। क्रोचे के विचार से गुण परस्पर सम्मिश्रित होते हैं अतः उनका अलग-अलग निदर्शन कठिन होता है। उसके मतानुसार सुन्दर कृतियों की कोटियाँ नहीं होती। असुन्दर की ही कोटियाँ होती हैं। क्रोचे के उपर्युक्त विचार निश्चयतः अत्यन्त आदर्शवादी हैं।

प्रकृति के सम्बन्ध में भी क्रोचे के विचार अपना वैशिष्टय रखते हैं। उसका कथन है कि प्रकृति उन्हीं के लिए सुन्दर है जो कलाकार या कवि की दृष्टि से देखते हैं (Theory of Aesthetic पृष्ठ १०)। कल्पना की दृष्टि के बिना प्रकृति का कोई अंग सुन्दर नहीं। जब कवि प्रकृति के स्वरूप को अपने दृष्टिकोण से सुधार कर प्रस्तुत करता है तब उसमें सौन्दर्य की सत्ता आती है। प्रकृति प्रेरणा भी उनको देती है जो इस प्रकार सहजानुभूति और कल्पना द्वारा देखते हैं। क्रोचे बाह्य पदार्थों को कल्पना में बिम्ब उत्पन्न करने वाली वस्तुओं के रूप में स्वीकार करता है।

कला या अभिव्यंजना एक मानसिक क्रिया है, एक आध्यात्मिक आवश्यता है, इसलिए क्रोचे इसे सहजानुभूति या सहजज्ञान के रूप में स्वीकार करता है। क्रोचे ने कला को मानव की एक सहज-मानसिक क्रिया के रूप में स्वीकार करके उसकी

अखण्डता और शाश्वत सत्ता को प्रमाणित किया है। फिर भी कला जिस रूप में एक पूर्ण या शाश्वत वस्तु है वह दुर्लभ वस्तु है।

क्रोचे काव्य या कला का प्रयोजन अभिव्यंजना मात्र से ही पूर्ण मानता है। उसकी दृष्टि में काव्य और कला एक ही कोटि की वस्तुएँ हैं। उसके विचार से सौन्दर्य व्यक्ति-कल्पना की वस्तु है। इन विचारों से स्पष्ट है कि अभिव्यंजनावादी मत के अनुसार कवि या कलाकार अपने अन्तर्जगत् की वस्तु को प्रकाशित करता है, वाह्य वस्तु को नहीं। उसके समक्ष यथार्थ का महत्व अन्तर्भावना को प्रभावित करने में ही है।

अभिव्यंजनावाद के अनुसार सौन्दर्य की सृष्टि अन्तस् में ही होती है। दूसरे लोग भी उसी वस्तु को सुन्दर मानते हैं जिसमें उनकी अन्तर्भावनाएँ अभिव्यंजित की की गयी हों। इस दृष्टिकोण के अनुसार कलाकृति के लिए प्रत्येक वस्तु उपयुक्त है, उसके अच्छे और बुरे होने का प्रश्न नहीं।

यह अभिव्यंजनावाद का संक्षिप्त विवरण है जिसकी विशेषता वैयक्तिकता में निहित है। इसमें अनेक ऐसी बातें हैं जो सर्वमान्य नहीं हो सकतीं और जिन पर आपत्ति उठायी गयी है। फिर भी इस अभिव्यंजनावाद का अपना महत्व है और इसके आधार पर कलावाद और काव्य में व्यक्तिवाद के विकास को बड़ा बल मिला।

अस्तित्ववाद[1]

एफ० एच० हेनेमन्न ने अपनी पुस्तक (Existetialism and the modern Preadiement P. I) में 'अस्तित्व' शब्द की व्याख्या की तथा उसे बुद्धिवादी और अनैतिक दर्शन के रूप में स्वीकार किया है। यह डेकार्ट के (मैं अस्तित्ववान हूँ) वाक्य से प्रारम्भ होता है। तथा मनुष्य, ब्रह्माण्ड और ब्रह्म को अपना विषय बनाता है। व्यक्ति वास्तव में इन तीनों पर आश्रित है पर स्वयं ब्रह्माण्ड, इतिहास और जीव-जगत की व्याखया करने वाला भी है। इसी कारण विद्वानों ने इसे एक आत्मोन्मुखी और असामाजिक दर्शन की संज्ञा दी है, आधुनिक व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का यह प्रबल प्रेरणा स्रोत रहा है।

अस्तित्ववादी विचारकों में आस्तिक और नास्तिक प्रकार के वर्ग मिलते हैं। कार्ल यास्पर्स, गेब्रियल मार्सल और सोसेन कीर्केगार्ड प्रथम वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा हेडेगर और सात्र द्वितीय बर्ग में आते हैं। प्रथम वर्ग के स्तम्भ कीर्केगार्ड ने अपने ग्रन्थ 'कन्क्लूडिंग अनसाइन्टिफिक पोस्ट स्क्रिप्ट्स (१९६४) में सर्वप्रथम 'अस्तित्व' की अर्थ पूर्ण ध्वनि प्रस्तुत की। हीगेल ने सिद्ध किया था कि विश्व एक सुनिश्चित और सुनियोजित चेतनात्मक व्यवस्था है और सत्य ही ज्ञान है तथा ज्ञान ही सत्य है। कीर्केगार्ड ने इसे भ्रममूलक सिद्ध किया और अपने विचारों में स्पष्ट किया कि यदि विश्व को एक सोद्देश्य व्यवस्था भी स्वीकार कर लिया जाय तो

१. डॉ० बलभद्र तिवारी--आधुनिक साहित्य की व्यक्तिवादी भूमिका के आधार पर

उसकी विकास प्रक्रिया का ज्ञान केवल ईश्वर को ही हो सकता है, हीगेल अथवा उसके पाठकों को नहीं। उसके अनुसार व्यक्ति अपने सर्वोत्तम के प्रति सम्भाव्य कर्त्ता है, उसका अलौकिकता से प्रमाण पाना अथवा अपने स्थान की जानकारी का कार्य महत्वपूर्ण नहीं है। इस प्रकार, वह सत्य को आत्मपरक बना देता है, धर्म आन्तरिक निर्वाचन का कार्य हो जाता है जिसमें अन्ध श्रद्धा आक्षिप्त है। तथा कला विज्ञान एवं इतिहास मानव जीवन से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है यहाँ पर स्पष्ट होता है कि मनुष्य ही सर्वोपरि और 'चरम परम' है। कार्ल यास्पर्स ने अपनी रचनाओं में अस्तित्ववादी दर्शन की समग्र विकासपूर्ण तथ्य योजना के सन्तोषदायक विवरण एवं जीवन्त विश्लेषण की नियोजना की। उसका विचार था कि हीगेल के समान तत्त्व चिन्तन का समय बीत चुका है। यदि व्यक्तिवादिता समाप्त हो सकती है तो टेक्नोलॉजीकल समाज के विशिष्ट संगठन से ही, जो अधिकाधिक मनुष्य के लिए सन्तोष से एक विशेष वर्गीकृत स्तर का निर्माण करता है। कीर्केगार्ड ने प्राकृतिक विद्वानों की उपेक्षा की परन्तु यास्पर्स ने अपनी पुस्तक 'मैंन इन मार्डन एज' में ज्ञान के अगम अनन्त क्षेत्रों के अनुसन्धान का प्रतिपादन किया है। भले ही उसे इस कार्य में नैतिक निर्णयों से पलायन करके कार्यरत होना पड़े यास्पर्स ने ईश्वर को अति लौकिक माना है और इसी सन्दर्भ में मनुष्य के अपूर्ण ज्ञान और सीमित शक्तियों के क्षेत्र को एक अज्ञेय, ज्ञानातीत अनन्त शक्तिपूर्ण अस्तित्व को उद्गम संकेत स्वीकार किया गया है। हमारी स्वतन्त्रता भी वस्तुपरक सन्तों के तर्कों से समर्पित नहीं है। स्वतन्त्रता को इस प्रकार वस्तुसत्ता का गुण नहीं माना गया है।

इस दर्शन को हेडेगर ने अधिक प्रसार दिया। उसके अनुसार मनुष्य एक क्रूर नियति द्वारा अनुशासित सहानुभूतिहीन जगत् में अपने लक्ष्यों के प्रति उद्योगशील है, उसकी स्थिति करुण प्राणी की है क्योंकि उसकी उपलब्धियों को मृत्यु अचानक नष्ट कर देती है। कीर्केगार्ड की व्याख्याओं को विस्तृत भूमि पर हेडेगार ने प्रस्तुत किया। इन्हीं की परम्परा के ग्रेब्रियल मार्सेल हैं जो मनुष्य को किसी धारणा के अनुसार वर्गीकृत करना उपयुक्त नहीं समझते हैं।

स्वतन्त्रता के व्यापक और सूक्ष्म विश्लेषक के रूप में ज्यॉपाल सार्त्र (१९०५) अस्तित्ववादी दर्शन के प्रमुख विचारक हैं। इनकी मान्यता है कि चेतना स्वतः सम्पूर्ण और सत्ता भी स्वतः सम्पूर्ण है, इन दो रूपों के विश्लेषण से सार्त्र निष्कर्ष निकालता है कि "वीइंग एज बीइंग इज दैट बीइंग इज नथिंग" 'अस्तित्व वह स्थिति है जो वस्तुहीन है।" चेतना वस्तु सत्ता का अनुभव स्वयं से भिन्न स्थिति में 'स्व' से भिन्न की अनुभूति के रूप में करती है। उसे निष्क्रिय दर्पण नहीं माना जा सकता। वह वस्तुपरक जगत् के विषय में परिगणित एवं जिज्ञासु भी होती है। वस्तुपरक जगत् के चेतना विषयक आकलन प्रमाणात्मक अथवा निषेधात्मक कुछ भी हो सकते हैं। इस प्रकार अनुभव जगत् की स्थिति द्विध्रुवीय है, जिसमें प्रत्येक ध्रुव की अपनी स्वतन्त्र सता है। चेतना के गुण के कारण ही सार्त्र ने मनुष्य को परम

स्वतन्त्र माना है। यही उसकी प्रमुख सत्ता है। ईश्वर के सम्बन्ध में सार्त्र का अस्तित्ववाद मौन है। इससे निषेध ही का भाव मिलता है। सार्त्र का विचार है कि मनुष्य को उसकी स्वतन्त्रता कहीं से प्रदत्त नहीं है, उसका ज्ञान उसे ही स्वयं होता है।

सार्त्र के अध्ययन में स्वतन्त्रता-सम्बन्धी तीन दृष्टिकोण मिलते हैं :—प्रथम, व्यक्ति में व्यक्ति को केन्द्र बिन्दु मानकर, द्वितीय व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में, तृतीय परिस्थितियों से सम्बन्धित स्थिति में। असन्तोष के माध्यम से व्यक्ति अपने स्वतन्त्र होने का बोध करता है, सन्तोष उसे अस्तित्व से हटाकर सत्ता वर्ग में प्रस्थापित कर देता है। वास्तव में, मानव का ध्येय सत्ता और अस्तित्व के द्वैत को मिटाना है और इसी के लिए वह संघर्ष करता है। यद्यपि दृश्यमान जगत् में परिस्थितियाँ व्यक्ति को शासित करती प्रतीत होती हैं परन्तु उसकी स्वतन्त्रता फिर भी अविभाजित रहती है। मनुष्य के जीवन का मूल्यांकन उसके संकल्पात्मक निर्णयों एवं कार्यों के प्रतिमान पर होता है आकस्मिक, अचूक एवं स्वेच्छाचारी घटनाओं की स्वीकृति अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने दी है। कार्ल यास्पर्स ने निरंकुश स्थितियों से इन्हें नामांकित किया है। सार्त्र ने एक अन्य स्थल पर कहा है कि व्यक्ति के निर्णय का अर्थ समस्त मानवता का निर्णय होता है क्योंकि अपने निर्णयों द्वारा व्यक्ति एक विशिष्ट मानसिक मानव व्यक्तित्व के आदर्श को मूर्तरूप में समाज के समक्ष अपने संकल्पात्मक समर्थन द्वारा प्रस्तुत करता है। धर्म सम्प्रदाय विशेष के अन्तर्गत यदि जन्म लेकर व्यक्ति धर्म की अवहेलना करे और उससे मुक्ति का प्रस्ताव करे तो निश्चय ही समस्त मानवता की ओर से वह विशेष निर्णय कर रहा है। इस प्रकार व्यक्ति अपने और समष्टि के प्रति अभीप्सित आकांक्षाओंमय आदर्श को प्रस्तुत कर उत्तरदायित्व निभाता है। सार्त्र यहीं पर कहते हैं कि हमारे निर्णय सदैव ही अपेक्षाकृत शुभ होते हैं और ऐसा कोई निर्णय हमारे लिए शुभ नहीं हो सकता जो मानव मात्र के लिए शुभ सिद्ध न हो। इन्हीं विचारों को केन्द्र में रखकर सार्त्र ने अपने उपन्यासों नॉशिया, रे प्रीव, रोड टु फ्रीडम, तथा नाटकों में क्राइम पैशनल, दी फ्लाइज, इनकेमेरा, का निर्माण किया है। इनमें बर्बर, कायर, नपुंसक और अधम नायकों तथा पात्रों की सृष्टि की है।

वास्तविकता यह है कि सार्त्र और उनके सहयोगियों ने इस दार्शनिक विचार-धारा में युद्धोपरान्त नैराश्य, धार्मिक आधारहीनता बुद्धिवाद की अजीर्ण यांत्रिक सभ्यता एवं ह्रासोन्मुख संस्कृति तथा जीवन के निष्क्रिय विकलांग रूप की प्रतिक्रिया विशेष है। इसीलिए कतिपय समीक्षकों ने घोर व्यक्तिवादिता से पूर्ण साहित्य को आस्थाहीन, अतिवादपूर्ण और निराशावादी घोषित किया। इस वाद की दार्शनिक, सामाजिक और साहित्यिक भूमियों पर भी कड़ी आलोचना हुई। मूल संदेश के रूप में अस्तित्ववादी दर्शन का मानवता को केवल एक प्रदेय है अस्तित्ववाद कर्म को अस्तित्व का सर्वश्रेठ तत्व मानता है, जिसके द्वारा जीवन की समस्त व्यर्थवादिता एवं

अर्थ शून्यता को उद्देश्य, आदर्श—प्रयोजन एवं अर्थों से महिमा मण्डित किया जा सकता है। हिन्दी काव्य में आत्मोन्मुखता, व्यक्तिवादिता, क्षणवादी आग्रह तथा मानववाद के आवरण में मनुष्य के स्वातन्त्र्य तथा उसके अपने निर्णय विवेक की की महत्ता का प्रतिवादन—ये सारे तत्व इसी दर्शन के प्रभाव से आये थे।

बिम्बवाद[1]

काव्य का मुख्य व्यापार बिम्ब रचना है। इसके द्वारा कवि वस्तु, घटना, व्यापार, गुण, विशेषता, विचार आदि साकार तथा निराकार पदार्थों और मानस-क्रियाओं को प्रत्यक्ष और इन्द्रिय ग्राह्य बनाता है। काव्य और अन्य शास्त्रों में यहीं पर भिन्नता परिलक्षित होती है। जेम्स आर०, क्रेउजर ने अपने ग्रंथ एलीमेण्ट्स ऑव पोइट्री' में स्पष्ट किया है कि बिम्ब किसी अप्रस्तुत वस्तु का मानसिक या काल्पनिक रूप है। काव्य में सदैव ही अप्रस्तुत वस्तुओं का कल्पनागत वर्णन किया जाता है, उसमें होने वाली रूप सृष्टि को इसी बिम्ब योजना की क्रिया कह सकते हैं। इस प्रकार बिम्बवाद का यह आग्रह है कि बिम्ब योजना काव्य का प्रधान व्यापार होने से, काव्य की कसौटी इसी के आधार पर बननी चाहिए। हम कह सकते हैं कि काव्य के प्रसंग में किसी भाव या विचार को तथा किसी वस्तु, व्यक्ति या पदार्थ की विशेषताओं या रूपगुणों को इन्द्रिय गोचर एवं हृदयंगम बनाने के हेतु जो संप्रेषक स्पष्ट अप्रस्तुत रूप योजना की प्रणाली अपनायी जाती है वह बिम्बवाद है।

बिम्ब योजना के व्यापार निम्नलिखित प्रकारों में देखे जा सकते हैं :—

(अ) काव्यार्थ को पूर्णतया स्पष्ट करना— वास्तव में गूढ़, दुरूह विचारों को समझाने के लिए यदि अप्रस्तुत वस्तुओं को प्रस्तुत कर उसके माध्यम से स्पष्ट किया जाये तो कवि अपने सूक्ष्म से सूक्ष्म विचारों को समझा सकते हैं। इस निमित्त बिम्ब सृष्टि आवश्यक होती है। जयशंकर प्रसाद ने जीवन में सुख-दुख दोनों की सहस्थिति को निम्नलिखित बिम्ब द्वारा बहुत ही सुन्दर ढंग से समझाया है—

"लिपटे सोते थे मन में सुख-दुख दोनों ही ऐसे।
चन्द्रिका अँधेरी मिलती मालती कुंज में जैसे।" (आँसू)

(ब) भाव को संप्रेषित और उत्तेजित करना—अपने अन्तरतम की तीव्र अनुभूति को संप्रेषित करने की स्थिति में कवि बिम्ब का विधान करता है। यदि बिम्ब निर्माण सफल होता है तो वह अपने भावों से दूसरों को भी आक्रान्त कर देता है। इस संदर्भ में कबीर की पंक्तियाँ विशेष महत्व की हैं :—

कबिरा खड़ा बजार में, लिये लुकाठा हाथ।
जो घर जालै आपना, चलै हमारे साथ॥

यहाँ आध्यात्मिक साधना के निमित्त निर्वेद को तीव्र करने में ये पंक्तियाँ अधिक सहायक हैं। लुकाठा की कल्पना अपने आप में महान है।

---

१. डॉ० भगीरथ मिश्र—'काव्यशास्त्र' के आधार पर

(स) वस्तु या घटना को प्रत्यक्ष कराना—यह बिम्व योजना का एक सहज रूप है। इस प्रक्रिया के द्वारा किसी चरित्र के व्यक्तित्व की रेखाओं को अथवा किसी घटना के वातावरण को प्रत्यक्ष कराने में कवि सफल होता है। वन तन और आँखों का प्रत्यक्षीकरण गिरिजाकुमार माथुर के इस बिम्ब में कितना सुन्दर बन पड़ा है :—

आज हैं केसर रँगे बन,
रंजिन शाम भी फागुन की खिली पीली-कली सी,
केसर के बसनों में छिपा तन,
सोने की छाँह सा,
बोलती आँखों में
पहिले वसन्त के फूल का रंग है।

(३)—रूप, सौन्दर्य या गुण को हृदयंगम बनाना—प्राचीन काव्य में इसका विपुलता से प्रयोग हुआ है। नव्य बिम्ब विधान में भी इसे महत्व है—

लज्जा के गुण का चित्रण प्रसाद की इन पंक्तियों में अतीव सजीवता लिये है।

कोमल किशोर सुन्दरता की मैं करती रहती रखवाली।
मैं वह हल्की सी मसलन हूँ जो बनती कानों की लाली। (कामायनी)

बिम्ब की विशेषता को प्रमुखतः मानसिक या ऐन्द्रिक किन्तु काल्पनिक अनुभूति के रूप में देखा जाता है। अनुभूति के अन्तर्गत इस प्रकार दृश्य, श्रव्य, घ्राण, स्वाद्य, स्पर्श्य आदि बिम्बों का समावेश किया जा सकता है।

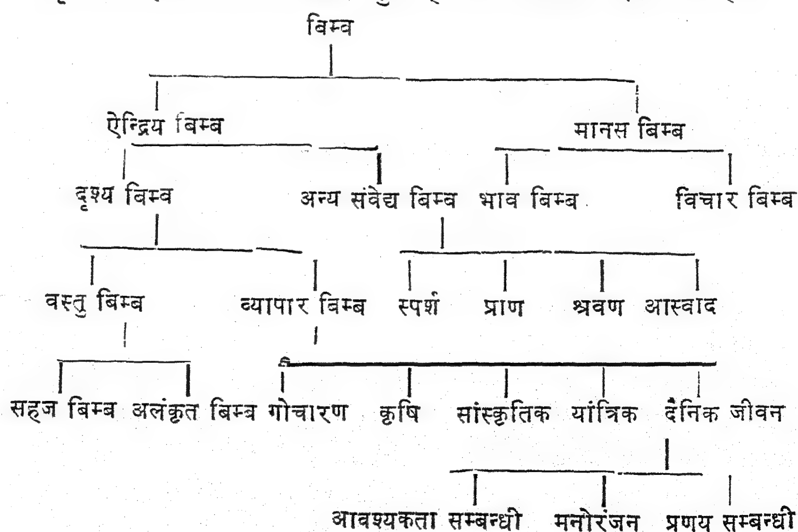
बिम्बवाद : एक आन्दोलन

जिन काव्यधाराओं ने रोमाण्टिक काव्यधारा का विरोध किया था उनमें 'बिम्बवाद' का नाम सर्वप्रथम है। इसे दार्शनिक आधार देने का श्रेय टी० ई० ह्यूल्मे को दिया जाता है। इन्होंने काव्य में नये रूपों और नवीन भावों का विशेष समर्थन करते हुए उसे सप्राण बनाये रखने का उद्देश्य साधा था। अमेरिका के प्रसिद्ध कवि एजरा पाउंड ने ह्यूल्मे के इस बिम्ववाद को सर्वाधिक समर्थन दिया। जहाँ केवल इमैजिज़्म की बात की जाती है वहाँ पर बिम्बवाद एक सांकेतिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और अधिकांश में इंग्लैंड और अमेरिका के काव्य सम्बन्धी आन्दोलन का निर्देश मिलता है। यह आन्दोलन १९१० से १९१८ तक अपने उन्मेष में रहा और इसने विश्व की अनेक काव्य-धाराओं को प्रभावित किया। पाउण्ड ने एक कविता संग्रह "देजिमजिस्ते" को सन् १९१४ में केवल इस आन्दोलन के समर्थन में प्रकाशित किया था और इसमें रिचर्ड आल्डिंगटन, हिल्डा डूलिटिल, आमी लाँवेज तथा अपनी कवितायें रखी थीं। सन् १९१५-१६-१७ में आल्डिंगटन और लाँवेल ने "सम इमैजिस्ट पोएट्स" नामक तीन कविता संग्रह निकाले। इनके प्रमुख कवि एफ० एस० फ्लिंट, डी० एच० लारेन्स, जॉन गूल्ड फ्लेचर थे। इन संग्रहों की भूमिका में आन्दोलन सम्बन्धी ६ सूत्री सिद्धान्त भी प्रकाशित हुए—

(१) अत्यलंकरण और अतिरंजन से भिन्न साधारण भाषा का सही और शुद्ध प्रयोग

(२) नियन्त्रित छन्दों और विविध लयों का नये चमत्कारों के साथ उपयोग
(३) विषयों की विविधता और उसके चुनाव में स्वतन्त्रता
(४) बिम्बों का निर्बन्ध उपयोग
(५) कविता की प्रभावान्विति में स्पष्टता और शक्ति
(६) भाव सघनता द्वारा प्रभाव का केन्द्रीकरण।

इस प्रकार इन सूत्रों को केन्द्र में रखकर काव्य रचना की गई। बिम्बवाद के प्रवर्त्तक में एजरा पाउण्ड और ह्यूल्मे के साथ आर्नो होल्स के 'फ्रान्तासस' का नाम भी लिया जाता है। कार्ल सैण्डवर्ग नामक अमरीकी कवि ने अपनी प्रसिद्ध कविता "लेटर्स टू डेड इमेजिस्ट्स' में एमिली डिकिन्सन और स्टीफ़ेन केन की भी चर्चा है। सैण्डवर्ग एक बिम्बवादी कवि है। यह आन्दोलन दीर्घकालीन न हो सका क्योंकि इसमें कवियों को सबसे अधिक वैयक्तिक होना पड़ा है। वे समाज के प्रति उपेक्षाशील नहीं रह सकते, साथ ही अत्यधिक आत्मवादी होने से शैली सबको ग्राह्य न हो सकी और बीसवीं शताब्दी का दूसरा दशक ही इसे अपना सका। टी० एस० ईलियट प्रारंभिक समय में इसमें सम्मिलित हुआ परन्तु बाद में पाउण्ड के साथ वह भी अलग हो गया। यह धारावाद में पाउण्ड के साथ वह भी अलग हो गया। यह धारा बाद में भी प्रवहमान रही है। इसके परवर्ती कवियों में कॉनराड ऑरकेन, मेरियनमूर, वालेस स्टीवेन्स और लारेन्स के नाम प्रमुख हैं शिल्प शैली के क्षेत्र में इस काव्य धारा ने महान प्रभाव डाला। हिन्दी के आधुनिकतम कवियों में अज्ञेय, शमशेर, गिरजा-कुमार माथुर आदि इससे विशेष प्रभावित हैं, भले ही बिम्बों की कल्पना और योजना उनकी अपनी है। इस प्रकार यह आन्दोलन बीसवीं शती के प्रथम दो दशकों की अन्यतम स्मृति देता है। बिम्ब के दो प्रकार मुख्य हैं और उनके प्रभेद इस प्रकार हैं—



प्रमुख बिम्बों के उदाहरण इस प्रकार हैं :—

(१) दृश्य बिम्ब— साँझ सिन्दूरी
सुनहली पहनकर साड़ी लहरिया
लगे जिसमें रूपहरे गोटे
बुलाती है क्षितिज पर
झुटपुटे में चाँद को —जानकी बल्लभ शास्त्री

(२) भाव बिम्ब— धुले आकाश में यह चाँदनी छाई।
किसी को स्वप्न में जैसे हँसी आई ?

× × ×

धरा भीगी हुई, हँसते हुए तारे
कि रोती-सी किसी की आँख मुसकाई।—शम्भूनाथ सिंह

(३) व्यापार बिम्ब— स्वर्ण प्रसू-भू कृषक से रहे हैं दाने दाने को,
श्रमिक नारियाँ देह दिखातीं देह छिपा पाने को !
युवती माँ की सूखी छाती चूस शान्त शिशु होता
देता फाड़ कलेजा धरती, आसमान है रोता।
—जानकी वल्लभ शास्त्री

(४) विचार बिम्ब— किरण मर जायेगी
प्यार की नीहार, बँद झर जाएगी
मेरे माया लोक की विभूति बिखर जायेगी
इसी बीच किरण मर जायेगी। —अज्ञेय

कुल मिलाकर, बिम्बों के सम्बन्ध में आधुनिक काव्यधारा अत्यन्त समृद्ध है। अत्याधुनिक कवियों और गीतकारों ने प्रायः सभी प्रकार के बिम्बों का प्रयोग किया है। इनको कतिपय आचार्यों ने रूप, भाव और क्रिया बिम्बों में भी वर्गीकृत किया है। बिम्ब विधान इस प्रकार आधुनिक काव्य की प्रमुख विशेषता है।

अतियथार्थवाद[1]

फ्रायड के स्वप्न-सिद्धान्त से प्रभावित होकर स्वच्छन्दतावाद के अवसान काल में अचेतन में बसने वाले अतीन्द्रिय यथार्थ की अभिव्यक्ति को उत्तम साधन मानकर अति-यथार्थवाद की धारा चली थी। फ्रायड ने मन के दो स्तर माने हैं चेतन और अवचेतन। इन विचारकों ने अपना केन्द्रीकरण अवचेतन पर किया। प्रथम महासमर के उपरान्त अनेक ऐसी स्थितियाँ बन गई थीं जो कि कवियों को क्षुब्ध करने वाली थीं। बाह्य यथार्थ की कटुता से ऊब कर इन कलाकारों ने अवचेतन में आश्रय लिया और वहाँ की गई अतीन्द्रिय यथार्थ अभिव्यक्ति को साहित्य

१. डॉ० भगीरथ मिश्र एवं डॉ० बलभद्र तिवारी—'आधुनिक हिन्दी काव्य के आधार पर।

या कला का लक्ष्य मानकर स्वप्न, कला और साहित्य को एक भूमि पर ला खड़ा किया। फ्रायड ने यह प्रस्थापना की थी कि अवचेतन अनेक दमित और वर्जित कुंठित वृत्तियों का आगार है जिनका नियन्त्रण बुद्धि से परे है और जो विश्रृंखल और असंगत मानसिक गतिविधियों को प्रोत्साहित करती हैं, कलाकारों ने अपनी कृत्तियों में उन्हीं को प्रतीक रूप अथवा सहज रूप में पर बिना किसी नियन्त्रण के प्रस्तुत किया। प्रकृत लेखन के माध्यम से इन्हीं यथार्थ-विकृत यथार्थ की स्थितियों को कलाकार ने चित्रित करना शुरू किया। इसके आदि प्रवर्त्तक फ्रान्स के आंद्रे ब्रेतां और पाल एलुअर्ड थे।

यह आन्दोलन वास्तव में कला के एक नये रूप में आयोजित नहीं किया गया था। साथ ही अतियथार्थवादी कला की आकृति रुग्ण होने के कारण अधिक समय तक इस वाद का जोर नहीं रहा। इस वाद का प्रादुर्भाव १९२० के आस पास हुआ था। परन्तु इसका नेतृत्व चार्ल्स बौदलेयर ने किया था। इस प्रवृत्ति के उदाहरण सबसे पहले लांत्रीमान, रिम्बो और मेलार्मे के ग्रन्थों में मिलते हैं। अतियथार्थवादियों के उद्देश्य और सिद्धान्त सन् १९२४ के घोषणापत्रों में आंद्रे ब्रेतां द्वारा प्रस्तुत किये गये थे।

अतियथार्थवादी प्रवृत्तियाँ कला और काव्य में फ्रान्स में प्रभूत मात्रा में रहीं। उसके प्रकृत लेखन (automatic writing) के सम्बन्ध में पश्चिम के अनेक विचारकों में भ्रांतियाँ रही, पर सबकी दृष्टि स्वचालित लेखन पर ही थी। इससे एक और लोक तत्व का इतना अधिक समावेश हुआ कि वैयक्तिक स्तर पर दोनों का सामंजस्य नहीं हो पाया। यह वाद अत्यधिक अव्यवस्थित रहा और अल्पकालीन इस वाद के माध्यम से स्वतन्त्रता का आधिक्य, नियन्त्रण का विरोध, व्यवस्था का अभाव, क्रम-बद्धता के प्रति विद्रोह आदि का काव्य के क्षेत्र में समर्थन किया गया है। हिन्दी के छायावादोत्तर काव्य में विशेषकर 'प्रपद्यवादी' कविता पर इसका विशेष प्रभाव है, जिसका अवसान भी अतियथार्थ के समान अल्पकाल में हो जाता है।

मनोविश्लेषणवाद[1]

विचार जगत् में जिस प्रकार न्यूटन, कोपरनिकस, आईन्स्टाइन और मार्क्स के सिद्धान्तों का व्यापक प्रसार हुआ उसी प्रकार मनोविश्लेषण का सिद्धान्त भी क्रान्तिकारी परिवर्तन लेकर आया। इसने कला के क्षेत्र में 'दादावाद' और अतियथार्थ-वाद जैसे आन्दोलनों को प्रेरित भी किया। नैतिकता और उसके प्रतिमानों पर नया प्रकाश डाला। साहित्य में भी इसका प्रभूत मात्रा में प्रभाव पड़ा। मनोविश्लेषण के जन्मदाता फ्रायड थे इसलिए उस सिद्धान्त का बोध उन्हीं के नाम से होता है एडलर और युग ने फ्रायड के 'कामवृत्ति' (लिबडो) तथ्य को उतना महत्व नहीं दिया है जितना अहम् को। इसी प्रकार युंग ने फ्रायड के इस सिद्धान्त में कि 'जीवन की

१ डॉ० भगीरथ मिश्र एवं डॉ० बलभद्र तिवारी—'आधुनिक हिन्दी काव्य' के आधार पर।

प्रमुख प्रेरक शक्ति 'काम' है' व्यापक संशोधन किया। इस प्रकार मनोविश्लेषण का सिद्धान्त उत्तरोत्तर व्यापक भूमि पर प्रस्तुत किया गया। प्रत्येक के सिद्धान्त को संक्षेप में समझना आवश्यक है :—

फ्रायड ने यह प्रतिवादित किया कि मानस में अधिकांश में अवचेतना और अल्पांश में चेतना है। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों का कोष अवचेतन है। अवचेतन की वृत्तियाँ अबाध तोष की ओर उन्मुख रहती हैं। समाज और संस्कृति का प्रभाव चेतन मन पर पड़ता है। अतः वह इन्हीं वृत्तियों का दमन करता है क्योंकि इनके अबाध तोष में असामाजिक और संस्कृतिहीनता का प्रश्न उठता है। फ्रायड ने इन वृत्तियों को काम-मूलक माना है। अतृप्त कामवासनाओं का यदि दमन किया जाता है तो वे मरती नहीं हैं बल्कि 'अचेतन' में जाकर संगृहीत हो जाती हैं और उस अवसर की ताक में रहती है जबकि वे अपना अबाध परितोष पा सकती हैं। मनुष्य को इन प्रवृत्तियों का कोई ज्ञान नहीं रहता है परन्तु ये तिरस्कृत प्रवृत्तियाँ अपने लक्ष्य साधन का अवसर देखती हैं। किन्हीं-किन्हीं माध्यमों से इनका उदात्तीकरण भी हो जाता है जिसमें ये प्रवृत्तियाँ अपना पूर्व निर्धारित लक्ष्य त्यागकर किसी कल्याणकारी मार्ग का अनुसरण करती हैं। काव्य में भी यही होता है। यह कल्याणकारी मार्ग समाज और संस्कृति के अनुकूल होता है। अतः इस मार्ग पर वे असामाजिकता से हटकर सामाजिक परिवृत्त में प्रवेश कर जाती हैं। परन्तु ऐसा कम ही होता है। अनेक प्रवृत्तियाँ उदात्तीकरण का अवसर नहीं पाती। वे दमित होकर विभिन्न विकृतियों और मनोव्याधियों के रूप में प्रकट होती हैं। इस समय भी इन प्रवृत्तियों में एक भय विद्यमान रहता है कि वे चेतना द्वारा पुनः तिरस्कृत न कर दी जाएँ। मनोव्याधि, स्वप्न, दिवा-स्वप्न और साहित्य सब अतृप्त कामवासनाओं के ही छद्म रूप हैं। सबका एक ही आधार है उनमें कोई तात्विक भेद नहीं हैं। मनोव्याधिग्रस्त व्यक्ति की कुंठाएँ ऐसी विकृतियों और शारीरिक लक्षणों के रूप में प्रकट होती हैं जिनका अर्थ गहरे विश्लेषण के बिना नहीं समझा जा सकता। उनकी समस्त प्रतिक्रियाएँ अयथार्थमूलक और असाधारण होती हैं। फ्रायड ने कलाकार अथवा साहित्यकार की स्थिति विशेष मानी है वह अपनी कुण्ठा से उद्भूत कल्पनामय तृप्तियों को ऐसा छद्म रूप देता है जिससे उसकी समस्त कल्पनायें समाज के समक्ष आ जाती हैं। इसे सम्पन्न करने में कलाकार जिस योग्यता से कार्य करता है वह उसकी प्रतिमा है—उसकी सृजनशीलता का रहस्य है। साथ ही इन कुण्ठाओं को सुन्दर-सुन्दर बदले हुए वेश में प्रकाशित करने से कलात्मक उदात्तीकरण होता है। साहित्य में अथवा कलाकृतियों में यही कुण्ठाएँ परिवर्तित वेश में प्रस्तुत हैं, इसे कलात्मक 'रूप' की संज्ञा दी गई है। स्वप्न के सम्बन्ध में भी फ्रायड ने इसी प्रकार के तर्क दिये हैं।

एडलर ने मनोविज्ञान में 'लिबिडो' अथवा कामवृत्ति का उतना महत्व नहीं माना जितना अहम् का। उनका मत है कि फ्रायड कामवृत्ति को अनावश्यक महत्व

देते हैं, मानसिक स्नायविक रोगों का मूल कारण कामवृत्ति के अतिरिक्त अहं की माँग भी हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति 'अहं स्थापना' की स्वाभाविक मूल प्रवृत्ति से युक्त होता है। इस अहं स्थापन की इच्छा और जीवन के यथार्थ का विरोध ही मानसिक जीवन की मुख्य समस्या है। यह इच्छा जीवन के तीन क्षेत्रों में व्यक्त होती है— समाज, व्यवसाय और विवाह। संक्षेप में, एडलर ने आत्मस्थापन की प्रवृत्ति को प्रमुखता दी है। जब व्यक्ति यथार्थ के प्रति संघर्ष में अपनी वृत्ति को सन्तोष नहीं दे पाता है तो उसमें हीनता का भाव विकसित हो जाता है। इस भावना से मुक्ति पाने के लिए व्यक्ति प्रयत्न करता है, इसका दमन करता है। कुछ व्यक्ति इससे अत्यधिक गर्व की स्थिति में आ जाते हैं जो वास्तव में हीनता से जन्य कुण्ठा का कपट रूप है। व्यक्ति तब इससे बचने की दिशा में सरल साधन खोजता है उनमें पारिवारिक वातावरण में 'जीवन शैली' को महत्व दिया गया है। एडलर का मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त दूसरे धरातल पर है और फ्रायड की भाँति साहित्य को अधिक प्रभावित नहीं करता।

युंग ने मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों में कुछ सुधार करके अपना मत दिया है। वह 'लिबिडो' शब्द का अर्थ 'काम' तक सीमित न करके उसे विस्तृत व्याप्ति देता है इसमें युंग के अनुसार फ्रायड की 'कामवृत्ति' और एडलर की 'आत्मस्थापन' की वृत्ति भी समाविष्ट है। वह उसे जीवन की प्रारम्भिक एवं सामान्य प्रेरक शक्ति मानते हैं जो मानव के सभी व्यवहारों में व्यक्त होती है। यह शक्ति जीवन-शक्ति या मनः शक्ति कही जा सकती है। इसे मूल शक्ति बनाकर युंग इसका विकास, क्रिया तथा जनन तीनों लक्ष्यों में व्यक्त होना सिद्ध करता है। युंग की विशेषता यह है कि वह वर्तमान को फ्रायड की भांति अतीत की दृष्टि से न देखकर भविष्य की दृष्टि से देखते हैं। व्यक्तित्व के प्रकारों की चर्चा करते हुए युंग ने अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दो विभाजन किए और इनसे व्यक्ति के समाज परक या व्यक्ति परक होने का लक्षण, बताया। इन सबको उपचार देने के निमित्त 'मुक्त आसंग' पद्धति का प्रयोग उत्तम बताया गया है। मनोविश्लेषण सम्बन्धी विचारकों का हिन्दी काव्य और कथा साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा है।

———

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
भूमिका ६	वाद	वाद
८.	काव्यम	काव्यम्
१०.	आनन्द वर्धन	आनंदवर्धन
१७.	फल :	फलत:
१७.	पदभेद	पद्यभेद
१७.	महात्माअ	महात्माओं
२१.	एबर क्रॉम्बी	एबरक्रॉम्बी
२२.	प्रतिभान्विति	प्रभावान्विति
२२.	जीवन्ता	जीवन्तता
२३.	प्रेम	प्रेमी
२८.	पत्रवली	पत्रावली
२९.	प्रगति	प्रगीत
३२.	आत्ममात	आत्मसात्
३३.	अनुशान	अनुशासन
३५.	रामन	रामना
३९.	कूटज	कुटज
४९.	तालब्य	तालव्य
५१.	जव	जब
५५.	कंजो	कंजों
५५.	अवनतभुवी	अवनतमुखी
५७.	अवर्ष्य	अवर्ण्य
६२.	षष्ट	षष्ठ
६४.	तजों	तजो
६६.	वारिस्त्रावी	वारिस्रावी
६८.	हरषाही	हरषाँहि
६८.	रूपी	रुपी
७०.	मनोज्ञाता	मनोज्ञता
७०.	स्वाभावोक्ति	स्वभावोक्ति
७१.	देखेने	देखने
७६.	साधारणीकरण	साधारणी करण
७७.	स्वारसिका	स्वरसिका
८१.	मोंहि	मोहि
८३.	भागीरथ	भगीरथ
८६.	मोंकहूँ	मोकहँ
८८.	वैदर्भि	वैदर्भी
८८.	गौडी	गौड़ी
८९.	'शक्ति पूजा	शक्तिपूजा
९०.	माधवी	मागधी
९२.	आचार	आधार
९४.	आनन्द वर्धन	आनंदवर्धन
९५.	अथ	अर्थ
९६.	शालिता	शीलता
१०६.	एक को	एक के
१०७.	कैंप	कंप
११०.	षष्टम	षष्ठ
११३.	विहग	विहंग
१२३.	वृत्यौचित्य	वृत्त्यौचित्य
१३०.	मुत्तिवाद	मुक्तिवाद
१४०.	नवम्	नवम
१४१.	अर्थ बोध	अर्थबोध

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
१४६.	सम्बधन्ता	सम्बन्धता	१५५.	विस्कंभ	विष्कंभ
१४६.	अनभिहित वाच्यव	अनिभिहित वाच्यत्व	१५६.	युद्धोद्धृत	युद्धोद्धत
			१५६.	प्रेंक्षक	प्रेक्षक
१४७.	संमासता	समासता	१५९.	व्यवहारिक	व्यावहारिक
१४७.	भिखारीदस	भिखारीदास	१७१.	भागीरथ	भगीरथ
१४९.	ढ़िगौ	ढिगौ	१८१.	नराला	निराला
१५३.	दसम्	दशम	१८७.	सप्तमः	सप्तक
१५५.	जिसम	जिसमें	१९१.	भरगीथ	भगीरथ
१५५.	व्योयग	व्यायोग			